पातित्यपेटिका



डॉ. कमलाकान्तत्रिपाठी

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पूज्यपाद श्रीमत् प्रो० वशिष्ठ त्रिपाठि —
महोदयानां करकमलयोः सादरमुपायनीकरोति —

2.5

— कमलाकान्त त्रिपाठी
05/02/2006

पातित्यपेटिका

ग्रन्थकार

डॉ. कमलाकान्त त्रिपाठी

अध्यक्ष, मीमांसा-विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक

डॉ. हरिप्रसाद द्विवेदी

प्रचार-मन्त्री

भारतीय आर्यमर्यादा विज्ञान समिति

परामर्शदातृमण्डल

डॉ. अनिरुद्ध चौबे

डॉ. विजय कुमार पाण्डेय

श्री आनन्द मोहन बहल

डॉ. दुर्गा प्रसाद मिश्र

पं. रमेश पण्ड्या

प्रकाशक

आर्यमर्यादापीठ

वाराणसी

२००७

पुस्तक प्राप्ति-स्थान

डॉ. कमलाकान्त त्रिपाठी

२४, प्राचीन अध्यापकावास

सं.सं.वि.वि., वाराणसी।

ब्रह्मर्षि-संस्कार-धाम

नडियाद, जनपद - खेड़ा

गुजरात।

कोशलेश सदन, कटरा, अयोध्या

जनपद - फैजाबाद (उ.प्र.) - २२४१२३

प्रथम संस्करण - २००० प्रतियाँ

प्रकाशन वर्ष - वि.सं. २०६३, मकर संक्रान्ति

मूल्य - रू. २००/-

मुद्रक

श्रीजी प्रिण्टर्स

जे. १२/५, नाटी इमली

वाराणसी-221001

फोन न.-0542-2201104

अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु रामानुजाचार्य वेदान्त मार्तण्ड यतीन्द्र-
स्वामिरामनारायणाचार्यकृपापात्र जगद्गुरु रामानुजाचार्य
स्वामी वासुदेवाचार्य जी महाराज 'विद्याभास्कर'
अध्यक्ष
कोसलेस सदन धर्मादाय (ट्रस्ट)

अयोध्या (उ.प्र.) 224123
S.T.D. (05278) 32043, 32443

॥श्रीः॥

प्राणिमात्रसमुद्धारसप्रतिष्ठितविग्रहा।
जयत्युदारतापन्नाऽस्माकं गुरुपरम्परा॥१॥
पद्मामुखाब्जसंरुद्धाऽप्यार्तत्राणविधायिनी।
विष्वक्सेनकृपादृष्टिः प्रपन्नान्तर्विराजताम्॥२॥
श्रौतस्मार्तपदार्थभासनपरा सन्न्यायसम्पद्युता
श्रीनारायणपादपद्मयुगले लोकानशेषानहो।
कर्तुं हर्तुमुरस्तमः शठधियामप्यादरात् सोद्यमा
पातित्यक्षपणाय भातु कमलाकान्तैः कृता पेटिका॥३॥
कल्याणोपचितस्फुटन्नवनवच्छायाभिरामश्रिया
सम्पृक्तैकविचाररत्नखचिताऽपूर्वैव या पेटिका।
सा सत्पात्रकरागता मुहुरहो मोदाय भूयाच्चिरं
मर्यादामखिलाञ्च लातु भगवद्भक्तौ भवेद् भूतलम्॥४॥
श्रीमज्जैमिनितन्त्र आहितमनाः सद्वृत्तसक्तान्तरः
शास्त्रद्विट्कुविचारखण्डनपरोऽस्मत्प्रेयसामग्रणीः।
ग्रन्थैतत्प्रविधायकश्च कमलाकान्तत्रिपाठी सदा
भूयाद् भव्यमनोरथश्चरणयो र्विष्णो र्निबद्धाञ्जलिः॥५॥
भूयोऽप्यस्य विपश्चितः कृतिमहो पातित्यपेटीमिमा-
माशीर्भिः परिपूरयामि सततं सा श्रेयसे प्राणिनाम्।
विष्वक्सेनपदाम्बुजे रतिरिव स्वच्छेव धर्मे मति
र्गोविप्रेषु पुन र्नमस्कृतिरिवादुष्टैव सञ्जायताम्॥६॥

इत्याशिषः

[signature]

श्रीमद्धथियाराममठसिद्धपीठ के आचार्य स्वामिवर्य श्रीमद्भवानीनन्दनयतिजी महाराज के शुभाशीर्वाद

।।हरिः ॐ।।

यह लोक हो या परलोक, दोनों में फल का आधार कर्म ही होता है तथा धर्माधर्म रूप कर्मों का बोध शास्त्र ही कराते हैं। ये कर्म प्राणिमात्र के अधीन होते हैं। फल तो मात्र ईश्वराधीन है। ऐसे फलों के प्रदाता परमात्मा का ही निर्देश है कि कर्तव्याकर्तव्य की व्यवस्था शास्त्रों के ही अधीन है—

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'।

अत एव शास्त्रीय क्रियानुकूल प्रयत्न ही श्रेष्ठ होता है तथा तद्विपरीत प्रयत्न अधम ही कहा जाता है। शास्त्रीयव्यवस्थानुकूल विचारों का मूर्तरूप ही पातित्यपेटिका है। इस ग्रन्थ से सनातनपरम्परानुयायी सद्धर्मपरायण जन गौरव का अनुभव करेंगे। श्री डॉ. कमलाकान्त त्रिपाठी जी के द्वारा प्रणीत मीमांसाप्रधान यह श्लाघनीय कृति है। यह धर्मप्रेमियों को आनन्द देने वाली हो, यही शुभकामना परमात्मा शिव से है।

।। हरिः ॐ ।।

श्रीमद्दत्तात्रेयाय नमः

अनन्तश्रीविभूषित स्वामी विश्वनाथावधूतजीमहाराज
अवधूत-आश्रम, रामनगर, सूरत (गुजरात)

शुभाशंसा

पण्डितप्रवर श्रीकमलाकान्त त्रिपाठी जी के शास्त्रश्रम का फल 'पातित्यपेटिका' ग्रन्थ सभी के लिए शुभदृष्टिप्रदायक हो! हमारे शास्त्र अनादिवर्णों में वर्तमान मानवों की योग्यता के अनुसार ही उनके लिए नि:श्रेयसमार्ग का समाम्नान करते हैं। नि:श्रयसपदार्थ भी शास्त्रैकसमधिगम्य है अत: उसे प्राप्त करने के लिए यथाधिकार शास्त्र जैसी व्यवस्था देते हैं वैसा ही आचरण करने पर उसकी प्राप्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं। इस विषय में मनुष्य की निराधार बुद्धि से लिया गया निर्णय विपरीत फल देने वाला ही हो सकता है। इस प्रकार शास्त्रों के प्रति आदर और तद्बोधित पदार्थों के अनुसार ही आचरण न केवल भारतवासियों का ही, अपि तु भूमण्डल में परिदृश्यमान सारे मानवों का परम कर्तव्य है। आर्यमर्यादापीठ के सत्प्रयास की हम भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

।। सर्वे भवन्तु सुखिनः ।।

विश्वनाथावधूत
जनरल चेअरमेन (पश्चिम)
भारत साधु समाज

• श्रीहरि •

फोन : (का.) : 2540487
: 2540561
(नि.) : 2540481

आनन्द वृन्दावन चैरिटेबल ट्रस्ट

स्वामी श्रीअखण्डानन्द मार्ग • मोतीझील • वृन्दावन-२८११२१ • (मथुरा) • उ.प्र.

• संस्थापक : परमपूज्य अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज •

• अध्यक्ष : पूज्य श्रीस्वामी ओंकारानन्द सरस्वती जी महाराज •

आशीर्वचन

भारतीय आर्यमर्यादाविज्ञानसमिति की स्थापना करके समिति के अध्यक्ष डॉ. पं. कमलाकान्त त्रिपाठी जी मीमांसा शास्त्र के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ सप्रमाण ग्रन्थों की रचना करके एक श्लाघनीय कार्य कर रहे हैं। पातित्यपेटिका ग्रन्थ मीमांसा की अधिकरण शैली में लिखा गया है। त्रयीभ्रष्ट जनों की धर्मव्यवस्था अर्थात् उनका धर्म में पुनरावर्तन कैसे हो? यह तथ्य इस ग्रन्थ में पूर्वोत्तरपक्षों के रूप में निहित है। त्रिपाठी जी के ऊपर महाराजश्री की परम कृपा रही है। हमारे भी ये अत्यन्त अभिन्न हैं।

शास्त्रीयव्यवस्थाप्रतिपादन में ये अग्रसर रहें ऐसी भगवान् से मेरी मङ्गलकामना है।

ओंकारानन्द

श्री मधुसूदनगुरुवे नमः　　　　श्री श्रियै नमः　　　　श्रीमते रामानुजाय नमः

स्वामी कौशलेन्द्र प्रपन्नाचार्य
फलाहारी महाराज
अध्यक्ष

पत्रव्यवहार का पता
श्री मधुसूदन सेवाश्रम
रामकिशन कालोनी
काला कुंआ, अलवर (राजस्थान)
फोन–0144-2346096

श्री जगद्गुरु रामानुजाचार्य
आश्रम–श्री दुर्गा मन्दिर
विद्या नगर पेण्ड्रा (छ.ग.)
फोन–07751-224261

अपारकरुणादृष्टे र्नारायणप्रपत्तये।
प्रेरयन् वसुधां सर्वां यतीन्द्रो हृदि राजताम्।।

धर्म, अर्थ और काम ये त्रिवर्ग कहे जाते हैं। इनका सम्यग् विनियोग ही निःश्रेयस का हेतु हुआ करता है। त्रिवर्ग का सम्यग् विनियोग वेदादि शास्त्रों को अन्यथा करके सम्भव नहीं। लोभादि के कारण शास्त्रों के साथ जब छेड़-छाड़ की जाती है तभी त्रिवर्ग विपरीतक्रम से सेवित होता है और अपारजनसमुदाय नरक की ओर प्रस्थान करने लगता है। इस गड्डलिकाप्रवाह से आप्लावित होकर पूरा राष्ट्र ही लक्ष्यच्युत हो करकाक्रान्त सस्य की तरह निःसत्त्व हो जाता है।

धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। तथा हि— शास्त्रीय ज्ञान से समृद्ध पुरुष में मर्यादित काम (कामना) मर्यादित अर्थ की ओर ही ले जाता है और वह अर्थ ही उस धर्म को परिपुष्ट करता है जिससे सारे काम सिद्ध हो जाते हैं। इसके विपरीत अमर्यादित काम अमर्यादित अर्थ से सम्पृक्त करके पुरुषों को उस धर्म से जोड़ देता है जिसे आडम्बरप्रधान पाखण्ड कहते हैं। वस्तुतः वह धर्म नहीं, धर्माभास ही होता है। कलिकाल की यह विडम्बना ही है कि आज पूरा विश्व ही धर्माभास की चपेट में आकर अन्धतमिस्रागामी हो चला है। धर्मप्राण इस भारत राष्ट्र में भी विमूढ और स्वार्थ में अन्धे पाखण्डियों द्वारा धर्म को प्रदूषित करते हुए धर्मनिष्ठ जनता में भ्रम फैलाकर पारस्परिक सौहार्द को छिन्न करते हुए उसको असद्मार्ग के दलदल में ढकेला जा रहा है। वर्णाश्रमधर्म को ध्वस्त करने के लिए यह शासनतन्त्र भी किसी विशेषविभाग के द्वारा प्रलोभन

देकर वर्णसाङ्कर्य को बढ़ावा दे रहा है। ऐसी विषम परिस्थिति में विधर्मियों के उत्साह में वृद्धि हो रही है और वे अल्पप्रयास से ही अपनी इष्टसिद्धि कर रहे हैं। वेदार्थ का अन्यथाकरण करके कुछ अपने ही स्वार्थीतत्त्व वेदोदित अधिकारिता को तिलाञ्जलि देकर कुछ विशेषधर्मों में अनधिकृत मनुष्यों को अधिकृत करके अपनी कम, पाखण्डियों की अधिक इष्टसिद्धि कर रहे हैं। तात्पर्य यही है कि शास्त्रीय शास्वत सिद्धान्त में ही सन्देहबीजों का वपन किया जा रहा है। आज इन सारी विसङ्गतियों को दूर करके जनता में धर्म और तत्प्रतिपादक शास्त्रों के प्रति आस्था सुस्थापित करना अपना परम दायित्व है। इस महनीय कार्य में आर्यमर्यादापीठ अपनी महती भूमिका का निर्वाह कर रहा है, यह अपार हर्ष का विषय है। पीठ के आचार्य पं. कमलाकान्त त्रिपाठी जी ने अपने धर्मशुद्धिग्रन्थ से आचार्ययुक्तियों के द्वारा धर्मभ्रष्ट बौद्धादिकों के कुत्सितप्रयासों पर पानी फेरा है।

इसी शृङ्खला में इनके द्वितीय ग्रन्थ 'पातित्यपेटिका' का आगमन इस दिशा में शुभ संकेत है। इसमें ब्रह्मवध-सुरापान-गुरुतल्पगमनादि महापातकों से पतित पुरुषों के लिये धर्म में व्यवस्था के साथ-साथ त्रयी से अत्यन्त परिभ्रष्ट बौद्धादिकों के लिए सद्मार्ग का गवेषण भी किया गया है। इससे समाज में बढ़ रही आपराधिक प्रवृत्तियों पर विराम भी लगेगा। वर्णाश्रमधर्म में किसी भी प्रकार का अवरोध न आये, इसके लिए गृहस्थों पर विशेष दृष्टि डाली गयी है; क्योंकि उनका पतन उनके कुल को भी प्रभावित करता है।

सर्वथा इस ग्रन्थ में मानवमात्र के कल्याण की दृष्टि है। एतदर्थ हम पीठ के आचार्य पं. कमलाकान्त त्रिपाठी जी, जो हमारे अत्यन्त प्रियजनों में अन्यतम हैं, को भूयोभूयः धन्यवाद देते हैं। भगवान् श्रीनारायण इनको स्वस्थ एवम् प्रसन्न रखें। इनके सहयोगियों को भी मेरी ओर से शुभाशीर्वाद है। अस्तु!

अपारमङ्गलकामना के साथ

स्वामी कौशलेन्द्र प्रधानाचार्य फलाहारी

(स्वामी कौशलेन्द्र प्रधानाचार्य फलाहारी)



卐 सर्वेश्वर श्रीसीतारामाभ्यां नमः 卐

आनन्दभाष्यसिंहासनासीन

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामेश्वरानन्दाचार्यजी

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यपीठ

श्रीकोसलेन्द्रमठ सरखेज रोड पो. पालडी, अहमदाबाद-३८०००७ दू. २६६०१००१



आशीर्वचन

पं. कमलाकान्त त्रिपाठी जी शास्त्रीय साहित्य सर्जन में तत्पर हैं, यह परमामोद का विषय है। धर्मशुद्धि ग्रन्थ के पश्चात् 'पातित्यपेटिका' मीमांसा की शैली का अनुगमन करती हुई मानवोपयोगी तथ्य को प्रकाशित करने में सक्षम है। पतितों एवम् त्रयीभ्रष्टों के लिए शास्त्रसम्मत क्या मार्ग होना चाहिये? यह विद्वत्समुदाय का विषय रहा है। श्रीत्रिपाठी जी ने यथाशास्त्र उसका प्रतिपादन करके स्तुत्य प्रयास किया है।

एतदर्थ इनकी सौभाग्याभिवृद्धि की परिकामना सर्वेश्वर श्रीसीतारामजी से करता हूँ।

इसी प्रकार शास्त्रसेवा ये करते रहें।

स्वामी रामेश्वरानन्दाचार्य

आनन्दभाष्यसिंहासनासीन जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य
स्वामी श्री रामेश्वरानन्दाचार्य जी

॥ श्री संतराम महाराज सत्य छे ॥

ॐ हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

श्री संतराम समाधिस्थान

नडीआद - ३८७ ००१. (गुजरात)

(Trust Reg. No. A-142-Kheda)

✆ : (91) 268-255 0005, 268-255 0006

श्री सन्तराममहाराज की दिव्य अखण्डज्योति का शुभाशीर्वाद!

पं. प्रवर श्री कमलाकान्तत्रिपाठीप्रणीत ग्रन्थरत्न 'पातित्यपेटिका' साम्प्रत समाज के लिए दर्पण सिद्ध होगी। जो लोग वेदमार्ग से विचलित हैं उनके निःश्रेयस की सिद्धि धर्मशास्त्र की दृष्टि से यह ग्रन्थ कराने वाला है।

श्री सन्तराम मन्दिर का शुभाशीर्वाद एवं समर्थन ग्रन्थकार एवं आर्यमर्यादापीठ को प्राप्त होता रहेगा। मैं उक्त पीठ के संवर्धन एवं संरक्षण का आशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

हमारे सनातन धर्म की सेवा आप जैसे विद्वानों द्वारा होती रहे, एवम् ऐसे धर्म-अध्यात्म साहित्य के माध्यम से सब सच्चे पथपर आकर धन्य हो।

शुभकामना!

जयमहाराज!

रामदास

(रामदास)

महन्त श्री सन्तराममन्दिर

नडियाद (गुजरात)

पदवाक्यप्रमाणज्ञसहृदयधुरीणविद्यावाचस्पतिमहा-महोपाध्यायाचार्यश्रीमद्वायुनन्दनपाण्डेयपूज्यपादानामाशीः

श्रीवाणीविनायकाभ्यां नमः

अधीतबोधाचरणप्रचारणैरुपयुक्तविद्याः व्याकरण-साहित्य-मीमांसादि-शास्त्रेषु निष्णाताः धर्मादिविषयकनिर्दुष्टतत्त्वावधारणाय शास्त्रेषु कृतभूरिपरिश्रमाः लेखन-प्रवचनाध्यापन-कवनकलाकुशलाः साधुशीलाः श्रीकमलाकान्तत्रिपाठिनः साम्प्रतं धर्मप्राणदेशे भारतेऽपि धर्मग्लानिमधर्माभ्युत्थानं च दर्शं दर्शं खेदाकुलितमनसः शास्त्रतत्त्वज्ञानविमुखानां जनानाम् 'अयं तु युगधर्मोहि वर्तते कस्य दूषणम्' इत्यादि व्याहरतामन्तर्ध्वान्तविध्वंसनाय पुनः सद्धर्मप्रकाशनाय पातित्यपेटिकामिमां निर्माय प्रकाशितवन्तः।

ग्रन्थेऽस्मिन् ब्रह्मवधकर्तृभिः सुरापायिभिः कुक्कुटाण्डभक्षकैश्च सह संसर्गो विधेयो न वा? तेषां सामान्यधर्माचरणेऽधिकारोऽस्ति न वा? पूर्वकृतस्य कर्मणः प्रायश्चित्तं विधाय पुनस्तथैवाचरणे का गतिः?

म्लेक्षादीनां वैष्णवादिदीक्षाग्रहणेऽधिकारोऽस्ति न वा? इत्यादिबहूनां प्रश्नानामुद्भावनं समाधानं च दृश्यते।

एवं हि दृष्टाऽस्माभि र्व्यवस्था पूर्वं ये ज्ञानतो ऽज्ञानतो वा शक्त्याऽशक्त्या वा वासनावासिता वा धर्मविरुद्धमाचरितवन्तस्ते समाजे पतिता उद्घोषिता जातिबहिष्कृता अभूवन्, पुनः शास्त्रोक्तविधिना प्रायश्चित्तं विधाय पूता अभूवन्। परमद्यत्वे न तथा, इदानीं नाहं धर्मं मन्ये, इत्युद्घोष्य धर्मविरुद्धमाचरन्तो धर्मं धर्माधिकरणमेव निन्दन्ति। तेषामेव विप्रतिपन्नमतीनां मार्गप्रदर्शनाय सदाचारे स्थापनाय च रचितोऽयं ग्रन्थो लोकोपयोगीति कृत्वा ग्रन्थनिर्माणकर्त्रे भूयोभूय आशीर्भिः संवर्ध्य धन्यवादान् व्याहरामः।

वायुनन्दनपाण्डेयः

श्री निम्बार्क महामुनीन्द्राय नमः   नमोऽस्तु वृन्दावनसुन्दराभ्याम्   लं. 'गायत्री में राधाकृष्ण'

पं. वैद्यनाथ झा मैथिल

प्राचार्य-प्रथम श्रेणी श्री निम्बार्क महाविद्यालय, वृन्दावन (मथुरा) उ.प्रण (1950-1991)
भूतपूर्व वेदान्ताध्यापक जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्री श्रीजी महाराज, सलेमावाद (राज.)
सम्प्रति-भागवत प्रवक्ता : श्रीराधा कृष्ण भागवत विद्यालय, श्रीराधा माधव कुञ्ज, गौशाला नगर, कैलाश नगर रोड, पहली बाँयी गली में, वृन्दावन (मथुरा) उ.प्र.

आशीर्वचन

नैकविधशास्त्रेषु भूयःश्रमविपाकरूपतामापन्ना प्रतिभानैर्मल्यमादधती काव्यनिर्माणकौशलसध्रीचीना प्राचीनाचार्यपरम्परापरिमितादरसमुल्लसिताशेषापघना श्रीमद्भगवत्प्रपत्तिपद्धतिव्यवस्थापितसकलपतितजना तर्जितदुर्जनाऽप्रतिमविचार-घना वेदादिचतुर्दशविद्यास्थानधना शिष्टतोषिका पातित्यपेटिका भुवस्तल-मानीताऽस्मदपारप्रियताभाजा श्रीमदार्यमर्यादापीठाचार्येण श्रीकमलाकान्त-त्रिपाठिमहोदयेनेति सम्यगाकलय्य मोमुद्यते मदीयं चेतः। जैमिनीयविचारसरणिमनुसृत्य लब्धसत्ताका नूनमियमपूर्वैव पेटिकेति कथन्न विपश्चिदपश्चिमानां मनांस्यावर्जयेत्।

एतन्महनीयकार्यसंपादनकृतार्थाय प्रियग्रन्थकाराय मदीयाऽऽशीस्ततयः सन्ति।

श्रीवृन्दावनसुन्दरराधाकृष्णकृपादृष्टयस्तत्रानारतं निपतन्त्विति कामयते—

वैद्यनाथ झा

(वैधनाथ झा)

श्रीगुर्जरविद्वत्परिषद्

सचिवः पिनाकिन अमृतलाल याज्ञिक

श्रीहरिहर, 20 लखारियानगर विभाग-2, कलोल, जिला : गान्धीनगर
उत्तर गुजरात 382721

पातित्यपेटिका के रूप में अद्भुतविचारपद्धति का निरीक्षण करके मेरा हृदय परमाह्लादह्रद में आप्लावित जैसा प्रतीत हो रहा है। प्रकृत ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य पण्डित श्रीकमलाकान्तत्रिपाठी जी ने पूरे मनोयोग से अपना कार्य इस प्रकार किया है कि तथ्य के निर्धारण में किसी भी प्रकार से शास्त्रीय प्रमाणों और पदार्थावभासक न्यायों से विरोध न हो। उपपादन की यह सदाशयता ही कही जायेगी कि आचार्यप्रवर ने राष्ट्रिय हित को देखते हुए उदासीन एवम् केवलस्वकुटुम्बदृष्टिपरायण विद्वद्वर्ग के लिए तथा यतिवर्ग के लिए भी दो विशाल अधिकरणों की रचना कर दी है। अन्य अधिकरणों के साथ-साथ ये दोनों अधिकरण भी राष्ट्र को एक नयी दिशा देंगे, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। सबसे मुख्य बात यह है कि समुद्रलङ्घी या अन्य महापातकियों के पुत्रादि के साथ शिष्टों को विवाहादिव्यवहार करना चाहिये या नहीं, इस संशय के व्युदास के लिए ठोस प्रमाणों को प्रस्तुत करता हुआ एक महत्त्वपूर्ण अधिकरण भी रचित है जो भारतीय समृद्धि के मूल की गवेषणा करता है।

जैमिनि के बाद उन्हीं की शैली में प्रस्तुत यह पेटिकाग्रन्थ विद्याप्रेमियों के लिए निश्चय ही रसायन जैसा होगा।

इस महनीय कार्य के लिए आचार्य श्री को भूयोभूयः साधुवाद है।

जानी पिनाकिन अमृतलाल

॥ श्रीः ॥

श्रीगुर्जरविद्वत्परिषद्

अध्यक्षः डॉ. हरिनारायण भाई उमाशङ्करभाई पण्ड्या

15, आम्रकुञ्ज सोसायटी, कॉलेज के पास कलोल
(उत्तर गुजरात)- 382721

धर्मशुद्धिग्रन्थानन्तरमेवार्यमर्यादापीठाचार्यपण्डितप्रवरश्री कमलाकान्त-त्रिपाठिमहोदयानां पातित्यपेटिकाख्यग्रन्थसमुद्भवः परमाह्लादविषयः। विचारप्रधानेऽस्मिन् ग्रन्थे विशेषतः पतितानधिकृत्य धर्मव्यवस्थैव प्रतिपिपादयिषिताऽस्ति तथापि राष्ट्रियसमृद्धिसन्तानाय समुचितप्रकारोऽपि चकास्ति। अस्मद्भारतराष्ट्रस्य सम्प्रभुताया एकताया अखण्डतायाश्च तथा पारस्परिकहार्दिकसमन्वयेन सहैव सकलभूमण्डलीयपुरुषाणाम-भ्युदयनिःश्रेयसयोश्च व्यापकानि शास्त्रीयतथ्यान्यत्रानुस्यूतानि सन्ति। अत्र त्रय्या अत्यन्तपरिभ्रष्टानां बौद्धयवनम्लेच्छादीनां कर्तव्याकर्तव्यविषयको विचारो मनोऽस्माकं रञ्जयति। चतुर्थसंन्यासाश्रमे ब्राह्मणमात्राधिकारस्य सप्रमाणं न्यायानुप्राणितं समर्थनं प्रतिपक्षिणां यावन्मतनिरासपुरःसरमेवात्र कृतमस्ति। बुद्धिवैशद्यं विधातुं कृत्वाचिन्तान्यायेनाप्यत्र विचारा दृश्यन्ते। सर्वथाऽयं पातित्यपेटिकाग्रन्थः स्वीयोपपादनप्रकारै जैमिनिविचारसरणिं स्मारयति। एतन्महनीयकार्यसम्पादनाय पण्डितप्रवराचार्या धन्यवादार्हा एव सन्ति।

एतेऽनारतमेव स्वस्थाः प्रसन्नाश्च भवेयुरिति भगवन्तं व्योमकेशं प्रति मदीयाऽभ्यर्थना भवति—

हरिनारायण शास्त्री

(हरिनारायणशास्त्री)

श्री गणेशाय नमः श्री सीतारामाभ्यां नमः श्री तपस्विने नमः

श्री तपस्वी आचार्य-पीठ

श्री महान्त श्री सर्वेश्वर दासजी महाराज (बलुइया बाबा)

श्री स्वामी तपस्वी जी की छावनी, रामघाट-अयोध्या, फैजाबाद उ.प्र., भारत : 224123

आर्यमर्यादापीठ के आचार्य पं. कमलाकान्तत्रिपाठी जी अनेक शास्त्रों के विद्वान् हैं। मीमांसाशास्त्र में इन्होंने पर्याप्त श्रम किया है। श्रीवृन्दावन में मैं वर्षों तक इनकी शास्त्रनिष्ठा और प्रतिभा का सूक्ष्म आकलन किया था। आज ये पाण्डित्य की प्रौढ़ता को प्राप्त करके राष्ट्रहित में श्लाधनीय कार्य कर रहे हैं। इनके 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ से इनके विचारों का वैशद्य भी मुझे अवगत हुआ है। परमहर्ष का विषय है कि लोककल्याणार्थ 'पातित्यपेटिका' ग्रन्थ का अब शुभागमन हो रहा है। श्रीत्रिपाठीजी ने इस ग्रन्थ के निर्माण में पर्याप्त श्रम किया है। गद्य के साथ-साथ पद्यों की भी इसमें इनकी अजस्रधारा फूट पड़ी है। अधिकरणों के विषय की गवेषणा और उनकी संरचना अपने आप में कठिन कार्य है जब उसमें यह भी दृष्टि रहे कि कहीं भी प्रमाणों और न्यायों से विरोध न हो। विद्वत्समुदाय का यह स्वभाव है कि जब पूर्णरूप से शास्त्रसम्मत कुछ अप्रिय लिखा जायेगा तो वैसा न करने का वह सुझाव देगा और यदि लोकानुरञ्जन को ध्यान में रखते हुए कुछ शास्त्रविरुद्ध लिख दिया जायेगा तो उसकी भृकुटि तन जायेगी तथा विरोध में निबन्ध भी छपने लगेंगे। इस तथ्य को त्रिपाठी जी अच्छी तरह से समझते हैं। अत एव इनका शास्त्रमूलक ही यह सत्प्रयास है।

वैष्णवमार्ग मानवमात्र के अभ्युदय और निःश्रेयस का साधन है, इस विषय में लक्षाधिक प्रमाण आकरग्रन्थों में भरे पड़े हैं। विकर्मस्थों का इसमें आगमन परम कल्याणकारी ही होगा।

पातित्यपेटिका का पूरे भूमण्डल में प्रसार हो तथा आर्यमर्यादापीठ के आचार्य पं. कमलाकान्त त्रिपाठी जी इसी तरह श्लाघनीय कार्य एवम् शास्त्रसंवर्धन करते रहें, भगवान् से मेरी यही शुभकामना है।

महन्त सर्वेश्वर दास

पं. डाह्याभाईपञ्चोली
(व्याकरण-साहित्याचार्य,
प्राचार्यचर)
उपाध्यक्ष वि.हि.प.)

संस्थापक

ब्रह्मर्षिसंस्कारधाम

नडियाद, गुजरात

शास्त्रविरुद्ध अधर्माचरण के कारण समाज एवम् राष्ट्र आज सदाचार की जगह भ्रष्टाचार, अत्याचार और व्यभिचार से सन्त्रस्त है। यह सब धर्मस्वरूप के अज्ञान के कारण ही है। इसके समाधान में दत्तावधान पण्डितप्रवर श्रीकमलाकान्तत्रिपाठीजी ने 'धर्मशुद्धि' की रचना करके श्लाधनीय कार्य किया है।

सम्प्रति वेदमार्ग से परिभ्रष्ट लोगों की धर्म में व्यवस्था के लिए उन्नीस अधिकरणों से समलङ्कृत ग्रन्थरत्न 'पातित्यपेटिका' रचना उन्होंने शास्त्रों एवम् न्यायों के समालोचन के द्वारा की है। आज मुझे प्रतीत हो रहा है कि धर्मसम्राट् स्वामिकरपात्रजी का विद्वेष से शून्य अभियान ही सारे मानवों एवम् राष्ट्र के निर्माण में उपयोगी था। शास्त्र का बाध करना उचित नहीं है। आर्यमर्यादापीठ के आचार्य की दृष्टि सभी के कल्याण की है। इसी दृष्टि से समरसता सम्भव है। 'पातित्यपेटिका' का हम इसीलिए पूर्ण आदर करते हैं। यह ग्रन्थ अवश्य ही समाज को नयी दिशा देगा तथा निःश्रेयस के मार्ग का प्रदर्शन करेगा।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।

इसी कामना के साथ—

डा-क-शास्त्री
ब्रह्मर्षि संस्कार धाम
नडियाद गुजरात

卐 ।। श्री हरिः ।। 卐

दूरभाष : 0542-2450361

धर्म की जय हो
गोमाता की जय हो

अधर्म का नाश हो

प्राणियों में सद्भावना हो

विश्व का कल्याण हो
गोहत्या बन्द हो

हर हर महादेव

धर्मसम्राट् स्वामी करपात्री जी महाराज

श्रीसदानन्द सरस्वती
श्री वेदान्ती स्वामी
प्रधान शिष्य

श्री करपात्री धाम
केदार घाट
वाराणसी

।। आशीर्वाद ।।

वादतोषितविश्वेशं धर्ममार्गप्रवर्तकम्।
वन्दे हरिहरानन्दं करपात्रं जगद्गुरुम्।।

आर्यमर्यादापीठ श्रुतिस्मृतिपुराणादिशास्त्रसिद्ध सद्मार्ग के उद्भासन के साथ-साथ राष्ट्रधर्म का निर्वाह बड़ी ही तत्परता से कर रहा है, यह जानकर अपार हर्ष हो रहा है। धर्म-सम्राट् स्वामीजी की दृष्टि को आत्मसात् किया हुआ यह पीठ **'धर्मशुद्धि'** ग्रन्थ के बाद **'पातित्यपेटिका'** को प्रकाशित करके एक श्लाघनीय कार्य किया है। स्वामीजी के निर्देश पर ही पीठ के आचार्य पं. गिरीशदत्तपाण्डेयजी ने राष्ट्रियहित में बहुत बड़ा कार्य किया है और कर रहे हैं। पीठ की परम्परा का ही निर्वाह करते हुए साम्प्रतिक आचार्य पं. कमलाकान्तत्रिपाठी जी विधर्मियों के कुत्सित प्रयासों का समुचित उत्तर देने के लिए दृढसङ्कल्प हैं। उनका 'पातित्यपेटिका' ग्रन्थ पूर्णरूप से शास्त्रीय ग्रन्थ है। सन्न्यास में ब्राह्मणाधिकार ही श्रुतिसिद्ध है। ब्राह्मण होने पर भी उसके लिए वेदाध्ययनादि व्रतों की अपेक्षा होती है। इसीलिए धर्मसम्राट् स्वामी जी बहुत कम लोगों को संन्यास देते थे। हमारे सन्न्यास के पहले पुरश्चरण करने का निर्देश हुआ था। पुरश्चरण के बाद ही बहुत काल में उन्होंने मुझे सन्न्यास दिया था। इस दृष्टि से देखा जाय तो पातित्यपेटिका में संन्यास और संन्यासियों के विषय में जो कुछ भी लिखा है वह यथार्थ है। सर्वथा स्वधर्म से च्युति ही पातित्य है। वह पातित्य प्रसक्त न हो इसका ध्यान रखना है। विशेषतः विद्वद्वर्ग को। आज आवश्यकता है कि राष्ट्र के सारे विद्वान् और आचार्य राष्ट्रियहित का चिन्तन करें। इस पर अपनी पूर्ण दृष्टि रखने वाले श्रीकमलाकान्तत्रिपाठी जी धन्यवाद के पात्र हैं। भगवान् उन्हें स्वस्थ-प्रसन्न रखें, यही मेरी मङ्गलकामना है।

वेदान्ती स्वामी

विषयानुक्रमणिका

सम्पादकीय

निरन्तर शास्त्रों का मनन-चिन्तन और अध्यापन करते हुए आर्यमर्यादापीठ के आचार्य पं. कमलाकान्त त्रिपाठी जी का राष्ट्रहित में कदम उठाना स्वयम् में बहुत बड़ा कार्य है। निरन्तर ग्रन्थ के माध्यम से जनता को स्वकार्य का बोध कराना ही इनका लक्ष्य है। यह पीठ तत्परतया विरोधियों के शास्त्रविरोधी क्रियाकलापों का उत्तर देने के लिए बद्धपरिकर है। प्रसुप्तोन्मेष और धर्मशुद्धि ग्रन्थ के बाद अब पातित्यपेटिका लोगों के लिए पीयूषवर्षण का कार्य करेगी। इसकी उपयोगित! भूमण्डल के सभी प्राणियों के लिए है। अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति ही शास्त्रों का लक्ष्य है। साक्षात् या परम्परया सभी शास्त्रों का दोनों ही अर्थों में पर्यवसान होता है। 'धर्मशुद्धि' ग्रन्थ में धर्माधर्म के प्रामाण्य में चतुर्दश विद्यायें ही यथाशास्त्र व्यवस्थापित कर दी गयी हैं जिनको शास्त्र कहा जाता है। बौद्धार्हतादि ग्रन्थ, जिनके मूल में वेद नहीं हैं, प्रत्युत जो त्रयीमार्ग के विरोधियों के कपोलकल्पित वाग्जाल हैं, उनके प्रामाण्य का उपमर्दन वहाँ किया जा चुका है। इसके अनन्तर त्रयीभ्रष्टों को लेकर एक विशाल यक्षप्रश्न खड़ा हो जाता है कि उनके लिए धर्म में क्या व्यवस्था हो सकती है? यह प्रश्न मुख्यतया विद्वानों का विषय भी रहा है। ऐसे ही कुछ जटिल प्रश्नों का समुचित समाधान इस 'पेटिका' ग्रन्थ में विद्यमान है। पतितों को अभिलक्षित करके हमारे मनीषी निबन्धकारों ने बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं। उनके प्रायश्चित्तों के प्रकार भी स्मृत्यादि ग्रन्थों में बहुलतया मिलते हैं। फिर पातित्यपेटिका क्यों? यह जिज्ञासा भी जनसामान्य को हो सकती है। यहाँ मैं इतना ही कहूँगा कि इस ग्रन्थ में विचारों की पुनरुक्ति नहीं है। आज ऐसे ग्रन्थ की अत्यधिक आवश्यकता थी जो आचार्य के अकथनीय प्रयास से उपलब्ध होने जा रहा है। इस ग्रन्थ में उन्नीस अधिकरणों की एक लम्बी शृङ्खला है जिसमें गहनतम विचार पिरोये गये हैं। संन्यास जैसे विषयों पर तो विस्तृत विचार हैं। कुछ विद्वान् संन्यास में त्रैवर्णिकाधिकार मानते हैं तो कुछ ब्राह्मणाधिकार। स्मृतियों नें दोनों पक्षों का दर्शन होता है। कौन-सा पक्ष उचित है? इस जिज्ञासा का यहाँ ऐसा समाधान मिलेगा कि कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। जनता को यह भी समझ में आयेगा कि संन्यासधर्म का परिपालन कोई आसान कार्य नहीं है। ब्रह्मचर्य

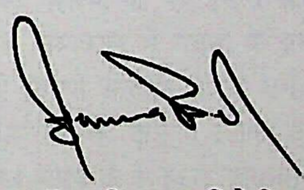
को लेकर भी लोक में भ्रान्तियाँ हैं। वेदाध्यायी ही ब्रह्मचारी कहा जाता है। **ब्रह्म वेदः, तं चरितुमध्येतुं स्वभावो यस्य स ब्रह्मचारी।** मुञ्जमेखला, पलाशदण्ड आदि ब्रह्मचारी के लिङ्ग होते हैं। ये ब्रह्मचारी गृहस्थ आचार्य के ही हो सकते हैं, ऐसा श्रीकाशीविद्वत्परिषद् के कुछ विद्वानों का मानना है। अव यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि ब्रह्मचारियों का संन्यासी से सम्बन्ध कैसे? श्रीमद्भगवत्पाद के आम्नाय में चारों पीठों के आचार्यों के ब्रह्मचारियों की चैतन्य, स्वरूप आदि संज्ञा उपलब्ध होती है। श्रीमद्भगवत्पाद अप्रामाणिक नहीं हो सकते। इसका समाधान भी इस ग्रन्थ में विद्यमान है। मनु के स्मरणानुसार संन्यासी के वेदाभ्यास का संन्यास अर्थात् त्याग नहीं होता। जो संन्यासी वेदाभ्यास का परित्याग कर देता है वह पतित होकर नरकों में जाता है। यह तथ्य हमारे आचार्यश्री ने खोज निकाला है। एवञ्च, सन्यासी का वेद से सम्बन्ध यदि है तो उनके पास वेदाध्ययन करने वाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो सकते हैं जो बाद में संन्यास भी लेने की अधिकारिता से सम्पन्न होगें। तात्पर्य यही है कि ब्रह्मचारी आचार्य से नियन्त्रित और नियमबद्ध ही होता है। आज की दशा ही कुछ और हो चली है। बहुत कम संन्यासी वेदाभ्यासी हैं। प्रायः प्रपञ्च में लगे रहते हैं। हमें सन्देह है कि प्रतिष्ठित पीठों के आचार्य भी अपने ब्रह्मचारियों को वेद पढ़ाते हैं या नहीं। बहुत से ऐसे भी ब्रह्मचारी दृष्टगत होते हैं जिनका वेद से सम्बन्ध ही नहीं है। वे दण्डादि भी धारण नहीं करते पर कथा के माध्यम से द्रव्यसंग्रह करते हैं। वे ब्रह्मचारी कैसे हो सकते हैं? गृहस्थाश्रम में विद्यमान हमारे वैदिक महापुरुष अपने ब्रह्मचारियों के ब्रह्मचर्य को सार्थक किये हुए हैं। वेदों का संरक्षण उनके यहाँ हो रहा है। संन्यासियों के आश्रमों में सद्विद्या का क्रम टूट रहा है। दण्डियों के आश्रमों में वहाँ के ब्रह्मचारी या संन्यासी अपने पीठाचार्यों से साम्प्रदायिक भाष्यादि ग्रन्थों को नहीं पढ़ेंगे तो कहाँ पढ़ेंगे? वैष्णवपीठों में श्रीभाष्यादि ग्रन्थों का अनुशीलन नहीं होगा तो कहाँ होगा? आखिर जिन महापुरुषों के साहित्यरत्नों पर सम्प्रदाय टिके हुए हैं, वहाँ के आचार्य अपने शिष्यों को उन अमूल्य साहित्य का अनुशीलन नहीं करायेंगे तो कौन करायेगा? साम्प्रदायिक ग्रन्थों की रक्षा कैसे होगी? इत्यादि विषयों की चिन्ता हमारे आर्यमर्यादापीठ के आचार्य को है। आश्रमों में शिक्षा का ह्रास राष्ट्र की समृद्धि में बाधक है। ऐसे में हमारे आचार्य का उद्वेलित होना और अपने ही आदर्श पुरुषों पर टिप्पणी करना कथमपि अनुचित प्रतीत नहीं होता। विरक्ताश्रम के आचार्यों के मुख से यह निकले कि शास्त्रीय ग्रन्थों को कौन पढ़ेगा? कितना लज्जास्पद है। यह बात कोई मूढ पुरुष कहे तो खराब नहीं लगता। आचार्यों के मुख से ऐसी बातें अच्छी नहीं लगतीं। हमें

स्मरण है कि साक्षात् गङ्गा के तट पर सुप्रसिद्ध पीठ के ब्रह्मचारी श्रीरामविषयक मङ्गलाचरण भी नहीं कर पाये थे तो वहाँ के सचिव ने उन्हें धिक्कारा था। आज पीठाचार्य विद्वानों से कन्नी काटने लगे हैं। व्यक्त है वे विद्यानुरागिता से शून्य होते जा रहे हैं। अनुचित है यह। ऐसे में उनका सम्बन्ध धनिक मूर्खों से ही रहेगा जो राष्ट्र के लिए हितकर नहीं होगा। अस्तु!

इस ग्रन्थ में राष्ट्रिय हित की चिन्ता की गयी है। पातित्य से सम्बन्धित नये-नये विषय भी यहाँ उठाये गये हैं। सर्वथा यह ग्रन्थ उपयोगी होगा। संस्कृत में होने से यह सर्वजनसुगम नहीं होगा, अतः परिशिष्ट में भाषान्तर भी प्रस्तुत है। इससे हिन्दी जानने वाले भी ग्रन्थ का तारतम्य समझेंगे। संस्कृतभाषा के विज्ञों को हर प्रकार से प्रमोद की सम्प्राप्ति होगी। आचार्यश्री का इस पेटिका में संस्थापित रत्नायमान विचार सभी के हृदयदेश की शोभा बढ़ायें, यही हमारा मनोरथ है। भूतभावन भगवान् साम्ब सदाशिव हमारे मनोरथ को सफल करें, इसी आशा के साथ आगे के क्रियाकलापों का संकल्प लेते हुए ही हम विरत होते हैं।

इस महानतम कार्य में श्रीजी प्रिन्टर्स की जितनी भी बखान की जाय वह कम ही होगी। श्री अनूप कुमार नागर निरन्तर शास्त्र के प्रति विशेष लगाव एवं निष्ठा रखने के साथ-साथ परम्परा के बहुत बड़े पोषक के रूप में जाने जाते हैं। हम इनको समस्त पीठ के पदाधिकारियों की ओर से भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए हृदय से आशीर्वाद भी देते हैं।

इतिशुभम्!



वाराणसी
वि.सं. २०६३,
मकर संक्रान्ति

(डॉ. हरिप्रसाद द्विवेदी)
प्रचारमन्त्री
भारतीय आर्यमर्यादाविज्ञानसमिति
वाराणसी

एकदृष्टि

उस समय अपने विद्यास्थानों के संरक्षण में उतरना अत्यावश्यक हो जाता है जब अपनों को ही उनमें दोष दिखायी देने लगता हो और वे तद्विरोध में प्रयासशील होने लगें। आज ऐसे भी ब्रह्मपुत्र महात्मा हो गये हैं जिन्होंने बाल्यावस्था में वेदाध्ययनरूप या शास्त्राभ्यासरूप वास्तविक तप का अनुशीलन नहीं किया है, किन्तु यत्र तत्र विचरण या कहीं निर्जनों में अवस्थान अवश्य किया है। इतने मात्र से ही तपस्वी बन कर जनता में अपनी पूजा करवा रहे हैं और भूयसी समृद्धि प्राप्त किये हैं। आज वे धर्मनिरपेक्ष नेताओं से अधिक धर्मनिरपेक्ष हो गये हैं तथा जनता में धर्मनिरपेक्षता की ऐसी वारुणी पिला रहे हैं जिससे जनता पूर्णरूप से विवेकशून्य होती जा रही है और वह किसी शास्त्रज्ञ विद्वान् की शास्त्रीय व्याख्यानों को अन्यथा समझने लगी है। गाँवों में आज शिक्षा का उतना प्रभाव नहीं है जितना नगरों में है तथापि ग्रामीण शास्त्रीय तथ्य हृदय से स्वीकार करते हैं, किन्तु नगरनिवासी नहीं। ऐसा क्यों है? यह प्रश्न विचारणीय है। नगरों में वैसे धर्मनिरपेक्ष या धर्मव्यतिक्रमी महापुरुषों के किं वा अल्पवय पुरुषों या महिलाओं के कर्णप्रिय चुटुकुलाप्रधान अशास्त्रीय प्रवचन निरन्तर चल रहे हैं जिससे वहाँ की जनता अत्यन्त जड़ हो गयी है जिसे लोकभाषा में उजड्ड कहते हैं। भारत में ही नहीं पाश्चात्त्य देशों में भी प्रतिष्ठा के संग्रही किसी महात्मा का पत्र हमारी समित के अध्यक्ष को प्राप्त हुआ है जिसमें लिखा है कि मध्यकाल में यवनों के प्रभाव से भारतीय धर्मों में अनेक विकृतियाँ आ गयी थीं जिससे सनातन वैदिक धर्म की स्थापित परम्परा विशृङ्खलित हुई आघातित हुई। इस तथ्य को दृष्टि में रखकर आज विद्वानों एवम् शोधकर्ताओं को इस क्षेत्र में कार्य कर समय के अनुकूल जीवनमूल्यों को उजागर करने की आवश्यकता है। इस समय उन महात्मा के इस अविवेकपूर्ण कथन की समीक्षा आवश्यक प्रतीत हो रही है। पहले यही विचार कर लेना उचित होगा कि इस निर्मूल कथन से पूरे भूमण्डल में भारतीय प्रतिष्ठा की क्या स्थिति होगी जो अनादि गुरुपरम्परा से संरक्षित वेदों और तदाश्रित मनीषितपःपूतस्वच्छविशदविचारों से अनुप्राणित अन्य विद्यास्थानों से लोकोत्तरतया त्रिभुवन में स्थाणु की तरह अचल है? संसार की सामान्य जनता यही समझेगी कि भारत में धर्म और तदुद्बोधक वेदादि शास्त्रों में विकार आ गये हैं, अतः वे

अनास्था के पात्र हैं। विकृत सनातन धर्म से निःश्रेयस की प्राप्ति नहीं हो सकती अतः बुद्धादि के द्वारा प्रचोदित, उन महात्मा की दृष्टि में अविकृत धर्म को ही स्वीकार करना चाहिये जो वस्तुतः धर्म न होकर धर्माभास है। उनके उक्त कथन से सम्पूर्ण वेदमूलक संस्कृत वाङ्मय या तदनुसारी अन्य वाङ्मय जो अतिप्राचीन हस्तलेखों के रूप में सरस्वतीभवनादि पुस्तकागारों में अरबों रूपये व्यय करके इस सरकार के द्वारा ही धरोहर के रूप में संरक्षित हो रहे हैं तथा पाश्चात्त्यों की दृष्टि में भी जो लोकोत्तरतया परम आस्था के भाजन हैं, क्या संसार के ही मानस में अनास्था के प्रतीक नहीं होंगे? निश्चय ही ऐसा लिखकर तपस्वी महात्मा ने भारत को ही कलङ्कित करने का प्रयास किया है। उनके विचार से भारतीय धर्मों में मध्यकाल से यवनों के प्रभाव से विकार आया है। इस कथन में उनका यही तात्पर्य है कि मध्यकाल के बाद की जितनी रचानायें धर्म की व्यवस्था में उपलब्ध होती हैं वे यवनों के प्रभाव से विकृत और अप्रामाणिक हैं। उनके इस कुत्सित तात्पर्य की पुष्टि संसार का कोई भी विचारक किसी भी काल में नहीं कर पायेगा। बहुत से ऐसे प्रामाणिक हस्तलेख भी आज विद्यमान हैं जो मध्यकाल के हजारों वर्ष पहले के हैं। पुराविद् इसे परिपुष्ट करते हैं। निश्चय ही वे हमारे महात्माजी की दृष्टि में विकृत नहीं हुए हैं। एवञ्च उन ग्रन्थों से प्राप्त पूरे भूमण्डल की धर्माधर्म व्यवस्था कथमपि विकृत नहीं हुई है, इस तथ्य को उन्हें न चाहते हुए भी स्वीकार करना पड़ेगा। अब उन पुरातन ग्रन्थों से यवनप्रभावित ग्रन्थों की तुलना आवश्यक होगी तभी यह पता चलेगा कि यवनप्रभावित ग्रन्थ कितनी संख्या में किस अंश में विकृत हुए हैं। यदि पुरातन धर्मव्यवस्थापक ग्रन्थों से मध्यकाल के बाद के ग्रन्थ विरुद्ध नहीं होते तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वे अविकृत ही हैं। यदि विरुद्ध हैं तो उन्हें विकृत माना जा सकता है। ऐसे विकृत ग्रन्थों की प्रामाणिकता न हम स्वीकार करते हैं और न ही विद्वत्परम्परा का कोई भी विद्वान् स्वीकार करता है, प्रत्युत अनादिपण्डितपरम्परा से आगत जैमिनिमुनिगुम्फित मीमांसान्यायों से वह हाथ में आये मोदक की तरह खण्डित ही होती है। फिर उस पर कुछ और करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। जिसकी प्रामाणिकता परम्पराप्राप्तविद्वान् स्वीकार करते हैं, व्यक्त है कि वह विकृत नहीं है। वस्तुतस्तु मध्यकाल के बाद के भी लिखे गये चतुर्दशविद्यास्थानों से सम्बद्ध ग्रन्थ अपने पुरातन ग्रन्थों को आधार बना कर ही लिखे गये हैं। कहीं भी वहाँ पुरातन ग्रन्थों से विरोध नहीं है, फिर भी उन्हें विकृत सिद्ध करने का प्रयास कर्ता के पागलपन को ही प्रमाणित करता है। इस प्रकार यदि ग्रन्थ अविकृत हैं तो तत्स्थापित धर्मव्यवस्था भी अविकृत ही सिद्ध होती है। ऐसे में सनातन वैदिक धर्म की स्थापित परम्परा को विशृङ्खलित और आघातित कहना कैसे

न्यायसंगत हो सकता है? अविकृत ग्रन्थों से स्थापित व्यवस्था ही वैदिक और सनातन है तो उनके विचार से स्थापित परम्परा कौन-सी है? इसे प्रकट करना चाहिये। हमारी दृष्टि से उनके यहाँ जो भी व्यवस्था चल रही है वही स्थापित सनातन व्यवस्था है। वह क्या है? इसके उत्तर में यह प्रसिद्ध श्लोक ही पुरःस्फुरित होता है—

'अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानामवमानना।
त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्'।।

उनके यहाँ निषिद्धपदार्थ जैसे लशुनपलाण्डु आदि का परिवर्जन नहीं है तथा पङ्क्तिभोजन की भी कोई शास्त्रीय व्यवस्था नहीं है। किसी भी अवस्था में विद्यमान स्त्री-पुरुष एक साथ भोजन कर सकते हैं। भोजनोपरान्त उठने का भी कोई क्रम नहीं है। जो भोजन करता जाय वह उठता जाय। स्त्रियों को भी काषाय पहना दिया जाता है तथा उन्हें मञ्चारूढ करके सादर प्रवचन कराने में भी कोई बाधा नहीं है। एवम् अन्यान्य शिष्टविगर्हित व्यवस्थायें उनके मत में सनातन हैं। इन्हीं सनातन व्यवस्थाओं को सुदृढ़ करने के लिए वे यह भी कहते सुने जाते हैं कि वैदिकों ने वेदों में भी बहुत कुछ घुसा रखा है। पागलपन की हद हो गयी है। लगता है कि वे वेदों को प्रदूषित करने के लिए ही पृथ्वी पर अवतार लिये हैं और विधर्मियों की सादर इष्टसिद्धि कर रहे हैं। इसीलिए तो मञ्च पर न यथार्थ बोलते हैं और न ही सुनना पसन्द करते हैं। ऐसे लोगों के विचारों से ही कुछ ऊर्जा प्राप्त करके यहाँ के कुछ दल सनातनधर्मावलम्बियों में विद्यमान कुरीतियों को सुधारने में लगे हुए हैं। यह विडम्बना ही है कि इसाई-मूसलमान भी अपनी विशुद्ध उदार परम्परा को सामने रखकर सनातन ब्राह्मणादि चाण्डालान्त आर्यजनता में घुसते हैं और शास्त्रीय ग्रन्थों की आलोचना इसीलिए करते हैं कि वे कुरीतियों के पोषक हैं। यही कार्य हिन्दुओं के उद्धारक भी कर रहे हैं। त्रयीभ्रष्टों में जाकर कुछ करने की औकात उनमें नहीं है और वे अपनों को ही सुधारने चले हैं जो पहले से ही सुधरे हुए हैं। ऐसी स्थिति में एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी जो दूध का दूध और पानी का पानी कर दे। आर्यमर्यादापीठ ने यह महनीय कार्य पहले प्रसुतोन्मेष और धर्मशुद्धि जैसा ग्रन्थ प्रस्तुत करके तथा अब 'पातित्यपेटिका' का आविर्भाव करके कर दिया जिसमें वेदादि सकल शास्त्रों को हृदय में रखकर ही विना किसी पक्षपात के अपेक्षित तथ्य स्थापित किये गये हैं। हमारे सुहृद्वर्य, पीठ के आचार्य डॉ. कमलाकान्त त्रिपाठी जी का यह श्लाघनीय कार्य सर्वदैव अविस्मरणीय रहेगा। इनके इस अदम्य उत्साह ने हम सभी को

यथार्थ पक्ष को सोचने के लिए विवश किया है। सौभाग्य है कि हमारा भी इस महनीय कार्य में यत्किञ्चिद् योगदान हो रहा है। इस ग्रन्थ के सम्पादन का भार भी किसी उपलब्धि से कम नहीं है। गुर्जरप्रान्तीय विद्वद्गण भी हमारे साथ हैं जिसमें डाकोर पाठशाला के प्राचार्य पं. अजय ठाकर जी तथा ब्रह्मर्षिसंस्कृत महाविद्यालय के व्याकरणप्राध्यापक डॉ. क्षितीश्वर पाण्डेय जी एवम् अपने ही श्रीस्वामिनारायण पाठशाला के वरिष्ठ प्राध्यापक डॉ. अनिरूद्ध चौबे जी पदे-पदे अपने कर्तव्य का निर्वाह कर रहे हैं। स्वामिनारायणीयमूल के आचार्यश्रीपाद एवम् अन्य सन्त भी उत्साहित हैं। वडताल मन्दिर के अपने प्रिय शिष्य स्वामी नौत्तमदास जी का भी ध्यान इधर आकृष्ट हुआ है। आशा है कि उनका भी इसमें महनीय योगदान होगा। सबसे प्रसन्नता का विषय है कि अपारब्रह्मवर्चस से सम्पन्न यथार्थ योगी और अनन्य भगवदुपासक श्री विश्वनाथावधूत जी महाराज, सूरत का अमोघ आशीर्वाद प्राप्त हो रहा है। इसमें भी श्रीसन्तरामसमाधिस्थान, नडियाद के महन्तश्री की सत्प्रेरणा स्वर्ण में सुरभि प्रदान करने वाली ही है। परमादरणीय महन्त श्री रामदास जी महाराज वैसे भी सनातनमर्यादा के परिपालनव्यसनी और गुर्जर के ही नहीं, अपितु पूरे राष्ट्र के विपश्चिद्वृन्द के श्रद्धा के पात्र हैं। पूरे गुजरात की संस्कृतपाठशालायें वहीं से परिपोषित हो रही हैं। तत्पश्चात् श्रीमद्वेदमार्ग-प्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य, सत्सम्प्रदायाचार्य भगवदनन्त-पादीय जगदाचार्यश्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य त्रिदण्डिस्वामिपाद के प्रशिष्य तथा विविधविरुदविभूषितजगद्गुरु श्रीस्वामिनारायणाचार्य यतीन्द्र स्वामिवर्य 'वेदान्तमार्तण्ड' के कृपाभाजन जगद्गुरुरामानुजाचार्य भगवदुपासनपरिपूत-सकलापघन श्रीवासुदेवाचार्य 'विद्याभास्कर' जी महाराज, अयोध्या, की अहैतुकी कृपा और उनकी सत्प्रेरणा चिरस्थायिनी रहेगी जिनके पाणिपल्लवों के द्वारा ही इस 'पेटिका' ग्रन्थ के विमोचन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अन्य भी समादरणीय महापुरुषों का शुभाशीर्वाद प्राप्त हो रहा है। सभी के प्रति संस्था के सारे लोगों का सादर प्रणति-निवेदन है। इस पवित्र कार्य में सभी का यथासामर्थ्य सहयोग प्राप्त हो इसी आशा के साथ ही—

डॉ. वाचस्पतिमिश्र
प्रवक्ता
भारतीय आर्य-मर्यादाविज्ञानसमिति
वाराणसी

प्राचार्य
श्रीस्वामिनारायणसंस्कृतपाठशाला
जेतलपुर, अहमदाबाद

आत्मनिवेदन

पूज्यपाद गुरुजी की 'पातित्यपेटिका' सर्वजन सुलभ होते जा रही है, यह अपार हर्ष का विषय है। पूर्वोत्तर पक्षों में ग्रन्थ होने से बुद्धि का वैशद्यलाभ भी मिलेगा। इस विषय में मेरा यही निवेदन है कि लोगों को अधिक से अधिक सिद्धान्त की युक्तियों पर ध्यान देना चाहिये। पूर्वपक्ष में अरुचिकर बातें होती ही हैं जिनका सिद्धान्त में खण्डन होता है। इस ग्रन्थ में जो कुछ भी निरूपित है वह अपेक्षित है। आज भौतिकता के प्रवाह में प्रवाहित लोगों के बीच ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता है। वेदों में जो प्रतिष्ठा ब्राह्मणों को प्राप्त है वे उसे खोते हुए चले जा रहे हैं। मूर्खता ही इसमें कारण है। सबसे पहले उन्हें ही धर्गपरायण होना पड़ेगा। अपने सदाचार के माध्यम से उन्हें अन्यों को सत्प्रेरणा देनी होगी। धर्म और धर्मशास्त्रों को अबाधित करते हुए ही एकता स्थापित करनी होगी। यह परम्पराप्राप्त कुलधर्मनिष्ठा से ही सम्भव है। आर्यमर्यादापीठ के आचार्यों का यह मत है आज वे शूद्र ही सनातन धर्म को धारण किये हुए हैं जिनमें स्वार्थी धर्मोंपदेशकों का सन्निवेश नहीं है। जीवितपुत्रिका, षष्ठी, महाशिवरात्रि, कृष्णाजन्माष्टमी, शीतलासप्तमी आदि व्रत तथा तत्तत् पर्वों पर होने वाले स्नानदानादि ही यहाँ दृष्टान्त हैं। धर्म से विमुखता उन्हीं लोगों में है जो आधुनिक शिक्षा के प्रभाव में आकर पूर्णरूप से परिवारपरायण हो गये हैं। ऐसे लोगों में उच्चवर्ग के लोग ही आते हैं। उनकी दृष्टि अतिसंकुचित हो गयी है। ऐसे लोगों से हमारे आचार्य की आस्था दूर होती जा रही है, इसका मैं अनुभव कर रहा हूँ। अपने जनपद सोनभद्र में ब्राह्मणादि सम्भ्रान्तों की स्वार्थपारायणता को देखकर वे उनका मुख न देखने का संकल्प ले लिये हैं। इसीलिए अपने अभिजन (ग्राम) में वे जाते ही नहीं हैं। उन्हें समझने वाले अच्छी तरह से जानते हैं कि वे सिद्धान्त में ही जीना पसन्द करते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने विपरीत आचरण का प्रभाव उनके ऊपर नहीं छोड़ सकता जो हमारे आचार्य श्री गुरुजी को जानते हैं। गुजरात में भी उनकी त्यागतपस्या का सौरभ विद्यमान है। पुरीनिष्ठा के साथ उन्होंने जिन ब्राह्मणों को शास्त्रीय ज्ञान दिया है वे आज यहाँ प्रतिष्ठित हैं। काशी में रहते हुए ही मुझ जैसे मन्दबुद्धि को अंशतः ही सही मीमांसक बना ही दिया है। मेरे मित्र कश्यप त्रिवेदी तो मीमांसा का अच्छा ज्ञान कर चुके

हैं जो गुजरात के ही हैं। आज भी यदि उनके चरणकमलों में स्थायी जिनका सम्बन्ध होगा वे कुछ बन सकते हैं, ऐसा मुझे पूरा विश्वास है। श्रीपूज्यगुरुजी के प्रति मैं पूरी तरह से आस्थावान् होकर किसी भी तरह से उनका सहायक बनूँ, यही मेरा सौभाग्य है। इसके आगे कुछ भी नहीं। यहाँ पर इतना ही मेरा आत्मनिवेदन है।

हमारे ही ग्राम के अग्रज श्री रमेशपण्ड्या जी को मैं अन्त में धन्यवाद ज्ञापित करूँगा कि वे इस पीठ के क्रियाकलापों का सम्पादन गुजरात में पूरी निष्ठा से कर रहे हैं। अपने अन्य गुर्जर भाइयों के लिए भी धन्यवाद है जो इस सत्कार्य की ओर उन्मुख हुए हैं।

अस्तु।

प्रदीपपण्ड्या

उपाध्यक्ष

भारतीय आर्यमर्यादाविज्ञानसमिति

वाराणसी

आत्मनिवेदन

आर्यमर्यादापीठ के आचार्य के द्वारा प्रणीत 'पातित्यपेटिका' ग्रन्थ अपनी अलग दृष्टि के कारण अपना अलग महत्त्व रखता है। विचार की एक स्वच्छ प्रणाली जहाँ पारस्परिक सद्भाव की प्रधानता हो, चलनी ही चाहिये। हर मनुष्य का अभ्युदय हो, निःश्रेयस प्राप्त हो, यही वेदादिशास्त्रों की शाश्वतिकी दृष्टि है। द्वेष का मूल भ्रान्ति है और भ्रान्ति अनर्थ का मूल है। भ्रान्ति के दूर होने से सभी विपरीत धारायें स्वतः परिसमाप्त हो जाती हैं। बड़ों से छोटे शिक्षा ग्रहण करते हैं, यह लोकन्याय है। शास्त्रों में चतुर्थाश्रमी सबसे बड़े माने जाते हैं अतः उनका सदाचार पूरे भूमण्डल में धर्मव्यवस्था का उदाहरण हुआ करता था। आज यह आवश्यक है कि वहाँ किसी भी प्रकार का अशास्त्रीय वातावरण न फैले और शास्त्रों के साथ-साथ उदात्तचरित्र का संवर्धन हो। बड़े-बड़े भवन समय पर ध्वस्त हो सकते हैं और आगे भविष्य में निर्मित भी हो सकते हैं, किन्तु शास्त्रीय धारा यदि समाप्त होगी तो उसका निर्माण सम्भव नहीं होगा। अतः शास्त्रसंवर्धन एवम् चरित्रनिर्माण मुख्य है। राष्ट्रिय भव्यता के लिए यतिवर्ग का ऐसा होना आवश्यक है। किसी कवि ने कहा ही है—

प्रमुक्ताशेषदुर्ग्रन्थि र्विवादापेतमानसः।
चारित्रसौरभोत्सिक्तो यतिवर्गो विराजताम्'।।

उनका पारस्परिक द्वेषलोभादिमूलक विवाद यदि त्यागादि की भावना से समाप्त होता है तो यह भारत राष्ट्र या पूरा भूमण्डल ही उनका ऋणी रहेगा, अन्यथा उनको कभी क्षमा नहीं करेगा। जहाँ प्रत्यक्चैतन्यमयता या भगवदेकपरायणता ही होनी चाहिये वहाँ क्षुद्रजनों की तरह विवाद ही करना है तो विरक्ताश्रम स्वीकार करने का क्या प्रयोजन होगा? अपने प्राकृतिक रूपों में प्रस्तर खण्डों से सुशोभित यदि नदियाँ बह ही रही हैं तो करोणों व्यय करके घाटनिर्माण की भी आवश्यकता नहीं है। प्राकृतिकच्छटा को ध्वस्त करने का पाप वहाँ प्रसक्त होगा ही। अभिप्राय यही है कि यदि दैववश विभुता प्राप्त हुई है तो उसका उपयोग अपेक्षित कार्यों में होना चाहिये, अनपेक्षित कार्यों में नहीं। अस्तु! हमें अधिक कुछ नहीं कहना है। इस संस्था में जिनकी शुभाशयता प्राप्त है उनके प्रति यह संस्था कृतज्ञता ज्ञापन करती है। जिन महापुरुषों की सम्मतियाँ

मिली हैं उनके प्रति सादर प्रणतिनिवेदन है। अयोध्या के श्री नृत्यगोपालदास जी, श्री कमलाकान्ताचार्य जी, श्रीसर्वेश्वरदास जी, श्रीरामानन्ददास जी, श्रीश्रीधराचार्य जी आदि महापुरुषों के प्रति सादर कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। अलवर के रामानुचार्य श्रीकौशलेन्द्रप्रपन्नाचार्य जी महाराज एवम् अयोध्या के श्रीविद्याभास्कर जी महाराज का अपार कृपोदन्वान् कभी भी हृदय से बहिर्भूत नहीं होगा। इसी क्रम में मैनपुरी के महामण्डलेश्वर श्रीमच्छारदानन्दसरस्वती जी महाराज की सदाशयता भी अपूर्व है। गुर्जर के आचार्य पं. हरिनारायण पण्ड्या जी एवम् श्रीपिनाकिन जी का सहयोग अविस्मरणीय है। संस्था के प्रति प्रयाग के श्रीरमाकान्त पाण्डेय जी एवम् झारखण्ड के हमारे सचिव के ही अनुज रोटरी क्लब के पदाधिकारी श्री अनिल चौबे जी का जो कुछ भी योगदान स्वेच्छया हो रहा है वह स्मरणीय ही रहेगा।

डॉ. रामसुख त्रिपाठी

उपाध्यक्ष

भारतीय आर्यमर्यादाविज्ञानसमिति

दो शब्द

जो मान्यतायें जान बूझ कर भुलायी जा रही हैं तथा मनीषियों के द्वारा स्थापित सिद्धान्तों को अन्यथा किया जा रहा है, उन्हें सुप्रतिष्ठित करने के लिए बद्धपरिकर आर्यमर्यादाविज्ञानसमिति की ओर से 'पातित्यपेटिका' का प्रकाशन यह ध्वनित करता है कि यदि किसी भी महनीय कार्य को लेकर चला जाय तो भगवान् की ओर से सहयोग प्राप्त होता है। हमें इस तथ्य को स्वीकार ही करना पड़ेगा कि समिति के प्रति हम लोगों का जो उत्तरदायित्व होना चाहिये उसका हम निर्वाह इसीलिए नहीं कर पा रहे हैं कि हमारी दृष्टि पारिवारिक प्रपञ्चों में ही अनुस्यूत होकर वास्तविक कार्य से विमुख हो गयी है। इस बात का अपार हर्ष भी है कि राष्ट्रिय सद्भावना से ओत-प्रोत हमारे आचार्य अपने वास्तविक कर्तव्य का निर्वाह कर रहे हैं। इसमें कोई भी सन्देह नहीं रह जाता है कि यदि सभी सदस्य भी अपने कर्तव्य का निर्वाह निष्ठापूर्वक करते तो समिति की स्थिति कुछ और होती। अस्तु! जैसा भी हो। प्रातःस्मरणीयचरणपङ्कज कुछ महापुरुषों के आशीर्वाद से ही सही, कार्य अपने गति पर ही है। धर्मशुद्धि के बाद पातित्यपेटिका का आगमन ही इसमें प्रमाण है। आगे के विशाल साहित्य की भूमिकायें भी तैयार हो रही हैं। कुछ विभुतासम्पन्न यतिजन प्रायः विद्वानों की यह कह कर आलोचना करते थे कि विद्वान् राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर रहे हैं। हमारे आचार्य ने उनकी उन आलोचनाओं का समुचित उत्तर दे दिया है कि वे अपने धर्म का निर्वाह कर रहे हैं। अब वे क्या कर रहे हैं? इस पर विचार करने की आवश्यकता है। अपने संकल्प को वे भूल रहे हैं। कुछ आचार्य यह भी चाहते हैं कि इन ग्रन्थों का प्रचार-प्रसार न हो। ऐसा क्यों है? इस पर गहन चिन्तन की आवश्यकता है। इतना तो स्पष्ट है कि जो समाज में लब्धप्रतिष्ठ हैं तथा शास्त्रीय सिद्धान्तों पर खरे नहीं उतरते वे इन ग्रन्थों का प्रसार नहीं चाहेंगे भले ही इनमें राष्ट्रनिर्माण की भूमिका समाहित हो। भारत में ऐसे आचार्यों की संख्या बहुतायत में है जो अपनी प्रतिष्ठा को बचाने के लिए शास्त्रीय मूल्यों की अनदेखी कर रहे हैं। शास्त्रीय मूल्यों की उपेक्षा करके अधिक समय तक प्रतिष्ठित नहीं रहा जा सकता जैसा कि हमारे आदि कवि प्राचेतस का लोक में आविर्भूत प्रथम छन्द है—

मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् कौञ्चमिथुनादेकमंवधीः काममोहितम्।।

ऐसी परिस्थिति में भी हमें अपना कार्य करना है। कार्यभ्रंशो हि मूर्खता। हमें अपनी मूर्खता का प्रमाणपत्र संसार के सामने प्रस्तुत नहीं करना है। आगे सभी सदस्यों के प्रति साधुवाद भी प्रस्तुत करता हूँ विशेषत उनके जिनसे समिति को बहुत बड़ी आशा है। उनमें सूरत के श्रीरमेश पण्ड्या जी एवम् वाराणसी के आनन्द मोहन जी मुख्य हैं। प्रभावशाली लोगों से ही ज्यादा उम्मीद की जा सकती हैं। ये दोनों माननीय शिष्ट सदस्य प्रभावशाली हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

डॉ. दिलीप चौबे
सचिव
भारतीय आर्यमर्यादाविज्ञानसमिति
वाराणसी

प्राग्वाक्

'यद्वक्त्राम्बुजनिर्झरन्मधुसुधाधारासुबद्धादरा
वीणाया रणनं विहाय वदनाम्भोजे दधानाङ्गुलिम्।
वाग्देवी गतचापला चिरतरं सन्तिष्ठते मूकवत्।
सोऽव्याद्वो भवभीतितो हरिहरानन्दाभिधः सद्गुरुः'।।

विश्व में विविधता को मिटाकर एकता स्थापित करने की मनोवृत्ति प्राणिमात्र के लिए घातक है। जगत् कभी भी एक भाषा, एक जाति, एक वेश, एक रंग का न था न है और न होगा! प्राणियों में अनेक भेद प्रत्यक्ष हैं। त्रिगुणात्मक प्रकृति में विचित्रता का मूल कारण प्राकृतिक विषमता है। सभी प्राणियों के शरीरों का निर्माण पृथ्वी जल तेज वायु एवं आकाश (स्पेस) के परमाणुओं के संयोग से होता है। शरीरों में भेद योनिभेद से भिन्न है। पशु-पक्षि-वृक्ष-गुल्मलता, अश्व-हस्ती-मेष-मूषक मार्जार शूकर-कूकर-शृङ्गाल-सिंह-महिष-गदर्भ, सर्प-मत्कुणादि विविध जीवों के शरीरों में भेद प्रत्यक्ष है। हाथी विशाल है, चींटी लघुतम है। सर्प भी जीव है, नकुल भी जीव है। इनका विरोध अमिट है। सभी जीवों का रक्त लाल ही होता है। रक्त की वर्णगत एकता होते हुए भी शरीरभेद से, योनिभेद से अनेकता अमिट है। यह भी स्पष्ट है कि गाय, सर्प, मूषक, मार्जारादि के आहार-विहार में भेद है। शाकाहारी-मांसाहारी सभी प्राणियों का रक्त लाल तथा दूध सफेद ही होता है। किसी भी प्राणी का रक्त सफेद एवं दूध काला नहीं होता। आहारों में भेद होने पर भी प्राणिमात्र का रक्त लाल एवं दूध सफेद क्यों है? सिंह अनाज क्यों नहीं खाता, गाय मांस क्यों नहीं खाती? स्पष्ट है कि 'जाति' अनेक है, एक नहीं। 'जाति' नित्य है, किन्तु व्यक्ति अनित्य है। जाति का दूसरा पर्याय वर्ण हैं। वर्णभेद एवं जातिभेद एक ही बात है। 'जातिधर्म' वर्णधर्म है। जाति ही वह पदार्थ है जो अनेकता में एकता का बोध कराती है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विषमता का मूलकारण प्रकृति के गुणों सत्त्व, रज, एवं तम का विषम विन्यास है। कालिदास का कथन है कि प्राकृतिक विषमता ही जीवन है और इस विषमता विविधता अनेकता को नष्ट कर के 'साम्य' स्थापित करना 'प्राकृतिक विषमता' के नैसर्गिक न्याय के अननुकूल है; क्यों कि साम्य ही मृत्यु तथा वैषम्य ही जीवन है। जो लोग सर्वत्र 'समतामूलक समाज' की स्थापना करना चाहते हैं उन्हें

अपनी माँ-पत्नी-बहन एवं बेटी के साथ समान व्यवहार का अभ्यास करना चाहिए। साम्यवाद मृत्युवाद है तथा वैषम्यवाद जीवनवाद है। साम्यवाद अर्थ और काम तक सीमित है किन्तु वैषम्यवाद 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' को प्रत्येक प्राणी के लिए आवश्यक मानता है। साम्यवाद सृष्टि के मूल में जड़ता को देखता है, किन्तु वैषम्यवाद सृष्टि के मूल में चेतना को देख रहा है। विना चेतना के विषम, विरोधी परमाणुओं में तादात्म्य की प्रक्रिया सम्भव ही नहीं है। हाँ, मृत्यु अवश्य होगी और मृत्यु की दृष्टि से सभी समान हैं, किन्तु मृत्यु जीवनसापेक्ष है तथा जीवन मृत्युसापेक्ष है। इसी तथ्य को हम इस प्रकार से कह सकते हैं कि प्रलय सृष्टिसापेक्ष है तथा सृष्टि प्रलयसापेक्ष है। अतः विकृति विषमता, विरोध जीवन से पृथक् नहीं हो सकते, किन्तु प्राकृतिकसाम्यावस्था ही मृत्यु है अतः 'समतामूलक समाज' एक अप्राकृतिक अवधारणा है; क्योंकि साम्य तो मृत्यु में ही है। विषमतामूलक समता ही वैज्ञानिक एवं स्वस्थ दृष्टि है। मृत्यु के पश्चात् सभी जातियों के शरीर जलाए या गाड़े जाते हैं। चेतना का अनवस्थान साम्यावस्था है। वही प्रलयावस्था या मृतावस्था है। भूमण्डल पर जीवन है तो विषमता है और विषमता है तभी तक जीवन है। जिस दिन विषमता समाप्त हो जाएगी उसी दिन सब कुछ समाप्त हो जाएगा। 'विषमता' को जीवन की स्वाभाविक अनिवार्यता मानना ही पड़ेगा। विषमता प्रत्यक्ष है लोकसिद्ध है। विगत दो-ढाई हजार वर्षों से विश्वव्यापी प्राकृतिक भौतिक विषमता को मिटाकर अनेकता को मिटाकर एकता एवं साम्य की स्थापना का जितना अधिक प्रयत्न किया गया, विषमता, असन्तुलन बढ़ा ही है। इतिहास साक्षी है कि 'महाभारत संग्राम के पश्चात् मुहम्मद विनकासीम' के सिन्ध पर आक्रमण के पूर्व तक बृहत्तर भारत में हिंसा एवं क्रूरता, भेद-भाव बढ़ा ही है। क्रूरता की पराकाष्ठा गुरुगोविन्द सिंह के दो पुत्रों को जिन्दा सरहिन्द की दीवारों में चुनवा देने से प्रत्यक्ष है। धर्मान्तरण, बलात्-स्वधर्मपरित्याग राजनीतिक कारणों से आर्थिक कारणों से हानि के भय, मृत्युभय, लाभ के लोभ से कराया गया। हिन्दूसमाज को तोड़ने, उनकी संख्या कम करके उनके अर्थ एवं काम तथा ऐहिक-आमुष्मिक सुख को नष्ट करके उन्हें ऋण, दमन एवं पराधीनता के दलदल में झोंकने के लिए भारत को तोड़ने के लिए वेदवादों के समवेत, सर्वविध प्रयोगों को समूल नष्ट करके भारत पर दासता थोपने के लिए सिकन्दर के आक्रमण से लेकर भारतविभाजन तक सर्वत्र ब्राह्मणादि चाण्डालान्त हिन्दू के धर्म-अर्थ व काम को, उनके स्वत्व को समाप्त कर उन्हें धर्महीन, अर्थहीन बनाने का कार्य वेदबाह्यों के अतिरिक्त किसी ने भी नहीं किया है। ई.पू. सातवीं शती में आद्यशङ्कराचार्य के पूर्व भी भारत में आभ्यन्तर बाह्य, प्रत्यक्षपरोक्ष प्रतिकूल परिस्थितियाँ अलग थीं।

धर्म के नाम्र पर पाखण्ड, भेद, क्रूरताहिंसा का व्यवहार, राजनीतिक पराकाष्ठा पर था। किन्तु उस समय ज्ञान-कर्म एवं उपासना तथा 'श्रुतिस्मृतिपुराण' मूलक आर्थिक राजनीतिक अर्थात् धर्मसापेक्ष पक्षपातविहीन सांस्कृतिक राष्ट्रवादी चेतना के स्रोत शाङ्कर पीठ रहे। इन पीठाचार्यों ने शास्त्र एवं शस्त्र दोनों शक्तियों का प्रयोग करके वेदबाह्यों के प्रत्यक्ष आक्रमणों का प्रतिरोध कराया। सिकन्दर के आक्रमण की सूचना पर ई.पू. ३२१ वर्ष में विद्यमान शङ्कराचार्य ने यूनानी आक्रमणों को विफल करवा दिया। सन् १८५७ की जनक्रान्ति के मूल में वेदबाह्य बाह्यों को शत्रु समझा गया। किन्तु आन्तरिक स्थिति अनेक क्षुद्र राज्यों के परस्पर विरोधों के कारण 'ईष्ट इण्डिया कम्पनी' के माध्यम से भारत में यूरोपीय उपनिवेशवाद स्थापित हुआ जिसमें धर्म-निरपेक्ष समाजवादी विचारधारा, भारतीय राजनीतिक लक्ष्य बनी। तदनुसार वेदबाह्य आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था का स्पष्ट ही धर्मसापेक्ष पक्षपातहीन सांस्कृतिक राष्ट्रवादी विचारधारा से टकराव अनिवार्य है। युवापीढ़ी को यह सम्भवत: ज्ञात नहीं है कि राष्ट्रविभाजन से लेकर १९६६ के गोहत्याविरोधी आन्दोलन तक धर्मसम्राट् श्रीकरपात्री जी महाराज 'भारत अखण्ड हो, विधान शास्त्रीय हो, गोहत्या बन्द हो, हिन्दू कोड रद हो, मन्दिरमर्यादा सुरक्षित रहे, वेदीन बेइमान कहा जाना कोई नहीं चाहता। वेदीन बेइमान राजपूत, वेदीन बेइमान वैश्य वेदीन बेइमान ब्राह्मण की अपेक्षा दीनदार ईमानदार चाण्डाल श्रेष्ठ है, इत्यादि सूत्र दुहराते रहे। वह मन्वादिशास्त्रविहित स्वधर्मानुष्ठान स्वजातीय वृत्तिद्वारा जीवननिर्वाह करते हुए भगवदाज्ञानुपालन का पुण्य अर्जित करता है जब कि वेदीन बेईमान द्विज वेदाविहित आर्थिक एवं राजनीतिक दासता अर्थात् लाभ के लोभ में धर्मपरिवर्तन के प्रवाह को तीव्रतर करने के लिए 'नवीन शास्त्र' की आवश्यकता पर इसीलिए बोल जाता है कि भारत की सनातन, धर्मसापेक्ष पक्षपातविहीन ब्राह्मणादि चाण्डालान्त आस्तिक जनता के जन्मसिद्ध जातीय धार्मिक एवं आर्थिक स्वत्व का उन्मूलन कर सके।

'राजसत्ता' के सर्वग्रासी स्वरूप का विस्तार करने में सवसे बड़ी बाधा 'शास्त्र' है, अत: शिक्षा एवम् कुप्रचार द्वारा उसे तथा उसके पारम्परिक इतिहास को मिथ्या घोषित कर सनातन आर्थिक एवं राजनीतिक स्वत्व का उन्मूलन किया जा रहा है। छद्म हिन्दूवाद, छद्म मुस्लिमवाद, छद्म इसाईवाद एवं छद्म-साम्य-स्वातन्त्र्य एवं बन्धुत्व का नारा ही 'आर्यमर्यादा' का विरोध है। कोई भी दीनदार मुसलमान या ईसाई किसी भी दीनदार इमानदार ब्राह्मण राजपूत या शूद्र का विरोधी नहीं है। बेइमान हिन्दू से इमानदार मुसलमान का राज अच्छा है। वेदीनी एवं बेइमानी 'पतन' का कारण है। स्वार्थ में सबसे बड़ी बाधा धर्म है जिसका शास्त्र से ही बोध होता

है। धर्म को जो मारता है धर्म उसे अवश्य मारता है। अतः नवीनशास्त्र के निर्माण एवं प्रयोग द्वारा प्रगति एवं विकास के नाम पर हिन्दूसमाज को ऋण एवं दरिद्रता के अतिरिक्त मिला क्या? वेदीन, बेइमान, लोभी एवं कामी ही परस्वत्वापहार कर सकता है। परस्वत्वापहरण वैध हो या अवैध सब अनार्यजुष्ट है। अस्पृश्यस्पर्श, अभक्ष्यभक्षण, अगम्यागमन, हिंसा, क्रूरता, हत्या, लूट, अपहरण, बलात्कारादि के मूल में धर्म नहीं अधर्म है, अर्थ नहीं अनर्थ है, स्वराज्य नहीं कुराज्य है। 'स्वराज्य' का स्वरूप तो—

'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्नि र्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः'।।

इस वेद में है। लोक में ऐसे शासन की स्थापना 'वेद' पुराण एवं धर्मशास्त्रप्रतिपादित आर्थिक राजनीतिक प्रयत्नों से ही सम्भव है न कि नवीन शास्त्रनिर्माण से। 'नवीनशास्त्र बनाम प्राचीन शास्त्र' का विवाद रायल एशियाटिक सोसाइटी, की देन है जिसने सनातन आचार्यपरम्परा से ब्राह्मणादि चाण्डालान्त जनता को काटने के लिए सत्ता के माध्यम से भारत के इतिहास, भूगोल, समाज संस्कृति, धर्म, अर्थ, काम, परम्परा की अनाद्यविच्छिन्न धारा को रोका तथा भारत का विभाजन कराया, निश्चित रूप से वे पतित ही कहे जाएँगे।

तात्कालिक लाभ के लोभ से आक्रान्त अभक्ष्यभक्षी अपेयपायी अगम्यागामी, व्याघ्रचर्मावच्छिन्न शृगालायमाण विद्वानों को उनके स्वरूप में स्थापित करने तथा लोकप्रसाद के मूलाधार श्रुतिस्मृतिपुराण तन्मूलक धार्मिक एवं आर्थिक विकास हेतु आचार्यपरम्पराप्राप्त सन्मार्ग को आलोकित करने के लिए भारतीय आर्यमर्यादा विज्ञानसमिति की स्थापना की गयी है। आचार्य कौटिल्य द्वारा स्थापित 'आर्यमर्यादापीठ' के पुनरुद्धार की अनुज्ञा सन् १९७७ में मुझे धर्मसम्राट् स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने दी थी। 'आर्यमर्यादापीठ' ने मौर्यसाम्राज्य के माध्यम से राष्ट्र की धर्मसापेक्ष पक्षपातविहीन सांस्कृतिक राष्ट्रवादी चेतना को व्यवस्थापित किया। गुप्त साम्राज्य की स्थापना में, कण्व, शातवाहन विक्रमादित्य, हर्षवर्धन आदि भी उसी क्रम में रहे। विजयनगरसाम्राज्य की स्थापना विद्यारण्यस्वामी ने की, समर्थगुरुरामदास ने शिवाजी के माध्यम से आर्यमर्यादा की रक्षा की। 'रामादिवत्, न रावणादिवत्' आर्यमर्यादा का सूत्र है जो 'यतेमहि स्वराज्ये' के माध्यम से लोकप्रसादन में आस्था रखता है। लोकावसादन ही अनार्य चेष्टा है। तादृश शास्त्रविरुद्ध चेष्टाओं को पतन मानते हुए पतितों से संसर्ग के कुपरिणामों से भावी युवावर्ग को सचेत करने के लिए इस पीठ के द्वितीय, अद्वितीय आचार्य डॉ.

अद्वितीय आचार्य डॉ. कमलाकान्त त्रिपाठी की उभय भारती में प्रवर्त्तित 'पातित्यपेटिका' तमस्तोमविदारण में पाशुपतास्त्र का कार्य करेगी। धर्म की व्याख्या के व्याज से शास्त्रमर्यादा की खिल्ली उड़ाने वालों के 'मुखपिधान' हेतु पातित्यपेटिका सफल हो इस मंगलाशंसा के साथ, अशेष अदूष्य वैदुष्य एवं स्नेहभाजन आचार्य कमलाकान्त त्रिपाठी को इस अद्वितीय ग्रन्थनिर्माण के माध्यम से पीठ के उद्देश्य के अग्रसारण हेतु धन्यवाद।

डॉ॰ गिरीश दत्त पाण्डेय

(डॉ. गिरीश दत्त पाण्डेय)
संरक्षक
भारतीयआर्यमर्यादाविज्ञानसमिति
अधर्मनिरपेक्षधाम,
गंगापुर बाजार, वाराणसी

पातित्यपेटिका

मङ्गलाचरणम्

अखण्डं सहजञ्चैव सच्चिदाकारविग्रहम्।
सर्वशेषितया भान्तं तमानन्दमुपास्महे।।१।।

प्रजापतिसमारम्भां शबरस्वामिमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्।।२।।

यद्विशुद्धसदाचारात् कुमार्गा बुद्धगामिनाम्।
प्रलीयन्ते नमस्तस्मै भट्टपादाय सूरये।।३।।

श्रीभूमानन्दतीर्थामलचरणरजःप्राप्तसिद्धिप्रकर्षाः
प्रत्यक्चैतन्यदृष्टिक्रकचविलुलिताशेषमायोपबन्धाः।
मर्यादायामपूर्णामखिलभुवमहो कर्तुमेव प्ररुढाः
श्रीमन्तः कल्पवृक्षा इव कलितगुणास्तेऽच्युतानन्दतीर्थाः।।४।।

विध्युद्देशैरदोषैः प्रकटितपरमापूर्वभाजां क्रियाणां
तत्तत्तीर्थेष्वकुण्ठेष्ववहितमनसा सम्प्रयोगानुवृत्त्या।
जाता लोकोत्तरा ये जगति गतिमतां प्राणिनां भव्यतायै
भ्राजन्ते तेऽपि वर्याः सहृदयहृदये विश्वनाथावधूताः।।५।।

निजसकलविधाभि र्भावयन्नागमान् नः
पशुपतिरिव लोके दिव्यदृष्टिं दधानः।
अतिशयिततपःश्रीव्यक्तसच्चिन्मुदात्मा
जयति भुवि भवानीनन्दनाख्यो यतिः सः।।६।।

श्रीविष्णोः पादपद्मप्रणयलयगुणप्रोतपुष्टप्रपत्ति-
त्रस्तारातीतिवर्गो निरयपथजुषोऽशिष्टदुष्टानरिष्टान्।
औदासीन्यञ्च धर्माद् भजत इह खलानस्यनाशु प्रपन्ना-
चार्यो रामानुजार्यो मनसि सुमनसां कौशलेन्द्रश्चकास्ति।।७।।

एतेषामप्यहो ये प्रथितगुणगणोत्कर्षभाजां विराजां
प्रत्यक्तत्त्वाहितश्रीनिरूपमविमले मानसे संगता ये।
सद्विद्याभासकत्वात् त्रिभुवनविषये भाति येषाञ्च नूत्ना।
श्रीविद्याभास्कराख्याऽधरितसुकवयो ये च काव्यक्रियासु।।८।।

तेऽनन्तश्रीविभूषाविलसितचरणद्वन्द्वपद्मत्रिदण्डि-
स्वामिस्वच्छप्रसादावलिललिततनुद्योतिताशावकाशाः।
दीव्यद्दैवानिवास्मान् सफलयितुमहो भूमिभागावभासा
आचार्या वासुदेवा दयितहरिपदाम्भोरुहा उल्लसन्ति।।९।।

(युग्मकम्)

एतद्वन्द्यकृपासिन्धुविन्दुलब्धमनोरथा।
समायाता विभातीयं लोके पातित्यपेटिका।।१०।।

अतः परं तपोभि र्वै भारतर्द्धिविधायिनाम्।
विदधामि स्तुतीः शुभ्रा गुरुणामपि साम्प्रतम्।।११।।

विद्यावदाततनुमद्भुतयोगशक्ति-
प्रादुर्भवत्सकलसिद्धिसमर्चिताङ्घ्रिम्।
धर्मोन्मुखं सकललोकमिमं विधातुं
लब्धावतारकरपात्रमहं नमामि।।१२।।

ये भूयसीं विभवसन्ततिमप्यवाप्य
निर्द्वन्द्वमाशु विजहु र्मलवत् पुनस्ताम्।
इत्थं यतीन्द्रपदमात्मनि यै र्निबद्धं
तेभ्यो नमोऽस्तु करपात्रपदाम्बुजेभ्यः।।१३।।

श्रीमद्गुरोश्चरणपङ्कजरेणुलब्ध-
सर्वागमस्फुरितशुद्धपदार्थजाताः।
राजत्स्वकीयसमुदारमहानुभावैः
काश्यां जयन्तु सततं कविराजपादाः।।१४।।

गुर्जरे नडियादाख्ये स्थाने ज्योतिर्विधायिनी।
भ्राजते साधुसम्पच्छ्रीसन्तरामपरम्परा।।१५।।

राष्ट्रर्द्धिसिद्धौ विहितप्रयासाः श्रीसन्तरामोन्नतचारुहासाः।
विद्वन्मनस्तोषभृतार्यभाषास्ते रामदासा इव रामदासाः।।१६।।

य इह खलु दयाढ्यस्वान्ततः सुप्रयुक्ता
अतिगहनगभीरग्रन्थचिन्तासु सक्ताः।
विपुलहृदयभाजोऽस्मासु चासन् ततश्री-
गुरुशशिधरमिश्रान् सादरं तान् नमामि।।१७।।

साहित्यशास्त्रविमलार्णवपारगा ये
नूनं तथैव पदशास्त्रविदो जगत्याम्।
अध्यापनैकरसिकान् रसिकालिजुष्टान्
तान् वायुनन्दनगुरुन् शिरसा नमामि।।१८।।

न्यायशास्त्रेषु निष्णाताश्छात्रानध्याप्य निर्वृताः।
पूज्यपादा जयन्त्यत्र श्रीवशिष्ठत्रिपाठिनः।।
न्यायादिसर्ववेदान्तविद्याप्राप्तमनोरथान्।
गुरुवर्यानहं वन्दे वैद्यनाथमहोदयान्।।२०।।

पुत्रानिव वटून् सर्वान् पालयामास सादरम्।
यः सदा तमहं वन्दे राजवंशिद्विवेदिनम्।।२१।।

बाल्ये योऽध्यापयामास कौमुदीं मामतन्द्रितः।
शिवगोविन्दशर्माणन्तं नमामि पितामहम्।।२२।।

विद्योतते स्म मतिमानिव जैमिनि र्यः
शास्त्रेष्कुण्ठगतिरत्र च वार्धकेऽपि।
अध्यापयद् विधृतकौतुकमेव तं वै
पट्टाभिरामगुरुवर्यमहं नमामि।।२३।।

स्वसर्वस्वबलेनैव ब्रह्मोद्यमविधायिनः।
श्रीडाह्माभाइपञ्चोलीपादाः सन्तु हृदीह नः।।२४।।

स्वसम्प्रदायोन्नतभूमिकायां कृतप्रयत्नाश्च यतीन्द्रवर्याः।
जयन्त्यमीषां जगतां गुरुश्रीरामेश्वरानन्दपदप्रवालाः।।२५।।

अखण्डानन्दपादश्रीसमुपासननिर्वृताः।
ओङ्कारानन्दपद्पद्ममहान्तो भान्तु मे हृदि।।२६।।

एतैरुदात्तपुरुषै र्मयि यत् कृतं तत्
सर्वं निधाय हृदये च विचार्य तत्त्वम्।
लोके समागतवती किल पेटिकेयं
भूयान् मुदे सुमनसां शुभदक्षिणेव।।२७।।

●

अथ प्रथमं वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थापनाधिकरणम्

निःश्रेयसाधिगमनाय यथोपदेशं धर्मानुष्ठानतत्परा आस्तिक-महानुभावा विभावितान्तरा लोकोत्तरविभाभूषिता अनारतं विलोक्यन्ते भारतभूमावेव। यद्यपि देशान्तरेऽपि धर्मपदं चकास्ति तथापि निर्मूलत्वात् देशान्तरजनता धर्ममेवानुतिष्ठतीति न वक्तुं शक्यते। भवन्ति तत्रापि धार्मिकबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानाः केचनाचारास्तथापि तान् धर्मत्वेन न स्वीकुर्वन्ति धर्मतत्त्वविदः। यस्तु शास्त्रमूलो वास्तविको धर्मः सदातनः स इदानीं कैश्चन चक्षुर्निपतितसिकतेव विभाव्यते। निजस्वार्थपोषणमात्रपराणां श्रेयःसाधनरूपेषु वेदोदितेषु धर्मेषु भूयान् विद्वेष एव दरीदृश्यते। तेषामेव दुर्भगाणां कुत्सितदृष्टौ धर्मः सामाजिकसौहार्दशङ्कुभूतस्तिष्ठति। यो हि धर्म एव न भवति स गुणायमानो हृदयपुण्डरीकमध्यास्ते। विलोक्यैव साम्प्रतिकीं लोकस्थितिं प्रस्तूयते विचारोऽयम्—

किं वेदैकसमधिगम्येन वर्णाश्रमोचितेन धर्मेण लोकसमुन्नतिविघात आहोस्वित् सुखसमृद्धिविलासः? तदर्थञ्च किं धर्ममूलस्य वेदस्य समूलोन्मूलनाय तथा तादृशधर्मप्रतिष्ठापकवर्णविभागविध्वसंनाय प्रयासो विधेयः, अथवा तत्संरक्षणाय जीवनसमर्पणमपि कार्यमिति? कथमेवंविधसन्देहावसर इत्यपेक्षायामुच्यते—

उभयविधप्रवृत्तिदर्शनेन तादृक्सन्देहस्य पुरःस्फूर्तिकत्वम्। दृश्यन्ते हि केचन वेदविदूषिकास्तद्बोधितयावत्पदार्थजातसहजपरिपन्थिनो मल-कुल्योपकण्ठनिवसतिवर्त्मसु चरन्तः कोला इव भारतक्रोडवर्तमानान्न-जलपवनपरिपुष्टाः। केचन स्वभावसुमधुरवृत्तयः समासादितभगवद्व्रतयः समुपासितसद्गुरुततयः शोभनभव्यमतयः सुन्दरीचकासत्कुचयुगलप्रतिष्ठा-प्राप्तोरःस्थलविराजमानमौक्तिकमालेव वसुन्धरावक्षसि महार्घभूषणायमानाः प्रायः समुलभ्यन्ते। अन्योन्यविरुद्धमार्गावलम्बिनां स्वमतपरिपोषणाय तथा परमतनिरासाय प्रयासबाहुल्यमपि भारते विलोक्यते। अतस्तात्त्विक-दृष्टिसम्पत्तये विचार आवश्यकः। तत्रायं पूर्व पक्षः—

दलितत्रासमूलत्वात् प्रायो विद्वेषकारणात्।
भेददृष्टिप्रधानत्वाल्लोकोच्छेदप्रसङ्गतः।।१।।

राष्ट्रैक्याखण्डताभङ्गात् तत्समृद्धिप्रबाधनात्।
वेदवर्णाश्रमाचारध्वंस एव विधीयताम्।।२।।

वेदोदितेन वर्त्मना वर्णविभागमनङ्गीकृत्य पदात् पदमपि न गन्तुं शक्यते। जाग्रति वर्णविभागे सम्भ्रान्तपदभाजामुन्नतवर्णोत्पन्नानां विलक्षणैव मनोदशा भवति। स्वकीयोत्कर्षमात्ररसिकत्वाद् धि ते दलितवर्गे न शुभां दृष्टिं वितन्वते। दलितवर्गोत्कर्षविघातप्रयासो बहुलतया तेषां भवति। एवं भूयसो मनुष्यवर्गस्य दलितस्य त्रासः सहज इवैवावतिष्ठते। तत्र च मूलं वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थैव। तस्याश्च मूलं वेद एव कौरवाणामिव धृतराष्ट्रः। सवर्णानां दलितजनतां प्रति भूयानत्याचारो वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थाया एव प्रसादः। कथयत्येवाम्बेडकरः—

'वैदिकधर्मावलम्बिनो मन्दिरप्रवेशाय अस्पृश्यान् नानुमन्यन्ते। अस्पृश्यानां मन्दिरनिर्माणे तथा तत्र भगवन्मूर्तिस्थापने नास्त्यधिकार इति वैदिका ब्रुवते। आगरानगरे कोऽपि चर्मकारः कञ्चिद् ब्राह्मणं स्वीयनिकेतने भगवन्तं नारायणं पूजयन्तं विलोक्य स्वगेहेऽप्यसौ तथाऽकरोत्। विदितसकलतद्वृत्तान्तो ब्राह्मणः प्रभूतक्रोधदहन्मूर्तिः ग्राम्यान् गृहीत्वा तं चर्मकारमुपेत्य पशुमारममारयत्। आह च कथन्नु ते विष्णुपूजायां साहससम्पत्तिरिति। पश्चात् तदीयमुखं कर्दमेन पूर्णं विधाय तमत्यजत्। हताशः किल वराकश्चर्मकारः वैदिकमार्गं परित्यज्य मोहम्मदप्रसारितमार्गमग्रहीत्। एवं दलितत्रासमूलत्वात् सनातनाख्येन धर्मेण लोकसमुन्नतिविघात एवायाति। ततश्च तत्समुन्मूलनाय प्रयासः शासकवर्गस्य कार्यताकोटिमधिरोहति। निजसमुन्नतिमुद्दिश्य स्पर्धा प्राणिमात्रस्य स्वभावः। कोऽपि सचेता मानवः कमप्यपीडयन् केनापि पथा निजसमुन्नतिं यदि वाञ्छति तदाऽसौ किमनिष्टं लोकस्य विदधाति। यदि ब्राह्मणोऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानेन भगवदाराधनेन वा किमपि लोकोत्तरं सुखमभिलषति तदा तत्सुखलिप्सया यदि कश्चिच्छूद्रो ब्राह्मणवदेवाचरति तदासौ वराकः कथमिव कदर्थनीयो भवेत्। समानाकृतयः समानशयनादिवृत्तयो मनुष्या यदि सन्ति तदा तदाचारं प्रति भिन्नैव

प्रणाली धर्मनिरपेक्षशक्तीनां चेतो विधूनयत्येव। अहो नूनं लोकविद्वेषकारी वेदोऽस्ति। सकलानर्थमूला हीयं जातिपरम्परा नर्ते वेदात् सत्तामुपेता। जातिविशेषमेवाधिकृत्य वेदः प्रवर्तते। वेदाय वेदोदितधर्मानुष्ठानाय च प्रजातन्त्र उत्कोचमिव जातिं पुष्णन्ति मर्त्या विशेषतस्त्रैवर्णिकाः। वर्णसाङ्कर्यात् तु चाण्डालस्पर्शादिव बिभ्यति ते। सङ्कुचितवृत्तिप्रायान् पशूनिव जीवनपद्धतिं बिभ्रतो हीनान् मनुष्यान् नूनं परिहरन्ति गणयन्ति चाशुभमिव। एकस्यामेव मानवजाताविायान् भेदभूधरः परस्परं विद्वेषविवर्धनाय हविर्भुजि संस्कृताज्याहुतिरिव ज्वालासमुज्जृम्भणाय प्रभुः। एवं सति वर्णाश्रमधर्मे तन्मूले वेदे चात्यन्तं क्षयमुपगत एव समतामूलकसमाजसंरचना भाविनी, अन्यथा यावत्प्रलयं परस्परविद्वेषदावानलः कथमिव निवारणीयो भवेत्। अनुभवन्ति बुद्धिजीविनो धर्मनिरपेक्षतावादिनो महात्मानो लोकस्यैव विनाशम्। कुतः? वेदस्य भेददृष्टिप्रधानत्वात्। अहो खलु वेदोऽयं सर्वतोभावेन ब्राह्मणमेव योग्यताशक्तिसचिवं मनुते। यतो हि स तमेव याजनाध्यापनप्रतिग्रहेषु नियुञ्जानो विलोक्यते।

यद्यपि स्वाध्यायाध्ययनक्रमेण क्षत्रियवैश्यावपि स्वविहिताग्निहोत्रादिधर्मेषु नियुङ्क्ते तथापि स महानुभावो वेदो याजनादिकर्मसु तावनर्हौ मनुते। ज्योतिष्टोममेव प्रथमं तावद् विलोकयतु भवान्। देवानां ब्राह्मणानां च कृते सोमरसपानव्यवस्था भवति, क्षत्रियस्तु वराकस्तत्र दीक्षितोऽपि न्यग्रोधस्तभिनीरसं पिबति। नासावधिकारी सोमरसस्य। क्षत्रियवैश्यावपि विद्यावन्तौ। निद्यैवाध्यापने याजने च निमित्तं तथापि तौ वेदेन स्वाधिकाराद् बहिष्कृतौ। परस्परसाहाय्याचरणेन यद्यपि त्रैवर्णिकाः संहता भवन्ति तथापि शूद्राणामन्त्यजानाञ्च दुर्व्यवस्थां कोप्युदारचेता द्रष्टुमपि न पारयति। ते हि वराकाः पशुभ्योऽपि हीना गण्यन्ते। तेषां समीपे स्थातुं शयितुं पातुं भोक्तुमपि नोत्सहन्ते। तदीयजलाशयजलापहरणे दण्डभाजो भवन्ति। अत एव ते समतामूलकं शाक्यमार्गं वा मोहम्मदमार्गं वा ईसामार्गं वा परिगृह्णन्ति त्यजन्ति च वैदिकमार्गं लोकक्षयकारकम्। कर्मानुसारिण्येव वर्णव्यवस्था। यदि शूद्रोऽपि ब्राह्मणवदेव संस्कारमुपेत्य स्वाध्यायमधीते अनुतिष्ठति च धर्मं तदा स ब्राह्मणतया स्वीकरणीय एव।

ब्राह्मणोऽपि यदि हीनं कर्म करोति तदा शूद्र एव। वस्तुतस्तु अप्रत्यक्षत्वात् नास्ति वर्णप्रविभागः। ततश्च वेदो हेय एवेति नाश एव तस्य तन्मूलभूतानामन्येषामपि ग्रन्थानां विधेय एव। राष्ट्रियैकताऽखण्डता या प्रजातन्त्रस्य प्राणभूतैव तिष्ठति। कथमिव वराकी जाग्रति वेदे वर्णवर्गे च स्थिरतामुपेयात्? सर्वथा भङ्ग एव तस्या भविष्यति। ततश्च राष्ट्रियसमृद्धिबाधोऽपि स्यात्। एकतामूलैव समृद्धिरिति नयतत्त्वविदो वदन्ति। एकता च वेदेनैव विभज्यत इति नूनं वसुन्धरायां वेदो गरलानोकह एव। अतस्तस्य तदुदितवर्णाश्रमाचाराणाञ्च ध्वंस एव विधीयतामिति प्राप्ते—

ब्रूमः

स्यादेवं सकलो दोषो वेदश्चेद् दोषयुग् भवेत्।
मात्सर्यग्राहगुप्तेषु ग्रन्थेष्वेवं स्थितिर्भवेत्।।१।।

वेदो ह्यपौरुषेयो नः सर्वथा दोषवर्जितः।
किञ्च तेनैव सम्भाव्या धर्माधर्मव्यवस्थितिः।।२।।

शाक्यादिदुष्टबुद्धीनां धर्मादिमूलता कथम्?
क्षुद्रस्वार्थयुतत्वात् ते ह्यव्यवस्थाविधायिनः।।३।।

ये च साधारणा धर्मा यथा सत्यादयः शुभाः।
तत्र तु भगवान् वेदो मानवान् सकलानपि।।४।।

नियुञ्जानो भवत्येव श्रेयःसम्पत्तये सदा।
यो हि धर्मो विशेषोऽस्ति तत्तद्वर्णाय चोदितः।।५।।

कथमन्यो नियोज्यः स्याद् नरकावाप्तये पुनः?
धर्मक्रियाप्रयोगेषु विध्याख्यः शब्द एव वा।।६।।

त्रैवर्णिकान् सुमनसः शिष्टानधिकरोति चेत्।
किं कुर्युस्तत्र धर्माणां व्याख्यातारो महर्षयः।।७।।

ब्राह्मणत्वादिजातेश्च प्रत्यक्षत्वन्तु वार्तिके।
प्रसाधितं प्रयत्नेन साङ्कर्यं तत्र नेष्यते।।८।।

यदि वा वर्णसाङ्कर्यं व्यभिचारोदितं भवान्।
जातिप्रथाविनाशाय व्यवस्थापयति ध्रुवम्।।९।।

अहो वत भवान् नूनं क्षुद्रकामाय नीचताम्।
आत्मनो ख्यापयत्येव साधु नैवं समाचरेत्।।१०।।

वेदैकगम्यधर्मस्य सम्यगाचरणात् तथा।
तदेकगम्याधर्मस्य हानाद् ब्रूते भवान् यदि।।११।।

लोकोच्छेदादिकं नूनं खलः स्तब्धः शठो भवान्
वेद एव महान् दोषः शाक्यादिकुकृतौ गुणः।
दृश्यते भवता नूनं हेतु स्तत्र विचिन्त्यते।।१२।।

क्षुद्रसत्तासुखास्वादे नेतु र्मग्नस्य नीचता-
ग्रन्थिप्रयुक्त्या वर्णेषु दीर्घविद्वेषवर्धनम्।।१३।।

वेदविद्वेषिणाञ्चैवं मनस्तुष्टि र्विधीयते।
अहो खल्वार्यदेशेऽस्मिन् वेदध्वंसाय चेष्टते।।१४।।

अल्पसंख्यकतावादी तद्ग्रन्थे दूषणेष्वपि।
मौनमालम्बते धूर्तो धिक् कष्टं किमतः परम्।।१५।।

वेदानुमोदितप्रायशिष्टस्मृतिप्रचोदितम्।
राजधर्मं तिरस्कृत्य गच्छन्तः कापथं किल।।१६।।

वेदवर्णाश्रमाचारदूषणे सन्ति लोलुपाः।
तत्र पूर्वोक्तहेतुभ्यो नान्यो हेतुः प्रदृश्यते।।१७।।

यत्तु वेदोदितैरेव धर्मै र्वर्णाश्रमस्थितैः।
दलितत्रासभूयस्त्वं प्रोक्तं वै पूर्वपक्षिणा।।१८।।

तत्र ब्रूमो वयं सम्यग् राज्ञो धर्माच्च्युति र्नृणाम्।
चेतांस्यकार्यकरणे पौनःपुन्येन चोदयेत्।।१९।।

राजन्यधर्मभूयिष्ठे हीनत्रासो भवेन्ननु।
साम्प्रतं हि प्रजातन्त्रं न्यायभङ्गाय विस्तृतम्।।२०।।

तत्र नूनं महामात्यै र्नैजदोषो महानपि।
अन्यत्रारोप्यते तूर्णं प्रजानां वीक्ष्य मूढताम्।।२१।।

राजतन्त्रे हि राजा नः सर्वशास्त्रविचक्षणैः।
अमात्यै र्निस्पृहैः सद्भिः धर्मतत्त्वे नियन्त्रितः।।२२।।

अधर्मप्रभवं नूनं प्रजात्रासमहन् द्रुतम्।
तस्मात् सदा सदामात्यैराराध्यो नृपति र्नृणाम्।।२३।।

प्रजातन्त्रेऽकृतात्मानः स्वार्थाय क्षुद्रजन्तवः।
वञ्चयित्वा प्रजा नूनं स्वार्थसाधनतत्पराः।।२४।।

कुर्वन्तः कुत्सितं कर्म क्षुद्रलाभाय पामराः।
भ्रामयन्ति वचोभङ्ग्या वेदवर्त्मानुगामिनः।।२५।।

एवं विभेदनीति वैं तेषां कामाय कल्पिता।
राष्ट्रमेव समुच्छेत्तुं जृम्भमाणा विलोक्यते।।२६।।

'षट्कर्मा ब्राह्मणस्तस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
इत्येतद्वेदलिङ्गोत्थन्यायसिद्धं हि वस्तु नः।।२७।।

हेतुजालं पुरस्कृत्य दूषयन्ति कुबुद्धयः।
पापास्ते नैव जानन्ति धर्मस्यालौकिकीं गतिम्।।२८।।

शाक्यादयो हि हेतून् वै स्वीकृत्य धर्मदेशनाम्।
कुर्वन्ति कामसिद्ध्यर्थं वेदे हेतु र्न दृश्यते।।२९।।

यस्मिन्नर्थे च लोभादि हेंतु र्दृश्येत कुत्रचिद्।
धर्मत्वं तस्य नेच्छन्ति दृष्टन्याया मनीषिणः।।३०।।

प्रजातन्त्रमिदं किन्ते नेक्षन्ते कामहेतवः।
यत्रोच्चैः पदलाभाय सांसदाः किन्न कुर्वते।।३१।।

सर्वे मुख्याधिकारित्वं वाञ्छन्तोऽपि बलीयसे।
भूयो द्रव्यं पदं वापि गृहीत्वा तत्त्यजन्ति वै।।३२।।

अङ्गनामधिगत्यापि सुरतस्वादवञ्चिताः।
कामार्ता इव नूनं ते प्रान्तुवन्ति च दुर्दशाम्।।३३।।

प्रधानपदवीं गुर्वीं कश्चिदेकोऽधिगच्छति।
अन्ये भवन्त्यसन्तुष्टा एतत् किं भो महाशयाः।।३४।।

स्वेष्टसंसाधनायैव हन्ति यत् प्रतियोगिनः।
इयं वः समतामूला व्यवस्था गौरवान्विता।।३५।।

यावज्जीवं दरिद्रोऽपि गृहीत्वा प्रोन्नतं पदम्।
वस्वकुप्यं समासाद्य द्रुतं मोमुद्यते कथम्।।३६।।

नूनं भवत्सुकृत्येन प्रजानां सुखमेधते।
वेदेनैव वराकेण प्रजात्रासो विधीयते।।३७।।

बलादाच्छिद्य लोकानां मताधिक्यं खला अपि।
साचिव्यलाभसंहृष्टा व्यालायन्ते प्रजाः प्रति।।३८।।

तेषु कोऽपि शठश्रेष्ठः प्रधानपदवीं गतः।
प्रजा आसाद्य मञ्चस्थो ब्रूते भ्रष्टः प्रिया गिरः।।३९।।

अहो धन्यं प्रजातन्त्रं यत्राहं शोषितोऽपि सन्।
राज्ञां पदमवाप्तोऽस्मि भवतां कृपया किल।।४०।।

तस्य श्रुत्वा वचःश्रेणीं वेणीमिव सुमोचिताम्।
प्रजाधनापहारित्वं तस्य विस्मृत्य सून्नताः।।४१।।

जनाः सर्वे प्रमुग्धास्ते करतालं वितन्वते।
प्रजातन्त्रस्य माहात्म्यं ब्रुवन्तो हर्षनिर्भराः।।४२।।

एते सर्वे महासत्त्वा वेदोक्तां धर्मपद्धतिम्।
वर्गद्विषाय राष्ट्रेऽस्मिन् खण्डयन्ति मुहुर्मुहुः।।४३।।

वस्तुतो भगवान् वेदः सकलान् मानवान् प्रति।
श्रेयः सम्पत्तिमुद्दिश्य शुभां दृष्टिं समीहते।।४४।।

एवं वेदस्य शुद्धत्वाद् मर्यादास्थापकत्वतः।
भारतप्राणभूतत्वाद् द्रढिम्नः स्वक्रियां प्रति।।४५।।

धर्माधर्मैकमूलत्वात् सौहार्दान्वितभावनाम्।
पुरस्कृत्यासुभङ्गेऽपि रक्षा तूर्णं विधीयताम्।।४६।।

न हि लोकसंग्रहख्यातिमात्रप्रयोजनको लोकं वञ्चयित्वापि सुगतादिभि भूतले प्रकटीक्रियमाणो दुर्गन्ध इव वेदोऽस्ति।

अनादिगुरुपरम्पराप्राप्तः सकलपरमर्षिशिष्टगणाद्रियमाणः खलु वेदो यस्य प्रामाण्यं नान्यसापेक्षमिति प्रसाधितमेव। पुरुषदोषदुष्टतया हि वाक्यस्याप्रामाण्यमायाति। वेदे पुरुषानुप्रवेशश्च पदपदार्थसम्बन्धद्वारेण वाक्यवाक्यार्थसम्बन्धद्वारेण भारतादिवद् वेदस्यैव वाऽपौरुषेयत्वाद् भवति। सर्वमेतद् निराकृतं तर्कचरणे। अतः पुरुषानुप्रवेशशून्यत्वात् कथं तस्याप्रामाण्यशङ्कापि येन तं प्रत्यनाश्वासः स्यात्। अतः स भगवान् यथा नियोजयति तथैव नियुज्यमानः पुरुषः फलमधिगन्तुमलं नान्यथा। नासौ भगवान् पर्यनुयोक्तव्यः कथमयमेवं विधत्त इति। सकलानेव मानवान् साधारणे सत्यादिधर्मे नियुङ्क्ते। यदि ज्योतिष्टोमादिविषये त्रैवर्णिकानेव विदुषोऽधिकरोति तदा नैव शूद्रैः क्लेशः कार्यः। तदाचरणे हि तस्यानर्थ एव पापीयान् सम्पत्स्यते। यत्र नानर्थस्तत्रर्षिभि स्तदर्थोपबृंहणप्रकारैः पुराणैस्तानुपकरोत्येव।

उक्तञ्च—

'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः'। इति।

ब्राह्मणमग्रतः कृत्वा चत्वारोऽपि वर्णाः पुराणानि शृणुयुरिति तदर्थः। न च वक्तव्यं संस्कारादिकृतो वर्णप्रविभाग इति। अनादित्वात् तस्य। इतरेतराश्रयादपि तस्यानादितेति वार्तिकारपादाः। संस्कारवशेन ब्राह्मणत्वादिप्रविभागः, ब्राह्मणत्वादिप्रविभागवशेन तत्संस्कार इतीतरेतराश्रयता। ब्राह्मणादिमातापितृजन्यत्वज्ञानसचिवं प्रत्यक्षमपि तत्र प्रवर्तत इत्यर्थवादाधिकरणे प्रथमसूत्र एव वार्तिककारपादा आहुः। एतेन वर्णप्रविभागविध्वंसनप्रयासो धर्मनिरपेक्षशक्तीनां सन्धुक्षितमुण्डे नूनमेरण्डस्नेहेन कुञ्चितकेशोद्भावनप्रयास इवैवावतिष्ठते। व्यर्थ एव तेषां कुधियां प्रयासः। अथवा सार्थक एवेति प्रतिभाति। कथमन्यथा राष्ट्रविनाशः स्यात्। को हि सचेता विश्वासमुपेयात् सनातनमर्यादां तिरस्कृत्य वर्णसाङ्कर्येण राष्ट्रसमृद्धिः स्यादिति। अध्यापनं शास्त्राणां याजनं प्रतिग्रहोऽपि ब्राह्मणस्यैव कार्यताकोटिमधिरोहति। अब्राह्मणस्तथा कुर्वाणो नूनं यावत्कल्पं कुम्भीपाकेषु पच्यत इति शास्त्रबलादेव निश्चीयते। अतः स्वे स्वेऽधिकार एव प्रयासो विधेय इति वेदतात्पर्यम्। त्रैवर्णिकैरपि

यथाशास्त्रमेव प्रवर्तितव्यम्। यदि सोमपाने ब्राह्मण एव क्षत्रियस्तु न्यग्रोधस्तभिनीरसपान एवाधिक्रियमाणो वेदेन दृष्यते स्मृतिरपि तथाभूतैवास्ति तदा धर्मनिरपेक्षसत्त्वानामनवसर एव चेतसो दूयमानता महिषीगर्भविमोचने तत्पुत्रगुह्यव्यथेव। हन्त! अकारणमेव वैरभावस्त्रैवर्णिकेषु केवलाल्पसंख्यकमतापेक्षिणाम्। कलहस्तु भ्रातृणामेकजातानां लोके विलोक्यते। यदि प्रजानां भवेत् तर्हि राजदण्डेन निवारणीयो भवति। नात्र वेदतदुदितवर्णाश्रमधर्मापराधः। वेदतद्गम्यधर्मालोचनायै हीनेषु त्रैवर्णिकप्रयुक्तात्याचारोद्भावनं वैदिकतामूलकतया केषाञ्चिद् यदस्ति तत्रोच्यते—

वेदैकगम्यधर्माणामतिक्रमवशात् पुनः।
योऽयं भवेत् कदाचारः शासकस्तत्र दुष्यति।।४७।।

तस्य प्रमादभूयस्त्वात् स्वेच्छाचारः प्रजासु यः।
शासकेनैव वा तस्य प्रतीकारो विधीयते।।४८।।

दण्डः प्रजापितित्वेन समाख्यातो महीतले।
दण्डभीत्यैव सर्वेऽपि भवन्ति नयगामिनः।।४९।।

दण्डप्रयोगविद् राजा माननीयो भवेद् ध्रुवम्।
अन्यया नरके तस्य निवासं मनुरब्रवीत्।।५०।।

'अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्याँश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकञ्चैव गच्छति।
एतस्मात् कारणादेव सदामात्यैः समन्वितः।
कुर्वन् सदा निजं कर्म यशस्वी स महानभूत्।।५१।।

यदा स एव दुर्भागैश्चाटुकारैः समावृतः।
आलम्बते कदाचारं भ्रष्टाचारस्ततो भवेत्।।५२।।

'स दोषः सचिवस्यैव यदसत् कुरुते नृपः।
यान्ति यन्तुः प्रमादेन गजा व्यालत्ववाच्यताम्।।५३।।

इति प्रसन्नगाम्भीर्यसूक्तिद्वारा विदांवरः
तत्त्वं विशाखदत्तोऽपि प्रोक्तवान् स्वीयनाटके।

सूचकाश्चाटुकारा हि साधुनिन्दाविधायिनः
शासकं सद्गुणाख्यातं कुर्वन्त्यन्धं निरङ्कुशम्।।५४।।

तत्प्रभावात् प्रजायेत प्रबलैरेव दारुणैः।
दुर्बलत्रासबाहुल्यं नात्र धर्मस्य हेतुता।।५५।।

एवं सत्यपि तथ्यं ये त्वपहनुत्य कुमार्गिणः।
आलोचयन्ति वेदं वा वर्णधर्मांस्तदुद्भवान्।।५६।।

नूनं वैदेशिकैस्तेषां वेदतन्मार्गरोधिभिः।
राष्ट्रविध्वंसनायैव गुप्तसन्धि र्विलोक्यते।।५७।।

येऽपि च नास्तिका दुष्टाः पूर्वमासन् विदूषकाः।
वेदानां तान् वै सर्वान् शस्त्रकाराः सुमेधसः।।५८।।

न्याययुक्तीः समाश्रित्य निराकुर्वन् नृशान्तये।
अद्यापि ते कदाचारा निराकार्याश्च वैदिकैः।।५९।।

तुच्छपीठैकलाभाय वेदधर्मनिराक्रिया।
दुष्टै र्विधीयते यत्तु तद्वै भारतदूषणम्।।६०।।

वेदैकमार्गनिष्ठानामस्तित्वं वाऽपलप्यते।
वेदमात्रेण राष्ट्रस्य समृद्धि र्यै र्न ज्ञायते।।६१।।

'व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति।
इत्येवं सूरिवर्येण कौटिल्येन महात्मना
लोकप्रसादभूयस्त्वं वेदेनैवेति भाषितम्।।६२।।

सिद्धमेतदतो वेदवर्णाश्रमविखण्डनम्।
पापिष्ठैरेव दुष्टात्मतुच्छस्वार्थै र्विधीयते।।६३।।

प्रयोजनन्तु राष्ट्रविनाशकरणं पूर्वपक्षे सिद्धान्ते तु भूमण्डले भारतस्याक्षय्यसमृद्धिसंवर्धनमिति सिद्धान्तपक्षप्रतिपादनेनैव स्पष्टम्।

।।इति पातित्यपेटिकायां प्रथमं वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थापनाधिकरणम्।।

अथ द्वितीयं समुद्रयात्रायाः पातित्यप्रयोजकत्वाधिकरणम्

'विधेरेव धर्माधर्मयोः स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यमिति चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' इति धर्माधर्मप्रामाण्यप्रतिपादनपरसूत्रेऽवधारणद्वयदर्शनादवगम्यते। चोदना प्रमाणमेव न त्वप्रमाणमिति तद्बोध्यस्याग्निहोत्रादे धर्मत्वमस्त्येव न तु नास्तीति धर्मसामान्यलक्षणमप्यर्थात् सिध्यति। चोदनैव प्रमाणं न प्रत्याक्षादिरिति तद्गम्यस्याग्निहोत्रादेरेव धर्मत्वं न चैत्यवन्दनादेरतद्-गम्यत्वादिति धर्मविशेषलक्षणमपि। तदेकवाक्यत्वादङ्गत्वाच्चार्थवादमन्त्र-योरपि प्रामाण्यं व्यवस्थितमस्ति। विधिसिद्धा अपि धर्माः पुरुषसामर्थ्यवशेन तत्तदधिकारिणः प्रति व्यवस्थिता अपि युगविशेषे वर्ज्या भवन्ति। तदनुष्ठाने सामर्थ्याभावादेवेति—

'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी'त्यभियुक्त-वचनेनावसीयते। निषेधविषयविषयकत्वेनैवं केचनाभ्यनुज्ञाता अपि देवरकर्तृकसुतोत्पत्तिप्रभृतयः कलिवर्ज्या भवन्ति। स्मृतिशास्त्रेण निषिद्धानि कर्माणि आचारपरम्परायां वर्तमानान्यपि न धर्मपदवाच्यतामञ्चन्ति। एतत्तु—

'अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्' इत्यत्र वार्तिक एव प्रपञ्चितम्। यस्मिन्नाचारे लोभादिकारणमन्वेषणे कृतेऽपि न विलोक्यते स आचारो धर्म एव, यत्र तु लोभादिकारणं दृश्यमानं भवति तत्र न धर्मता। यथा मातुलकन्याविवाहे समुद्रयातु द्विजस्य कृतप्रायश्चित्तस्यापि ज्ञातिभिः स्वीकारे कलौ युगे। समुद्रयात्रा लोभादिसमवधान एव भवति। एवं मातुलकन्यापरिग्रहोऽपि। अद्य तावत् वायुयानेन म्लेच्छदेशगमनप्रवृत्ति दृश्यते जनस्य। ज्ञातयोऽपि तं न परित्यजन्ति।

अत एव विषयममुमुद्दिश्यैव विचारो विधीयते लोकभ्रान्तिनिरासाय। किं समुद्रोलङ्घेन पाश्चात्यदेशगमनं पातित्यप्रयोजकमुत नेति? तदर्थं च

तस्याधर्मत्वमुत नेति। कुतः संशयः? शिष्टत्वाभिमानिभिरपि तद्यात्रायाः क्रियमाणत्वाद् भवत्येव संशयः। यद्यधर्मः स्यात् समुद्रोल्लङ्घनं ततः कुतः शिष्टानां प्रवृत्तिः स्यात्? सामुद्रिकस्य श्राद्धभोजननिषेधात् तस्या अब्धियात्राया अधर्मत्वबुद्धिरपि भवति। एवं संशये जायमाने किं तावत् प्राप्तम्? उच्यते—

वेदेनाप्रतिषिद्धत्वाच्चारित्रस्योपत्तये।
ब्राह्मणानामनुज्ञानाद् दोषाभावाद् विमानतः।।१।।
विश्वबन्धुत्वसिद्धेश्च नाब्धियात्रा द्विजन्मनाम्।
अधर्मः स्यात्तथा नापि पातित्यस्य प्रयोजिका।।२।।

द्विजन्मनां त्रैवर्णिकानामपि समुद्रयात्रा नाधर्मः नापि पातित्यप्रयोजिका। कुतः? वेदेनाप्रतिषिद्धित्वात्। न हि तादृशो वेद इदानीमुपलभ्यते यत्र समुद्रयात्राप्रतिषेधो दृष्टिगोचरः। तथा सत्यप्रतिषिद्धैव समुद्रयात्रेति गम्यते। एवं सति प्रयोजनविशेषेण तत्कर्तव्यताऽयत्नसिद्धैव चाटुप्रयोगेण धनप्रयोगेण वा साम्प्रतिकपदप्रतिष्ठेव। अपि च पृथिव्यां वर्तमानानां पुरुषाणां स्वस्वचारित्र्यशिक्षणाय ब्राह्मणेभ्योऽस्त्येवाभ्यनुज्ञा सर्वज्ञकल्पस्य भगवतो मनोः। तथा चाह स एव भगवान्—

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

एतत् सर्वं नर्ते समुद्रगमनात् सम्भवति। सर्वत्र वेदैकसमधिगम्यो धर्मः प्रसरेदित्येवं कर्तव्यैव समुद्रयात्रा विशेषतो वैदिकब्राह्मणैः। अपि च नौयात्रा प्रतिषिद्धत्वेन गम्यते कलिवर्ज्यप्रकरणे न विमानतः। तथा च वचनम्—

'द्विजस्याब्धौ तु नौयातुः शोधितस्यापि संग्रहः'।।इति।

कलौ नेत्यर्थः। समुद्रस्य नाव्यत्वे नैकविधविघ्नसत्त्वात् कालाधिक्याच्च नित्यनैमित्तिककर्मलापेन पातित्यसम्भावनया प्रायश्चित्तोपत्तिः। कलौ प्रचुरकालं कर्मलोपनिमित्तिकदुरितबाहुल्यात् प्रायश्चित्तेनापि तदक्षयात् ज्ञातिभि स्तस्य त्याज्यता सुतरामुपपद्येत। सम्प्रति तु विज्ञानप्रयत्नचमत्कारबहुले लोके विशेषविमानेन स्वल्पकालेनैव

समुद्रमुल्लङ्घ्य अमेरिकादिदेशप्राप्तिसम्भवात् स्वकार्यकरणे धर्मप्रचारे च दोषाभावात् कर्तव्यैव सा। एतत्तु राष्ट्रियसमृद्धिसम्पादनस्याप्युपलक्षणम्। वैदेशिकमुद्रासञ्चयो राष्ट्रविभुतासम्पादनहेतु र्नूनमेव। यो हि गच्छेत् स नूनं वैदेशिकमुद्रा आनयेदेव। तथा सति राष्ट्रसमृद्धिः परिवर्धेत। विश्वबन्धुत्वसिद्धिरप्येवं भवेत्। तथा चोक्तम्।

'अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्'।। इति।

पूर्वन्तावत् सार्वभौमो राजाऽसीत्। तदा तस्यैव शासने सम्पूर्णा वसुन्धराऽऽसीत्। तद्वंश्यानामेव तत्र तत्र विभागः समजनि सौकर्यायेति पुराणादिषु प्रसिद्धम्। अतः सङ्कुचितां दृष्टिं व्युदस्य बहुगुणस्वारस्याच्च कर्तव्यैव समुद्रयात्रा। तथा च गच्छन्त्येव द्विजन्मानो यतिप्रवरा वैष्णवा अपि तथाकथितपीठसमाश्रयाः। आचार्या अपि स्वामिनारायणीया-स्तत्साधवश्च तथा पाङ्क्तेया यथावसरं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति च समीहितमर्थजातमुपदिशन्ति च धर्मतत्त्वं भारतस्य लोकोत्तरतामापादयन्तः। तेऽधुना ज्ञातिभिः पूज्यन्ते न स्वप्नेऽपि त्यज्यन्ते च। अतस्तद्विद्वेषकाः पाखण्डिन एव वराकाः। इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

कलिवर्ज्यतया तस्या दोषवत्त्वस्य निश्चयात्।
वार्तिके च तथा सम्यक् त्यागपक्षपरिग्रहात्।।२।।
प्रतिषेधैकवाक्यस्य श्रूयमाणतया क्वचित्।
यात्रा सामुद्रिकी नूनं पातित्यस्य प्रयोजिका।।३।।

समुद्रयातुः कृतप्रायश्चित्तस्यापि स्वीकारस्य कलिवर्ज्यप्रकरणे वर्जनीयत्वेन वर्णितत्वात् सामुद्रिकी यात्रा पातित्यस्य प्रयोजिकैवेति दोषाधिक्यान्निश्चीयते। तथा च कर्मणा पातित्यमिति हेमाद्रौ शतातपः।

'कृते सम्भाष्य पतति त्रेतायां स्पर्शनेन तु।
द्वापरे त्वन्नमादाय कलौ पतति कर्मणा'।।

तथा च—

त्यजेद् देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुत्सृजेत्।
द्वापरे कुलमेकन्तु कर्तारं तु कलौ युगे'।। इति।

अत्र 'कर्तुस्त्यागविधानेन तदीयसाक्षात्संसर्गस्य यथाप्राप्तनरकहेतुतया दृढीकरणादित्याहु धर्मतत्त्वविदः श्रीमदनन्तदेवाः। एवं यस्य समुद्रोल्लङ्घनपूर्वकम्लेच्छदेशयातुः संसर्गोऽपि नरकप्राप्तिहेतु स्तस्य पातित्ये शङ्कैव न कर्तव्या। पतित एवासौ भवति सर्वधर्मानुष्ठानवर्जितो वराकः पाश्चात्यदेशं गच्छन् मदनाविर्भावमूर्च्छितः कामीव वनिताकुचकलशयोः।

कलिवर्ज्यानि तावद् बृहन्नारदीये—

'समुद्रयातुः स्वीकारः कमण्डलुविधारणम्।
द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमस्तथा।।

दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुन र्दानं परस्य च।
मांसदानं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा।।

देवराच्च सुतोत्पत्ति र्मधुपर्के पशो र्वधः।
दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ।।

महाप्रस्थानगमनं गोमेधश्च तथा मखः।
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहु र्मनीषिणः।।

तथा च हेमाद्रावादित्यपुराणे—

'विधवायाः प्रजोत्पत्तौ देवरस्य नियोजनम्।
बालायाः क्षतयोन्यास्तु वरेणान्येन संस्कृतिः।।

कन्यानामसवर्णानां विवाहश्च द्विजन्मभिः
आततायिद्विजाग्र्याणां धर्मयुद्धेन हिंसनम्।
द्विजस्याब्धौ तु नौयातुः शोधितस्यापि संग्रहः
सत्रदीक्षा च सर्वेषां कमण्डलुविधारणम्।।

महाप्रस्थानगमनं गोसंज्ञप्तिश्च गोसवे।
सौत्रामण्यामपि सुराग्रहणस्य च संग्रहः।।

अग्निहोत्रहवण्याश्च लेहो लीढापरिग्रहः।
वृत्तस्वाध्यायसापेक्ष्यमघसङ्कोचनन्तथा।।
प्रायश्चित्तविधानञ्च विप्राणां मरणान्तिकम्।
संसर्गदोषः स्तेयाद्यन्यमहापातकनिष्कृतिः।।

एतानि लोकगुप्त्यर्थं कलेरादौ महात्मभिः।
निवर्तितानि विद्वद्भि र्व्यवस्थापूर्वकं बुधैः।।

न चात्र वेदे निषेधाभावान्न दोष इति वाच्यम्। यतो हि साधूनां समयस्यापि वेदवदेव प्रामाण्यमुक्तम्—

'समयश्चापि साधूनां प्रमाणं वेदवद् भवेत्'। इति।

वैदिकेभ्यः 'नान्तमियात् न प्रत्यन्तमियादिति श्रूयते एव प्रतिषेधः।

अत्रान्यान्यपि कलिवर्जनीयत्वेन चोदितानि कर्माणि सन्ति। जिज्ञासुभिस्तानि हेमाद्र्यादिग्रन्थेभ्योऽवगन्तव्यानि। प्रकृतमुपसरामः।

यत्तूक्तं विमानविशेषेण यात्रायां न दोष इति। तन्न। साध्यकोटिकोऽयं यात्रानिषेधो न साधनकोटिक इत्याहुरस्मदुपाध्यायाः श्रीमनुदेवभट्टाचार्याः। कुत एवमिति चेत्? श्रूयताम्। 'समुद्रयात्रास्वीकार' इति सामान्येन समुद्रयात्राया निषेधावगमात्। तीर्थोद्देश्यकयात्रानिषेध इति तीर्थयात्राऽतिदूरत इति माधवोदाहृतवचसैकमूलश्रुतिकल्पनालाघवात्। तीर्थोद्देशेनापि चातिदूरेऽर्थात् पारेसामुद्रं न गच्छेदिति यदा निषेध स्तदा दृष्टलोभादिमूलकयात्रायाः सुतरां निषेध इति तात्पर्यमवसीयते। अपि च भारत एव यदा तीर्थोद्देशेन क्रियमाणा यात्रा भवेत् तदा न पातित्यं यदा च लोभादिमूलकतया विधीयते तदा पुनः संस्कारविधानात् पातित्यमवगम्यते किम्पुनः सर्वथा सर्वविधभ्रष्टप्रायजन्तुबहले देशे। तथा चोक्तमेव—

'अङ्गबङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना यातः पुनः संस्कारमर्हति'।। इति।

अत्र तीर्थानुद्देश्यकयात्रा पद्भ्यामेव शकटेनैव वा दोषावहा, न विमानेन हनूमत इव मानसेच्छया वेति वक्तुं शक्यते? कथमपि न। तेषु विषयेषु प्राप्तिमात्रस्य दोषवत्त्वात्। इयाँस्तु विशेषः। तीर्थानुद्देश्यकाङ्गादियात्राप्रयुक्तपातित्यस्य क्षपणहेतुः प्रायश्चित्तात्मकः पुनः संस्कारोऽस्ति विहितः संस्कृतस्य च ज्ञातिभिः स्वीकारोऽपि। समुद्रोल्लघनपुरःसरम्लेच्छबहुलपाश्चात्यदेशयात्राप्रयुक्तपातित्यस्य क्षपणहेतुः संस्कारः स्वीकारश्च ज्ञातिभिरित्युभयं नास्ति। 'शोधितस्यापि संग्रह' इति वचनेन तथैवावगमात्।

अनेन धर्मोपदेशार्थं वैदेशिकमुद्रानयनद्वारा राष्ट्रसमृद्धिपरिपोषणार्थं तद्यात्राया अवश्यकर्तव्यताऽवगम्यते इति यदुक्तं तदपि परास्तं वेदितव्यम्। भारत एवागत्य तेषां स्वस्वचारित्र्यशिक्षणोपपत्तेः शूद्रादिमाध्यमेन वैदेशिकमुद्राधिगमसम्भवाच्च।

अपि च श्राद्धे सामुद्रिकस्याधिकाराभावोऽपि पुराणेषु विद्यमानो द्योतयत्येव तस्य पातित्यम्। तथा हि भारते दानधर्मेषु श्राद्धवर्ज्यविप्राधिकारे—

कितवो भ्रूणहा यक्ष्मी पशुपालो निराकृतिः
ग्राम्यप्रेष्यो वार्धुषिको गायकः सर्वविक्रयी।
सामुद्रिको राजभृत्यस्तैलिकः कूटकारकः
पित्रा विवदमानश्च यस्य चोपपति र्गृहे।।

अभिशस्तस्तथा स्तेनः शिल्पं यच्चोपजीवति।
पर्वकारश्च सूची च मित्रधुक् पारदारिकः।।

अव्रतानामुपाध्यायः काण्डपृष्ठस्तथैव च।
श्वभिश्च यः परिक्रामेद् यः शुना दष्ट एव च।।

परिवृत्तिस्तथा स्तेनो दुश्चर्मा गुरुतल्पगः
कुशीलवो देवलको नक्षत्रै र्यश्च जीवति।
ईदृशा ब्राह्मणा ज्ञेया अपाङ्क्तेया युधिष्ठिर!।।

आपाङ्क्तेयाः पङ्क्तावव्यवहार्या इत्यर्थः। अपि च तन्त्रवार्तिके श्रीभट्टपादानां समुद्रयात्रायास्त्यागपक्षस्यैव परिग्रहात् तस्या अधर्मत्वं पातित्यप्रयोजकत्वञ्च गम्यते। अन्यथा सकलशास्त्रार्थतत्त्वदर्शी वार्तिककारः कथमेवं प्रतिपादयेत्। तथाहि-बौधायनेन 'पञ्चधा विप्रतिपत्तिः दक्षिणतः, अनुपनीतेन च भार्यया च सह भोजनं पर्युषितभोजनं पितृष्वसृमातुलदुहितृपरिणयनमिति। तथोत्तरतः पञ्चधा ऊर्णाविक्रयः सीधुपानमुभयतो दद्भिर्व्यवहार आयुधीयकं समुद्रयानमिति' इति विरुद्धशिष्टाचरणान्यनुक्रम्य इतर इतरस्मिन् कुर्वन् दुष्यति नेतरस्मिन् देशप्रामाण्यादित्यनेनापस्तम्बोक्तमेवोपन्यस्य मिथ्यैतदिति गौतमः, उभयं त्वेतद् नाद्रियन्ते शिष्टस्मृतिविरोधदिति निराकृतम्। एतस्य सर्वस्यैव

दुराचारत्वं तन्त्रवार्तिके प्रतिपादितम्। मातुलकन्यापरिणयवत् तेन समुद्रयात्राया अपि पातित्यप्रयोजकत्वमधर्मत्वञ्चेति सिद्धत्येवायत्नत इति श्रुतिस्मृतिप्रतिषेधबलेनावगम्यते।

एतेनेदानीं द्रव्यादिलोभप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वादाधुनिकानां यतीनां तथाकथितपीठसमाश्रयाणां वैष्णवानां पाङ्क्तेयानाञ्च विप्राणां समुद्रयात्रा गर्हणीयतामुपैत्येव पारलौकिकसकलफलपराङ्मुखानाम्। ततः किमित्युच्यते—

तेनैवं स्थितमेवैतत् संसर्गोऽज्ञानतो यदा।
सामुद्रिकैस्तदा कृत्वा प्रायश्चित्तविधिं पुनः।।५।।

पारलौकिकधर्मोऽत्र कर्तव्योऽधिकृतै र्जनैः।
अन्यथा, क्रियमाणोऽपि नासौ धर्मः फलप्रदः।।६।।

यदि बुद्धिपूर्वकं मोहजाड्यात् संसर्गं सामुद्रिकैः सह कुर्यात् तदा नेह प्रायश्चित्तेनापि शुद्धिरित्यर्थाद् गम्यते। भवन्ति चात्र संग्रहश्लोका—

आत्मनः श्रेय इच्छन् वै मतिमान् धर्मवित् सदा।
समुद्रयातुः संसर्गं वार्धके मैथुनं यथा।।७।।

विवर्जयेत् प्रयत्नेन धर्मानुष्ठानतत्परः।
शिष्टा हि संगतिं नैव कुर्वन्ति पतितैः सह।।८।।

दैवे पित्र्ये तथा नित्ये धर्मे नैमित्तिकेऽपि च।
नित्याधिकारसिद्ध्यर्थं भ्रष्टास्त्याज्या मनीषिभिः।।९।।

'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामार्थे च कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथवीं त्यजेत्।।१०।।

इत्येवं भूयसां नीति श्चोदिताऽनुग्रहात्मिका।
ग्राह्या शिष्टैः सदा भक्त्या श्रेयोमार्गस्थितैरिह।।११।।

नीरजस्कां स्त्रियं को हि बुद्धिमान् भूषितामपि।
मन्मथाक्रान्तदेहोऽपि वाञ्छेत् स्वास्थ्यविरोधिनीम्।।१२।।

प्रयोजनन्तु विशेषतः पूर्वोत्तरपक्षाभ्यामेव प्रतिपादितं वेदतिव्यम्।

।।इति पातित्यपेटिकायां द्वितीयं समुद्रयात्रायाः पातित्यप्रयोजकत्वाधिकरणम्।।

अथ तृतीयं पतितानां सामान्यधर्माधिकारव्यवस्थापनाधिकरणम्

पूर्वाधिकरणे कलौ सद्भिः सर्वथा त्याज्यानां समुद्रलङ्घनकर्तॄणान्तथाऽन्येषामपि ब्रह्मवधसुरापानग्रामकुक्कुटतदण्डभक्षकाणां संसर्गत्यागः 'प्रतिपादितः। तत्र पतितसंसर्गिणान्तथा तथाविधपारलौकिकशुद्धिशून्यानां तद्युक्तलौकिकशुद्धिशून्यानाञ्च पतितानां धर्मविषयकव्यवस्थाविधानार्थमिदन्तावद् विचार्यते—किं तथाविधपतितानां सर्वविधधर्मानधिकारिता उत सामान्यमानवमात्राचरणीयं धर्ममनुष्ठातुं शक्नुवन्ति त इति? कुतः सन्देहावसरः? धर्मस्य चोदनामात्रगम्यत्वाच्चोदनायाश्च त्रय्यन्तर्गत्वाद् वैदिककृत्यबहिष्करणीयत्वेनाग्निहोत्रसन्ध्यावन्दनादिवत् सत्यादिसामान्यधर्मेभ्योऽपि तेषां बहिष्करणीयता तथा विशेषाग्निहोत्रादिधर्मेषु विशेषयोग्यताया अपेक्षितत्वेन तादृश-योग्यताया निरस्तत्वात् विशेषधर्माधिकाराभावेऽपि सामान्यसत्यादिधर्मानुष्ठाने बाधकाभावाद् भवत्येव सन्देहः। किन्तावत् प्राप्तम्? सर्वविधधर्मानधिकारितेति। कुतः? उच्यते—

> **धर्माधिकारे सर्वस्य संस्कारापेक्षिता ध्रुवम्।**
> **तदभावे कृतो धर्मः कथं वै फलयुग् भवेत्।।१।।**
> **संस्कृतस्यापि पातित्यात् संस्कारो निष्फलायते।**
> **अत एव यथाशास्त्रं प्रायश्चित्तीयते नरः।।२।।**
> **'प्रायश्चित्तेन नश्यन्ति पापानि सुमहान्त्यपि'।।**
> **प्रायश्चित्तशतेनापि यस्य शुद्धि र्न जायते।**
> **कथङ्कारं भवेत्तस्य लोके धर्माधिकारिता।।३।।**
> **निष्फलत्वात् ततः सर्वे पातित्यपङ्कदुर्मुखाः।**
> **संसर्गिणोऽपि दूरे स्युः सत्यदानादिधर्मतः।।४।।**
> **संस्कारव्रतपूर्णा ये ये च सद्वृत्तशालिनः।**
> **धर्मज्ञसमयोपेतास्तेषां सत्यादयः शुभाः।।५।।**

धर्मज्ञसमयो यैस्तु त्यज्यते वै पदे पदे।
तेषामुदरतुष्टानां धर्मानुबन्धिता कुतः।।६।।

अत्र पतितसंसर्गत्यागविधानेन तदीयसाक्षात्संसर्गो यथाप्राप्तनरक-हेतुरिति नास्ति विप्रतिपत्तिः। संसर्गिणस्तथाविधस्य संसर्गप्रयुक्तनरक-निवारणप्रायश्चित्तमपि नास्तीति विपश्चिद्न्यायानुप्राणित-व्याख्यानपर्यालोचनादवगम्यते। संसर्गिसंसर्गस्तु युगत्रये दोषाधायकोऽपि कलौ सम्भाषणादिरूपोऽसौ न दोषावह इति यद्यपि निश्चीयते तथापि शिष्टव्यवहारे संसर्गिणि विवाहादिव्यवहारः परिह्रियत इति कृत्वा पतितविषयकधर्मव्यवस्थापनार्थेऽस्मिन्नधिकरणे संसर्गिणोऽपि परिगृहीता इति सूरिभि र्नात्र नासिकासङ्कोचः कार्यः। गर्भाधानादिसकलापेक्षितसंस्कारा जनस्य धर्माधिकारयोग्यतासम्पादनाय व्रीह्यादिसंस्कारवदुत्पत्त्यपूर्व-सम्पादनाय भवन्ति। असत्येवं संस्कारविधायकवचनानि निरर्थकान्येव भवेयुः। धर्माधिकारे संस्कारपेक्षा निश्चीयत इत्यर्थात् तदभावे धर्मस्य फलानुबन्धित्वाभावः। तथा सति संस्कारविहीनेन पुंसा क्रियमाणो धर्म एव न भवति। संस्कृतेनैव पुंसाऽनुष्ठीयमानस्य धर्मत्वस्वीकारात्। संस्कारसंस्कृतोऽपि धर्मज्ञसमयोलङ्घनात् दोषबहुलात्यन्तविगर्हित-कर्माचरणाच्च पतितो भवति। पातित्याच्च संस्कारः पूर्वं कृतोऽपि क्लैव्यमापन्नस्य सुरतसम्पादनाक्षमत्वमिव धर्मत्वविघातकत्वेन निष्फलतामापद्यते। तत्साफल्यं विधातुमेव नरः प्रायश्चित्तार्हतामुपयाति यथाविधानम्। तस्य महापापनाशकत्वेन शास्त्रेषु व्यवस्थितत्वात्। यस्य प्रायश्चित्तशतेनापि शुद्धि र्न श्रूयते नापि स्मर्यते तस्य कथं लोके धर्माधिकारः स्यात्? ननु विशेषधर्मेषु सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादिलक्षणेषु संस्कारापेक्षितत्वेन तत्राधिकारासम्भवेऽपि व्रतोपवासतीर्थस्नानसत्यवदन-दानानसूयाधृतिदमादिलक्षणेषु सामान्यधर्मेषु तदपेक्षाविरहात् कथं तेषामधिकारो न सिद्ध्येदिति चेत्? न। एवं सति शूद्रप्रभृतीनां मुण्डनविवाहादिसंस्कारो न सिद्ध्येत्। शास्त्रे तेषामपि संस्कारस्य यथापेक्षितं श्रुतत्वात् सामान्योक्तधर्मेष्वपि संस्कारापेक्षिता भवत्येव। न च तेषामपि क्वचिद् विशेषधर्मसम्पादनायैव संस्कारविधानं न तु सामान्यधर्मसम्पादनायेति वाच्यम्। सर्वथा विशेषधर्माधिकारशून्यानां

चाण्डालप्रभृतीनां विवाहादिसंस्काराभावप्रसङ्गात्। एवं संस्काराणां सामान्यधर्मोपयोगिता नापलपितुं शक्येति पातित्यपङ्कदुर्मुखाणां तत्संसर्गिणाञ्च सत्यदानादिधर्माणामपि निष्फलत्वात् ते तेभ्यो दूर एव भवेयुरिति। सत्यादयो हि धर्माः संस्कारव्रतपूर्णानां सदाचारनिष्ठानां धर्मज्ञसमयोपेतानामेव ब्राह्मणादिचाण्डालपर्यन्तानां वैदिकमार्गानुगामिनां शुभावहा भवन्ति, न तद्विपरीतानां पदे पदे धर्मज्ञसमयत्यागोत्साहसम्पन्नानां लोभैकदृष्टीनामुदरपरिपोषणमात्रतुष्टानाम-धोवर्त्मगामिनां वराकाणाम्। अतस्तेषां न केनापि प्रकारेण धर्मानुबन्धिता सिद्ध्यतीत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

नित्यनैमित्तिकत्वाभ्यां काम्यत्वेन तथा पुनः।
धर्माणां सुव्यवस्था हि शास्त्रेषु परिदृश्यते।।७।।
त्रिधा व्यवस्थिता धर्मा उभयरूपतया श्रुताः।
सामान्यकाम्यधर्मेषु दोषो नास्त्यकृतेष्वपि।।८।।
यद्यपीह तथा सम्यक् आद्ययो र्विरहे सति।
प्रत्यवायप्रसक्ति र्वै वारणीया कथं भवेत्।।९।।
पातित्येऽपि पुनश्चैव प्रत्यवायजिहासया।
सत्यदानादिधर्मेषु युज्येरन् पतिताः सदा।।१०।।
प्रगाढान्धतमिस्रायां पुनः पातो न युज्यते।
सत्येवं ते पुन र्नूनं नाचरेयु र्विधर्मिताम्।।११।।
सत्याचारव्रतोद्दीप्तभगवद्भक्तिवर्त्मनि।
वैष्णवाख्येऽधिकारस्तु समेषामिह चोदितः।।१२।।
पतितानामपि प्रायस्तत्र लिङ्गं विलोक्यते।
अत एव तथात्मानं प्रपन्नो मनुते सदा।।१३।।
एवं नित्यादिधर्माणामन्यथानुपपत्तितः।
शिष्टै र्बहिष्कृतानां वै सत्याद्यधिकृति र्मता।।१४।।

नित्यनैमित्तिककाम्यप्रभेदेन श्रुतिस्मृतिषु धर्माणां त्रेधा व्यवस्थाऽस्ति। नित्यनैमित्तिकयोस्तु निमित्तस्य नियतानियतत्वाभ्यां ब्राह्मण-परिव्राजकन्यायेन भेदः। वस्तुतस्तु तयोरुभयोरपि नित्यत्वेनैव व्यवहारः शास्त्रे दृश्यते। एवं सति नित्यकाम्ययो र्धर्मयो र्वैधर्म्यं शास्त्रकाराः

स्वस्वयुक्तिदार्ढ्येन प्रतिपादयन्ति। नित्ये यथाशक्तिन्यायः काम्ये च सर्वाङ्गोपसंहारो ऽभिलषितः। नित्ये हि श्रूयमाणं निमित्तमेवाङ्गसङ्कोचे प्रधानतया हेतुः। 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत, यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्येवमादिविशेषधर्मविधायकवाक्येषु तथाऽकरणे दोषनिश्चयात् महाशिवरात्रिरामनवमीकृष्णजन्माष्टम्येकादशीसत्यदानादिसामान्यधर्मविधायकवाक्येषु यावच्छब्दसंबन्धाज्जीवनं तत्तद्धर्मनिमित्तत्वेन ज्ञायते। निमित्तस्यैतदेव रूपं यत् तस्मिन् सति नैमित्तिकमवश्यं कर्तव्यम्। अर्थात् नियतमेव नैमित्तिकं कर्म कर्तारं फलसंपृक्तं करोति। तत्र प्रत्यवायपरिहार एवं फल स्वीक्रियते, न तु स्वर्गः। तस्य मुमुक्षुभिरनभिलषितत्वात्। पापपरिहारश्च सर्वाभिलषितः। न च कश्चिज्जीवनपर्यन्तं सकलाङ्गोपेतं कर्म कर्तुं शक्नुयादिति कानिचिदङ्गानि त्यक्तुं शक्यन्ते। एवं यथाशक्तिन्यायो नित्येषु कर्मसु। निमित्तवशादेवात्र फलसाधनतावश्यम्भावात् यत् किञ्चिदङ्गोपेत-प्रधानानुष्ठानेनैव फलसिद्धिरिति तात्पर्यम्। अत एवोक्तं विपश्चिद्भिः—'अङ्गं हि नाम विधिसम्बन्धादुपादीयते, निमित्तानुरोधात् त्यज्यते वेति। काम्ये च निमित्ताभावात्र तथेति साङ्गानुष्ठितादेव प्रधानात् फलसम्पदिति सर्वाङ्गोपसंहारः सिद्ध्यति। एतत् प्रभेदत्रयं सामान्यविशेषोभयरूपतया श्रुतम्ः। संस्कारविशेषापेक्षितत्वेनाग्निहोत्रादिलक्षणेषु नित्यत्वेनोपदिष्टेषु शिष्टपरम्परातो बाह्यानामधिकाराभावेऽपि सत्यदानविशेषव्रतोपवासादिषु मानवमात्रमधिकत्य श्रुतेषु स्मृतेषु वाऽधिकाराभावेऽनर्थपरम्परा भूयसी प्रसज्येत। यद्यपि तथाविधबह्वनर्थानुबन्धिसमुद्रलङ्घनगुरुजायागमनामेध्य-प्रतिषिद्धगर्हितकर्माचरितॄणां सामान्यकाम्यधर्मानुष्ठानविरहे नास्ति कोऽपि दोषः। केवलं तेषां समीहितमेवापूर्वद्वारा न सिद्ध्येत्। नित्यनैमित्तिककर्माभावे तु तेषामकरणजन्यप्रत्यवायः प्रसज्येतैव। तत्करणे च न तथा। अतः पातित्येऽपि प्रायश्चित्तपुरःसराः पतितास्तत्संसर्गिणश्च सर्वदैव सत्यदानादिधर्मेषु नियुज्येरन्। यद्यपि तेऽन्धन्तमःप्रविष्टास्तथापि ततोऽपि भूयस्तमःप्रवेशो न तेषामुचितः। एवमेव तेऽग्रे धर्मानुरागिणो भवेयु र्न पुनरधर्ममाचरेयुरिति। अपि च—सत्याचार-व्रतोदीप्तभगवद्-भक्तिप्रधाने धर्मशास्त्रान्तर्गतनारदपाञ्चरात्रपाशुपतादिवामागमेतरतन्त्रप्रचोदिते वैष्णवादिमार्गे सर्वेषामेव विशेषतस्त्रयीभ्रष्टानामधिकारः प्रतिपादितो यः स

सामान्यधर्माधिकारितायामेव सिद्ध्यति, नान्यथा। तथा हि वर्तत एव धर्मज्ञानामृषीणां वचनम्—

'पाञ्चरात्रं भागवतं तन्त्रं वैखानसाभिधम्।
वेदभ्रष्टान् त्समुद्दिश्य कमलापतिरुक्तवान्।।
अत्यन्तस्खलितानां हि द्विजानां वेदमार्गतः।
पाञ्चरात्रादयो मार्गाः कालेनैवोपकारकाः।।
शापाद्वा गौतमादीनां पापाद् वा महतो नराः
ये गता वेदबाह्यत्वं ये च सङ्कीर्णयोनिजाः।
तेऽधिक्रियन्ते तन्त्रादौ स्त्रीशूद्राश्च यथायथम्'।। इति।

उदाहृतं चैतच्छम्भुभट्टै र्विरोधाधिकरणे प्रभावल्याम्। उक्तेन चैतेन पौराणवचनेन पाञ्चरात्राद्यागमानां प्रामाण्यमधिकारिविशेषपरत्वेनैव स्वीकृतमस्ति, न तु वैदिकाधिकारविषयमिति न विस्मर्तव्यम्। तत्तल्लिङ्गवशेन पतितानामपि तन्त्रागमावबोधितवैष्णवादिमार्गेऽधिकार-निश्चयो भवति। तथा हि ब्रह्मपुराणे अगस्त्यं प्रति हयग्रीववचः—

'वर्णाश्रमविहीनानां पापिष्ठानां नृणामपि।
यद्रूपध्यानमार्गेण दुष्कृतं सुकृतायते'।। इति।

तथा च प्रायश्चित्तखण्डे बृहस्पतिः—

'कृतस्याखिलपापस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।
प्रायश्चित्तमिदं प्रोक्तं पराशक्तेः पदस्मृतिः'।। इति।

प्रपत्तिमार्गे भगवन्तं प्रति प्रपन्नानां पतिततयाऽऽत्मस्वीकरणमपि सामान्ये धर्मे तदधिकारमवबोधयति। श्रीगणेशसहस्रनामस्तवफलस्तुतौ क्वचिद् धर्मेऽधिकारः प्रतीयते शुभगतये। स्पष्टमेवोक्तं तत्र—

सकृत्पाठेन संसिद्धः स्त्रीशूद्रपतितैरपि।
सहस्रनाममन्त्रोऽयं जपितव्यः शुभाप्तये'।। इति।

न चैवं भक्तिप्रधानवैष्णवपाशुपतादिमार्गस्य पतितादिविषयत्वाद् वैदिकाविषयत्वमितिवाच्यम्। वेदैकगम्याया भक्तेः सर्वजनोपास्यत्वात्। अत एव तस्या धर्मत्वमेवाभिलषन्ति विपश्चितः। तस्या 'अपि वेदबोधितेष्टसाधनकत्वात्। कथं तस्या अवेदबोधितत्वमिति चेत्? श्रूयताम्।

मन्त्रवर्णादेव महन्नामसङ्कीर्तनस्य पापनाशकत्वं निश्चीयते। तथा हि मन्त्रवर्णाः—

'न युष्मे वाजबन्धवे निनित्सुश्च न मर्त्यः अवद्यमधिदीधरत्'।। इति।

हे वाजबन्धवः! अन्नदानेन सर्वबन्धवः। युस्मासु निन्दकोऽपि भवदनुसन्धानमात्रेण निष्कल्मषत्वाद् मर्त्यः पापं न धारयतीति मन्त्रार्थः। अत्र गम्यते निन्दन्नपि किं पुनः स्तुवन्निति। एवं भगवतो नामकीर्तनं सर्वपापनिरसनक्षमित्यर्थात् गम्यते।

अपि च—

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
अस्य जानन्तो नामचिद् विविक्तन विष्णोः सुमतिं भजामहे'।।

अस्यार्थः—उ इति छन्दःपूरणाय। हे जानन्तः! तं देवमीश्वरं नारायणं पुरातनं सकलवेदप्रतिपाद्यं स्तुध्वम्। स्तोतार इति प्रत्ययविपरिणामः। यथाविदो यथाविदन्ति तथा स्तुध्वमिति। एवं सति जन्मना पिपर्तन पिपृत मुक्तिप्राप्त्या जन्मानि समापयत। विष्णो र्नाम सदा कीर्तयत (विविक्तन) सुमतिं भजामहे लकारव्यत्ययः। एवञ्च तत्त्वज्ञानमाशासाना कीर्तयतेति।

अत्र लिङ्गेन विधीयते। स्मृतिपुराणेषु महापातकिवृत्तान्तद्वाराऽयं विषयो बहुधा प्रपञ्चितः। तथा ह्यजामिलोपाख्याने श्रीमद्भागवते—

'म्रियमाणो हरे र्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद् धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्'।। इति।
अजामिलोऽपि महापतितोऽपीति।

सत्यदानादिधर्मवत् कतिपयव्रतोपवासानां नित्यत्वं काम्यत्वं च स्मृतम्। नित्यस्य च त्यागे दोषकीर्तनादवश्यं तेषां मानवमात्रकर्तव्यता सूच्यते। इत्थं तथाविधनित्यधर्मान्यथानुपपत्तिरूपार्थापत्त्या शिष्टबहिष्कृतानां पतितानां सत्यादिसामान्यधर्माधिकारोऽक्षुण्ण एवेति। प्रयोजनन्तु पूर्वोत्तरपक्षाभ्यामेव यथायथमुन्नेयम्।

।। इति पातित्यपेटिकायां तृतीयं पतितानां सामान्यधर्माधिकारव्यवस्थापनाधिकरणम् ।। ३ ।।

अथ चतुर्थं कृत्वाचिन्तायां पतितानामावृत्त्या पातित्यप्रयोजककर्माननुष्ठानाधिकरणम्

पतिततत्संसर्गिणां सत्यादिसामान्यधर्माभिसम्बन्धो नास्तीत्यस्मिन् पक्षे पुन र्विचार्यते—फलाभावादकृतप्रायश्चित्ताः पूर्वोक्ताः पतिताः पुनः समुद्रलङ्घनसुरापानग्राम्यकुक्कुटतदण्डभक्षणासवर्णजातीयकन्योद्वाहविध-वोद्वाहप्रभृतीनि प्रतिषिद्धप्रातित्यप्रयोजकात्यन्तविगर्हितकर्माण्याचरेयुरुत नेति। एवं सन्देहे जायमाने तावदयं पूर्वपक्षः—

सति धर्माधिकारे च त्यागो गर्हितकर्मणाम्।
युज्यते पतितानां हि श्रेयोलोपोऽन्यथा भवेत्।।१।।
सर्वथा धर्मकार्येषु यद्यनर्हा भवन्ति ते।
अतिकुत्सितकृत्यानां का हानिः पतने पुनः।।२।।
कज्जलेन मुखं यस्य कालकूटायितं किल।
पुनःकज्जललेपेन काष्र्ण्यं तत्राधिकं किमु।।३।।
अतितुच्छफलार्थं यत् तेषां कृत्यं प्रजायते।
तत्फलावाप्तये पौनःपुन्येन तत् सदा भवेत्।।४।।
दूरे धर्मफलं येषां लोपादधिकृते र्यदा।
कुत्सितकर्मणा तुच्छं प्राप्नुवन्तु तथैव ते।।५।।
इत्येवं पतने प्राप्ते पतितानां पुनः पुनः।
सम्यक् सिद्धान्तपक्षोऽत्र न्याययुक्त्याऽभिधीयते।।६।।

सिद्धान्तः

भवदुक्तिपक्षे वेदो धर्माधर्मप्रदर्शकः।
बाध्येतैव ततस्तैस्तु नैव कार्यं पुनः पुनः।।७।।
शिष्टै र्विगर्हितं कर्म तुच्छलाभैकहेतुकम्।
यथा हि श्रवणादीनामभ्यासादात्मनिश्चयः।।८।।
प्रोक्तो वैयासकौ सूत्रे, फलभूमाभिधित्सया।
यथा वा दर्शपूर्णमासादेः प्रयोगावृत्तिरिष्यते।।९।।

एवञ्च कुत्सितं कर्म क्रियमाणं पुनः पुनः।
महानिष्टफलायैव यावत्कल्पं सदा भवेत्।।१०।।

सत्यादिसामान्यधर्माधिकारशून्यत्वेऽपि पतितानां पुनः पुनः पातित्य-कारकं फल्गुफलं कर्म न कार्यम्। वेदबाधप्रसङ्गादेवैवं निश्चयः। 'असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योति र्गमय' इत्येवमादीनि वेदवचनानि कुप्येरन्। मानवानामेवायं भारो यत्ते जीवनेऽज्ञानप्रयुक्त-परिवारसम्वर्धनोन्मुखा अपि निःश्रेयसायापि किमपि प्रयतेरन्निति। अन्यथाचरणे निन्दापि श्रूयते वाजसनेयिशाखायाम्—

'असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्तु प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः'।। इति।

धर्माचरणविरहेऽपि दुष्पारतमोवर्त्मावरोधो विधातव्य एव निरयफलककुकृत्यनिचयाद् निवर्तमानैः। प्रबलसंस्कारवशादनिच्छद्भिरपि यानि प्रतिषिद्धानि कर्माणि क्रियमाणानि भवन्ति तानि भगवद्नामोच्चारणादिना क्षयमुपयान्ति। अजामिलोपाख्यानेन निश्चीयत एवम्। शक्यते यस्माद् निवर्तितुं ततो निवर्तितव्यम्। पुनः पुनः कपूयाचरणे दोषबाहुल्यं नास्तीति न भ्रमितव्यम्। आवृत्त्या फलाधिक्यश्रवणात्। 'आवृत्तिरसकृदुपदेशादि' त्यनेन भगवान् वादरायण आत्मनिश्चयदार्ढ्याय श्रवणादीनामावृत्तिमुपदिशति। दर्शपूर्णमासा-देरावृत्तिरपि श्रूयते फलभूमप्रदर्शनाय। तथा हि—'दाक्षायणयज्ञेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्र दर्शपूर्णमासयोरेवावृत्तिरूपो गुणो विधीयते न कर्मान्तरविधिरिति निरूपितं मीमांसायां द्वितीये (अ. २, पा. ३, अधि. ५)। दक्षस्येमे दाक्षा ऋत्विजस्तत्कर्तृकमयनं प्रयोगावृत्ति र्यस्य यज्ञस्येति दाक्षायणपदस्य व्युत्पत्तिरप्यावृत्तिपरतयैवापादिता। कियत्या-वृत्तिरित्यपेक्षायां 'द्वे पौर्णमास्यौ द्वे अमावास्ये यजेतेतिविशेषविधानाद् द्विरावृत्तिरेव पञ्चदशवर्षपर्यन्तं भवति। इत्थमेवावृत्त्या क्रियमाणं कुत्सितं कर्म महानिष्टफलकमेव निःश्रेयसविरोधि स्यादेवेति पुनःपतनाद् निवर्तितव्यमेवेति। प्रयोजन न्तु धर्मनिरपेक्षविहिपादिसङ्कटने समावेशः पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते नेति।

।।इति पात्यिपेटिकायां कृत्वाचिन्तायां चतुर्थं पतितानामावृत्त्या पातित्यप्रयोजककर्माननुष्ठानाधिकरणम्।।४।।

अथ पञ्चमं त्रयीमार्गात्यन्तभ्रष्टानां बौद्धादीनां वैष्णवादिमार्गव्यवस्थापनाधिकरणम्

पतितानां सत्यादिधर्माधिकारपक्षे येऽत्यन्तत्रयीमार्गभ्रष्टाः पुरुषकल्पितासद्मार्गश्रद्धासंपृक्ता बुद्धार्हतेसामूसामोहम्मदानुयायिन स्तेऽपि सत्याद्युपलक्षितवैष्णवादिमार्गं गृह्णीयुरुत नेति विचार्यते। ननु सिद्धमेतत् पूर्वाधिकरणेनैवेति कथं विचारावसरः? अस्त्यवसरो विचारस्य। पूर्वन्तावत् त्रयीमार्गनिष्ठानामेव कपूयाचरणात् शिष्टबहिष्कृतानां चतुर्दशविद्यास्वास्थावतां मार्गविशेषः प्रदर्शितः। इदानीन्तु सर्वथा त्रयीभ्रष्टानां किञ्चिदकरणीयमपि धर्मबुद्ध्या विदधतां यवनम्लेच्छादीनामपि व्यवस्था प्रतिपाद्यते। किन्तावत् प्राप्तम्? नास्ति वैष्णवादिमार्गेऽपि तेषामधिकार इति। कुतः? श्रूयताम्!

त्रयीमार्गविरुद्धे हि येषामत्यादरः स्फुटः।
सर्वाचारपरिभ्रष्टा विलोक्यन्ते य एव हि।।१।।

एकादश्यां महापुण्यतिथौ मांसादनन्तथा।
अन्यभुक्तपरित्यक्तयोषिताञ्च परिग्रहः।।२।।

धर्मकञ्चुकमाश्रित्य क्षपणकादिभि गृहे।
तरुणीयोनिपूजा च तथा बौद्धैरपि स्वयम्।।३।।

क्रियमाणा महापूजा महापाखण्डसंश्रया।
अन्येऽपि च दुराचारा धर्मत्वेन व्यवस्थिताः।।४।।

येषां परम्पराप्राप्ताः कथन्तेषां व्यवस्थितिः।
वैष्णवादिमहामार्गे सम्भवेज्जगतीतले।।५।।

सर्वविधदुराचारमग्ना अपि तथा हि ते।
ईशभक्तिं प्रकुर्वन्ति स्वस्वग्रन्थानुसारतः।।६।।

अतो विशेषतस्तेषां कृत्यभावात् तथाऽरुचेः।
महापुरुषसङ्क्षुण्णमार्गो नेति प्रतीयते।।७।।

त्रयीमार्गविरुद्धानां सकलशिष्टाचारपरिपन्थिनां येषां मोहम्मदमत-गामिनां महापुण्यैकादश्यामेव प्रत्युपस्थितायां बकरीदादितिथौ नैकविध-पशुच्छेदनं तन्मांसभक्षणञ्च तथेसाद्यनुयायिनामपि परभुक्तमुक्तमहिलापरिग्रहो वैधत्वेन स्वीक्रियमाणः परिदृश्यते, तथैव च येषां दिगम्बरक्षपणकपदवाच्यानां बौद्धादिभिक्षूणां धर्मबुद्ध्यैव तरुण्या योनिपूजा स्वकपोलकल्पिताऽन्या च पाखण्डाश्रया महापूजा तथा वेदादिशास्त्रतन्मार्गानुयायिप्रदूषणाख्यादयो बहवो दुराचारा धर्मत्वेन व्यवस्थिताः समादृताश्च भवन्ति तेषां परमभागवतसकल-लोकाभ्यर्हणीयमहापुरुषक्षुण्णे वैष्णवादिमार्गे व्यवस्थाऽ शक्यसम्पादनैव वाममार्गे दक्षिणमार्गव्यवस्थेव। यद्यपि वामागमोऽस्माकं तन्त्रगत एव विलोक्यमानो भवति तथापि वेदादिशिष्टाचारविरुद्धत्वात् तस्य धर्मे प्रामाण्यमस्वीकृतमेव विरोधाधिकरणन्यायेन। केवलं त्रयीपरिभ्रष्टानां सुगतादिकुत्सितवर्त्मानुसारिणामेव धीविमोहाय तस्योपयोग इति तत्तदागमग्रन्थपर्यालोचनया निश्चीयते। उक्तमेतत् सर्वं श्रीपरमहंस-परिव्राजकश्रीराघवानन्दतीर्थयोगीन्द्रशिष्यैः श्रीरामानन्दै स्त्रिपुरोपनिषद्-भाष्ये—

'दिगम्बरक्षपणकादयस्तु स्त्रियमुत्तानां कृत्वा ऊर्ध्वत्रिकोणं पूजयन्ति इति रहस्यम्। यद्यप्यत्र बहु वक्तव्यमस्ति, तत्त्ववैदिकमार्गत्वात् स्मरणार्हमपि न भवति'। इति।

सुभगोदये कौलशिक्षापटलेऽपि—

'बाह्यपूजारताः केचित् पाखण्डा वेदनिन्दकाः।
कौलाः कापालिका नूनमागमैरविधानतः।।
निषिद्धाचरणात् पातस्तेषामिति हि मे मतिः'।। इति।

तथा सनत्कुमारसंहितायामपि—

'बाह्यपूजा न कर्तव्या कर्तव्या बाह्यजातिभिः।
सा क्षुद्रफलदा नृणामैहिकार्थैकसाधनात्।।

बाह्यपूजारताः कौलाः क्षपणाश्च कपालिनः।
दिगम्बरा ऐतिहासा नामकास्तन्त्रवादिनः'।। इति।

क्षपणकमार्गवर्तमानतरुणीयोनिपूजाप्रभावित एव पूर्वं 'रजनीश' इति पश्चात् 'ओशो' इत्यभिख्यया कुख्यातः कश्चित् क्षपणकमार्गानुयायी प्रत्यक्षमेव कदाचारं लोके व्यवास्थापयदिति न विस्मर्तव्यम्।

सर्वथा विगर्हितमार्गावलम्बिनोऽप्येते निजग्रन्थावगम्यवर्त्म-श्रद्धातिशया प्रभुभक्तिमपि विदधते। तथा हि—बौद्धानां चैत्यवन्दनं निजमन्दिरस्थापितबुद्धपूजा च, जैनवर्त्मगामिनामतिविशाल-मन्दिरस्थापितनग्नपुरुषार्चा, मूसलमानानां मस्जिदे सामूहिकतया नमाजपाठो गलगर्जनप्रणाडिकया, ईसाद्यनुगामिनामपि तथैव विशिष्टनिकेतने प्रार्थना च। सर्वा चेयं भक्तिविधैव प्रकारान्तरेण चकास्ति। वैष्णवादिमार्गोऽपि भगवद्भक्तिमार्ग एव। एवमेतेषां विशेषतो वैष्णवादिमार्गे कार्याभावात् श्रद्धाभावाच्च नाधिकार इति प्राप्ते—

पलाण्डुलशुनोपेताभक्ष्यमांसनिषेवणात्।
अन्यभुक्तपरित्यक्तनारीणाञ्च परिग्रहात्।।८।।

तरुणीयोनिपूजातस्तथा चान्यकुकृत्यतः।
पातित्यं जायमानं हि भवेच्छ्रेयोविघातकम्।।९।।

सर्वं यदुक्तं भवता तथ्यमेवेति तत्स्फुटम्।
त्रयीमार्गविरुद्धानां तमिस्त्राततिरतःश्रुता।।१०।।

एतेषान्तु तथापीह समुद्धारः श्रुतीरतः।
गवेषणीयो विद्वद्भि र्लोकानुग्रहकाङ्क्षिभिः।।११।।

श्रीमन्नारायणप्रोक्तवैष्णवमार्गतः क्वचित्।
नैव तेषां भवेच्छ्रेयो नित्यं पाखण्डशालिनाम्।।१२।।

सत्तूक्तं तैरपि प्रायः स्वस्वमार्गानुसारतः।
ईशभक्ति र्व्रतादिश्च श्रद्धयैव वितन्यते।।१३।।

तत्र ब्रूमः कुबुद्धीनां सद्वर्त्मविमुखात्मनाम्।

सर्वशास्त्रविरुद्धत्वात् न सा भक्तिः कथञ्चन।।१४।।

नित्यं कुकर्मनिष्ठानामीशभक्ति र्न शस्यते।

यतो हि धर्मसंपृक्ता भक्ति र्भक्ति र्महात्मनाम्।।१५।।

यानि यानीशनामानि शास्त्रेषु कथितानि च।

तेषामालम्बनेनैव भवेच्छ्रेयो न चान्यथा।।१६।।

यन्नामोच्चारयन्त्यद्धा म्लेच्छायाः श्रुतिनिन्दकाः।

कथन्तेषां समुद्धारस्तदालम्बनजो भवेत्?।।१७।।

तस्माद् नारायणप्रोक्ते वैष्णवे वर्त्मनि ध्रुवम्।

धर्मभ्रष्टा विशेयुस्ते सद्गते र्लिप्सया पुनः।।१८।।

विधिप्रतिषेधात्मकस्य शास्त्रस्य मनुष्यमात्रविषयत्वाद् धर्माधर्म-बहिष्कृताः पशुपिशाचप्रभृतय एवेति प्रतिपादितं जैमिनीये षष्ठे। तदेव तु—

'यतो विधिनिषेधे तु मनुष्याणामधिक्रिया।

अतः पशुपिशाचाद्या धर्माधर्मबहिष्कृताः'।।

इति पद्मपुराणीयं वचनमनुवदति। नित्यधर्मत्यागात् पुरुषकपोल-कल्पितवर्त्मानुसरणादधर्मसंसेवनाच्च प्रच्यवेतैव जन्तुरभ्युदयनिः-श्रेयसाभ्याम्। वैष्णवादिमार्गश्च त्रयीमूलकत्वात् स्मृत्यधिकरणन्यायेन धर्म एवेति नास्ति विप्रतिपत्तिः। अत एव महानर्थभूतपाखण्डानर्थप्रधानेभ्यो बुद्धादिप्रचोदितमार्गेभ्यः पृथग्भूय ग्राह्य एव वैष्णवादिमार्गः सर्वैरेव त्रयीविरुद्धै र्यथाविधानं तीर्थस्नानव्रतादिपुरःसरन्तथा श्रुतिसिद्धः सदाचारोऽपि क्रमशः शिक्षणीय इति। अस्योपोद्बलका नैके न्यायास्तन्मूलकानि वचांसि च भवन्ति। नामापि भगवतः शास्त्रप्रतिपादितमेव ग्राह्यम्। गृहीतवैष्णवादिमार्गस्य तदेव तु प्रायश्चितं गङ्गास्नानं वा। तथा च योगियाज्ञवल्क्यः—

'न तावत् पापमस्तीह यन्नाम्ना न हृतं हरेः।

अतिरेकभयादाहुः प्रायश्चित्तान्तरं वृथा'।। इति।

महामुनिश्च्यवनोऽप्याह भार्गवोत्तमः—

'श्रुतिस्मृतिपुराणेषु रामनाम समीरितम्।
सर्वेषामेव पापानां प्रायश्चित्तमिदं स्मृतम्'।। इति।

श्रीमद्विष्णुपुराणेऽपि—

'कलिकल्मषमत्युग्रनरकादिप्रदं नृणाम्।
प्रयाति विलयं सद्यः सकृद् यत्रानुसंस्मृते।।
स सर्वः सर्ववित् सर्वस्वरूपो रूपवर्जितः।
सर्वभूतश्च सर्वात्मा कीर्त्यतां भगवान् हरिः'।। इति।

न चैतदर्थवादमात्रमिति वाच्यम्। एतस्य सर्वस्यैवार्थवादत्वप्रतिषेधात्। तथा च पराशरसंहितायाम्—

अर्थवादं हरे र्नाम्नि सम्भावयति यो जनः।
स पापिष्ठो मनुष्याणां निरये पतति स्फुटम्।। इति।

अर्थवादत्वेऽपि भगवन्नामसङ्कीर्तनस्य स्तुत्यत्वाच्छ्रेयःपरता न हीयत इत्यलं पल्लवितेन। गङ्गास्नानप्रवित्रता चोक्ता लैङ्गे—

'ब्रह्महा गुरुहा गोघ्नः स्वर्णहृद् गुरुतल्पगः।
गङ्गाम्भसा तु पूयन्ते नात्र कार्या विचारणा'।। इति।

निष्फलानर्थफलानुष्ठानापेक्षया सफलाभ्युदयनिःश्रेयसफलानुष्ठानं गरीय इति लोकन्यायः। एवं त्रयीभ्रष्टै वैष्णवादिमहामार्गप्रवेशः कार्य एव श्रेयोलिप्सयेति सिद्धं भवति। प्रयोजनन्तु सकलमानवानां पारस्परिकप्रियताविरहः पूर्वपक्षे सिद्धान्ते तु स नेति। अन्यान्यपि प्रयोजनानि सुधीभिरुह्यानि।

।। इति पञ्चमं पातित्यपेटिकायामत्यन्तत्रयीमार्गभ्रष्टपुरुषकल्पितासद्मार्गसंपृक्तानां बुद्धार्हतादिमतानुयायिनामपि वैष्णवादिमार्गव्यवस्थापनाधिकारणम्।।५।।

अथ षष्ठं कृत्वाचिन्तायां त्रयीबाह्यानां वैष्णवादिमार्गाभावपक्षे महापातकादिविगर्हितकर्मवर्जनपुरःसरमेव निजमार्गतो भक्त्युनुष्ठानाधिकरणम्

त्रयीमार्गात्यन्तभ्रष्टानां यदा नास्ति वैष्णवादिमार्ग स्तदा तैः स्वस्वपरम्परागृहीतेशभक्तिरेव विधातव्येति सिद्धं भवति। तत्र श्रुतिप्रतिषिद्धशिष्टविगर्हितकुत्सितव्यवहारैः सहैव सा विधातव्या उत नेति विचार्यते। श्रुतिविप्रतिषिद्धतदीयसमाचाराः प्राक् सङ्कलिताः। तत्र स्वसम्प्रदाये लोभादिना त्रयीबद्धादराणां निपातनं श्रुतितद्बोधितमार्गनिन्दा च गृह्यते। किन्तावत् प्राप्तम्? शिष्टविगर्हितप्रतिषिद्धकुत्सितव्यवहारैः सहैव विधातव्येति। कुतः? उच्यते—

अज्ञानप्रयुक्त्या हि निन्द्यकर्मक्रिया नृणाम्।
सा च सद्धर्मशिक्षादिसमारोपाद् दृढा भवेत्।।१।।

अधर्मे धर्मबुद्धीनां ततो व्यावर्तनेन वै
व्यावृत्ता च भवेद् बुद्धिः स्वीयभक्तिप्रकारतः।।२।।

उपासनास्थलीं गत्वा समवेता प्रभुं सदा।
आर्तभावेन सततं प्रार्थयन्ते पुनः पुनः।।३।।

तत्प्रार्थनाप्रकाराणां देशिका ये व्यवस्थिताः।
तेषां प्रचोदितेऽधर्मे श्रद्धाऽभावः प्रभावयेत्।।४।।

भक्तेः प्रकारतां तेषामत एव सदा च तैः।
निन्द्यैरधर्मसम्पृक्तैः कृत्यै र्भक्ति र्विधीयताम्।।५।।

अधर्मे धर्मबुद्धिस्तामसी बुद्धिरित्याह भगवान् वासुदेवः—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।

सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ! तामसी।। इति।

(गीता १८.३२)

तया च विपरीतार्थप्राप्तिरिति शास्त्रनिश्चयः। तामसा अपि जना भगवति भक्तिं वितन्वत इति लोकव्यवहाराद् निश्चीयते। यद्यपि मौहम्मदान् विहाय बौद्धप्रभृतीसावसानाः सर्वेऽपि पुरुषकल्पित-वर्त्मगामिनो मूढा निजोपास्तिस्थलविशेषेषु स्वसम्प्रदायपुरुषाकृतिमेव भजन्ते। मौहम्मदास्तु तानीशव्यतिरिक्तान् मन्वाना इन्द्रियपथातिरेकिणमेव खुदेलाहीपदवाच्यं सर्गावसाने शुभाशुभफलप्रदातारमीशं भजन्ते। यद्यपि त आकृतिं न समर्थयन्ते तथाप्याकृतिरायात्येव भजनान्यथानुपपत्त्यैव। सर्वोऽप्ययमुपासनप्रकारः शास्त्रविरुद्धत्वान्न धर्मताकोटिमधिरोहति तथापि स निष्प्रयोजन इति न मन्तव्यम्। तस्य ध्यानाद्युपायेनान्तः-करणशुद्धावुपयोगात्। वेदान्तिनोऽप्यत्रानुकूलाः सन्ति—

'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।

जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्'।। इति।

(गीता ३.२६)

इतिभगवद्वचनमुदाहरन्तः। अन्यत्राप्याह भगवान् स एव—

'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्'।। इति।

(गीता ७.२१-२२)

त्रयीमार्गविरुद्धैरनुष्ठीयमानो भक्तिप्रकारः पूर्वोक्तगर्हितकर्मभिः सममेव तिष्ठति। तेषु कर्मस्वश्रद्धायां जायमानायां भक्तिप्रकारोऽप्यश्रद्धा-विषयतामापद्येत। नैतद् युज्यते। अतः शिष्टविगर्हितकृत्यैः साकमेव तैरुपासनप्रकारः पुरुषकपोलकल्पितोऽप्याश्रीयतामिति प्राप्ते—

ब्रूमः

अज्ञानस्य प्रयुक्त्या वै यदि निन्द्यक्रिया नृणाम्।
सति ज्ञानोदये तेषां तत्त्यागो न्यायतो भवेत्।।६।।

यत्कृत्यैश्च त्रयीमार्गो मर्यादा लौकिकी तथा।
क्षुभ्येते चेत् ततो लोके श्रेयस्तत्त्यागतो भृशम्।।७।।

श्रेयोऽर्थकर्मणेऽपीह स्वीकारो निन्द्यकर्मणाम्।
गर्हितो जायते नूनं निष्फलाय च किं पुनः।।८।।

मा भूत् पाखण्डिनां चैत्ये मस्जिदे गिरिजागृहे।
प्रार्थना वेदबाह्यत्वात् निष्फलाऽनर्थचुम्बिता।।९।।

यदि तत्करणे तेषां पातकेषु रति र्भवेत्।
कुमारीपूजनादौ वा तद्भोगेषु रति र्यथा।।१०।।

महापातककर्माणि वर्जयित्वा पुनः पुनः।
कुर्युस्ते निजपद्धत्या कर्माणीहेति गम्यते।।११।।

सर्वत्र निन्द्यकर्मकरणेऽज्ञानमेव हेतु र्भवति। यद्यपि ज्ञानाज्ञानोभयप्रयुक्तप्रायश्चित्तसमाम्नानदर्शनाद् निन्द्यं कर्म ज्ञानतोऽपि भवति तथापि कामक्रोधासूयामात्सर्यविचिकित्साप्रभृतीनां विकाराणामज्ञानविवर्तत्वात् सर्वं निन्द्यं कर्म अज्ञानप्रयुक्तमेवेति स्वीक्रियते। अत एवाप्तादिमाध्यमेन शास्त्रीयज्ञानोदये निन्द्यकर्मत्याग एव न्यायतः प्राप्तः। त्रयीमार्गविरुद्धाचरणबद्धादराणां बौद्धादीनां कृत्यै र्यदि लौकिकमर्यादाक्षोभप्रसङ्गस्तदा तत्त्याग एव श्रेयान् सम्पद्यते। अत एवानुपेतबालकृतपापप्रायश्चित्तं तद्गुर्वादिभि र्विधीयते। यथोक्तम्—

'अनुपेतस्तु यो बालो मद्यं मोहात् पिबेद् यदि।
कृच्छ्रत्रयं गुरुः कुर्यात् माता भ्राता तथा पिता'।। इति।

एतेनैव न्यायेन त्रयीमार्गविरुद्धबौद्धयवनम्लेच्छादिकृतनिन्द्यकर्मणां प्रायश्चित्तं शिष्टै र्विधातव्यमेव भवति वसुन्धरोपप्लवनिरासार्थम्। अत एव

विश्वकल्याणायापि शिष्टानां कर्माणि भवन्ति। अपि च-धर्मबुद्ध्या ते यत्कृत्यं कुर्वन्ति तेन तेषामनिष्टसम्प्राप्तिः स्मर्यते—

'दूषका धर्मशास्त्राणां हेतुवादकुतूहलाः।

एते विहङ्गमे घोरे पच्यन्ते पापकारिणः'।। इति।

विमुखे पतिते घोरे मर्यादां यश्च लङ्घति।

शाखामृगघ्नो गोघ्नश्च कृमिभक्ष्यं व्रजन्ति ते।। इति च।

एवञ्च सर्वथा शास्त्रविर्हितकर्माणि सर्वैरेव मानवैः परिहर्तव्यान्येव। यद्येतद्निन्द्यकर्मजातं विना पाखण्डिनां प्रार्थना न सिद्ध्येत्तर्हि मा भूत् सा चैत्यादिषु। निजपद्धत्यापि तै र्महापातककर्मवर्जनपुरःसरमेव प्रार्थना-दीनसेवाप्रभृतीनि कर्माणि कर्तव्यानीति सिद्धम्।

प्रयोजनन्तु निन्द्यकर्मकरणे प्रायश्चित्ताभावः पूर्वपक्षे सिद्धान्ते तु प्रायश्चित्तसिद्धिरिति पूर्वोत्तरपक्षाभ्यामेव सुस्पष्टम्।

।। इति पातित्यपेटिकायां कृत्वाचिन्तायां षष्ठं त्रयीबाह्यानां वैष्णवादिमार्गाभावपक्षे महापातकादिविगर्हितकर्मवर्जनपुरःसरमेव निजमार्गतो भक्त्युनुष्ठानाधिकारणम् ।।६।।

●

अथ सप्तमं म्लेच्छादीनां शुद्धचरितैरेव वैष्णवादिदीक्षाग्रहणाधिकरण्

त्रयीमार्गात्यन्तपरिभ्रष्टानां वैष्णवादिमहामार्गोऽस्तीति पक्षे तेषां वैष्णव्यादिदीक्षा समुद्रलङ्घनविधायिभि वैंष्णवादिभि र्विधातव्या न वेति विचार्यते। कुतः सन्देहः? शिष्टैरेतेषां परिहरणीयतायाः शास्त्रबोधितत्वात् परिशेषात् समुद्रलङ्घिभिरेव कृतप्रायश्चित्तैरपि लौकिकाशुद्धिसम्पृक्तै र्दीक्षा विधातव्येति प्राप्यते, तथा च वैष्णवादिष्वपि धर्मज्ञसमयोल्लङ्घने निन्द्यकर्मकरणे च त्यागविधानाद् यथाकथञ्चिद् विशुद्धाचरितैरेव दीक्षेत्यपि गम्यते। एवञ्च सन्देहे जायमानेऽवकीर्णिप्रभृतिसमुद्रलङ्घिभिरेव दीक्षा तेषां विधातव्या। कुतः?

वेदोदितसदाचारबद्धादरमनीषिभिः।
त्यज्यन्ते पतिताः सर्वे त्रयीमार्गस्थिता अपि।।१।।
तन्मार्गाद् ये बहिर्भूता निन्दिता गर्ह्यकर्मभिः।
दीक्षणीयाः कथं सद्भि वैंष्णवे दिव्यवर्त्मनि।।२।।
म्लेच्छाद्यास्ते, ततस्तेषां दीक्षा समयलङ्घिभिः।
पतितै वैंष्णवैरर्हा न तु शिष्टैः कदाचन।।३।।
सत्येवं पतितानां वै पतितैरेव सङ्गतौ।
सर्वतः शुद्धभावानां धर्मो निर्बाधमिन्दति।।४।।

पतितसंसर्गस्य सद्यःपातहेतुत्वात् त्रयीमार्गबद्धादरा वैष्णवा अपि तं परित्यजन्ति। सद्यःपातहेतुत्वञ्चाह प्रायश्चित्तमयूखे देवलः—

'याजनं योनिसम्बन्धं स्वाध्यायं सहभोजनम्।
कृत्वा सद्यः पतन्त्येव पतितेन न संशयः।।

सुमन्तुविष्णुवचनैरपि मुखसम्बन्ध्युपदेशद्वारा सद्यःपातित्यमवगम्यते। तथा हि विष्णुवचः—

'यौनस्रौवमुख्यैस्तु सम्बन्धैः सद्य एव'।। इति।

सुमन्तुरपि तथैवाह—

'यः पतितैः सह यौनमुख्यस्रौवाणामन्यतमं सम्बन्धं कुर्यात् तस्याप्येतदेव प्रायश्चित्तमि'ति।

एवञ्चापतितवैष्णवैरपि न म्लेच्छादीनां दीक्षा विधातव्येति निश्चीयते। परिशेषोत् पतितैरेव तेषां दीक्षा प्राप्यते। तथा चापतित-वैष्णवादीनां धर्मो निर्बाधं समृद्धो भविष्यति। इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—

दीक्षा हि स्वात्मसंस्कारः प्रपत्तावुपयोक्ष्यते।
पतितद्वारतस्तस्याः संस्कारत्वं कथं भवेत्।।५।।
असंस्कृतात्मनाञ्चैवं वैष्णवत्वं न युज्यते।
एतस्मात् कारणाद् नूनं विशुद्धाचरितैः शुभैः।।६।।
दीक्षां प्राप्य च पाश्चात्यै र्भक्तिमार्गः प्रपद्यताम्।
यत्तूक्तं वैष्णवश्रेष्ठाः पतितान् सकलानपि।।७।।
दूरात् परिहरन्तीति श्रूयतामत्र चोत्तरम्।
यथा हि ब्राह्मणं स्वाग्रे कृत्वा श्रोतुं व्यवस्थिताः।।८।।
शूद्रा धर्मं भवन्त्येव तथा व्यवहिताः सदा।
प्राप्नुवन्तु सदा दीक्षां विशुद्धैरेव धर्मतः।।९।।
इत्थमेव निराबाधं दिक्षु सर्वासु विस्फुरन्।
वर्धतां वैष्णवाचारः परमेशप्रचोदितः।।१०।।

आत्मनः संस्काराय विहिता दीक्षा न विधानमतिक्रमितुमर्हति। पतितद्वारा सम्पाद्यमाना सा शास्त्रीयविधानमतिक्रामेत्। न तदा सा दीक्षैव भवेत्। वैष्णवैरेव वैष्णवदीक्षा सम्पाद्येति न्यायतः प्राप्तम्। वैष्णवेष्वपि समयोल्लङ्घनाकार्यकरणाभ्यां पातित्यं सञ्जायत इति तदीयशास्त्रा-देवावगम्यते। यथोक्तं श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यै वैष्णवमताब्जभास्करे—

'प्रच्युतो नैष्ठिकाद् धर्मादात्महापि प्रकीर्तितः।
मठाध्यक्षत्वदीक्षादौ बहिष्कार्यः स यत्नतः।।
व्यासेन ब्रह्मविद्यातो बहिष्कारोऽस्य सूचितः।
शिष्टा यज्ञादिकार्येषु वर्जयन्ति तथाविधम्।।
विरक्तै वैष्णवैस्तस्मादारुढपतितो न हि।
व्यवहारेषु योक्तव्यस्तत्संसर्गोऽपि पापकृत्।। इति। (५.७.८.९)

एतेनेदमेव निश्चीयते यद् गृहीतवैष्णवमार्गस्य समुद्रलङ्घनादिना पातित्यमुपेतस्य यस्य संसर्गोऽपि महानरकसम्पातहेतुः पापकृद् भवति स कथमिव दीक्षापुरःसरं त्रयीमार्गात्यन्तस्खलितानां बौद्धयवनादिजनानामपि मन्त्रोपदेष्टा स्यात्। दीक्षामन्त्रोपदेशादौ विशुद्धत्वमाचारादिभिरपेक्ष्यते। यथोक्तं तैरेवाचार्यैः—

'यतेन्द्रियः शुचिः शुद्धवेशधृक् सुकुलोद्भवः।
सदाचारपरो नम्रः शास्त्रज्ञो देशनापटुः।।
विरक्तधर्मनिरतो ध्यानाभ्यासी सुबुद्धिमान्।
निग्रहेऽनुग्रहे चैव समर्थो देशिको मतः।।
हीनाङ्गो ह्यधिकाङ्गश्च कपटी कृष्णदन्तवान्।
नेत्ररोगी च कुष्ठी च वावदूकश्च वामनः।।
व्यसनी बहुनिद्रश्च कुनखी बहुभोजनः।
नेदृशो देशिको योग्यो मुमुक्षो र्मोक्षसाधाने।। इति।

(वैष्णवमताब्जभास्करे, ४/३-६)

एवञ्च विशुद्धचरितैः स्वधर्मानतिक्रमशुद्धैरेव वैष्णवैस्तेषां दीक्षेति स्थितम्। यत्तु परिहरणीयतोक्ता सा च साक्षाद्दीक्षापरेति ध्येयम्। श्रावयेत् चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रत इत्यनुशासनात् ब्राह्मणव्यवहिततया यथा पुराणादिश्रवणे शूद्रानामधिकारस्तद्वदेव ते ब्राह्मणमग्रतः कृत्वा दीक्षां ग्रहीतुमर्हन्ति। एवञ्च न कोऽपि दोषलेशोऽपि प्रसज्येत। इत्थमेव वैष्णवाचारस्य सर्वदिक्प्रसाराभिप्राय आचार्याणाम्। यथोक्तम्—

'सर्वदेशदिशाकालेष्वव्याहतपराक्रमा।
श्रीरामानुजाचार्याज्ञा वर्धतामभिवर्धताम्'।। इति।

एतद्वचनेन न कथञ्चित् समुद्रलङ्घनं गम्यत इति सुधियो विभावयन्तु। प्रयोजनन्तु पतितलब्धदीक्षाणां म्लेच्छादीनां प्रपत्तिमार्गेण समीहितसिद्धिः पूर्वपक्षे सिद्धान्ते सा नेति।

।।इतिपातित्यपेटिकायां सप्तमं म्लेच्छादीनां शुद्धचरितैरेव वैष्णवादिदीक्षाग्रहणाधिकरणम्।।७।।

अथाष्टमं स्वीकृतवैष्णवधर्माणां म्लेच्छयवनादीनां स्ववर्ग एव विवाहादिव्यवहाराधिकरणम्

अतः परं विचार्यते—परिगृहीतवैष्णवादिमहामार्गाणां त्रय्या अत्यन्त-परिभ्रष्टानां बौद्धयवनादीनां विवाहादिव्यवहारो वैष्णवत्वाविशेषात् स्ववर्गातिरिक्तेष्वपि भवेत् उत स्ववर्ग एव पूर्वसिद्ध इति। किन्तावत् प्राप्तम्? स्ववर्गातिरिक्तेष्वपीति। कुतः?—

दीक्षिता वैष्णवे धर्मे नारायणसुसङ्गताः।
भेदभावात् पृथग्भूताः परमां समतां गताः।।१।।
पञ्चमात् सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतः सदा।
व्यवहारं सदा कुर्युः सर्वं वैवाहिकादिकम्।।२।।
बौद्धजैनमुसल्माना स्तथेसामार्गगामिनः।
यदैव वैष्णवा जातास्तदैव सर्वपातकात्।।३।।
प्रमुक्ता विष्णुसम्बन्धाद् ग्राह्या एव तदैव ते।
अत्रार्थे दृश्यते लिङ्गं वैष्णवाचारपद्धतौ।।४।।

द्विधा हि वैष्णवदीक्षा दृश्यते तत्संप्रदाये। विरक्तदीक्षाऽविरक्तदीक्षा चेति। विरक्तदीक्षायामपि सन्न्यासदीक्षा तद्विभिन्नेति यथाधिकारं प्रदीयते। तत्राविरक्तदीक्षायामेवायं विचारः प्रसरति। विरक्तदीक्षायां विवाहादिव्य-वहारस्याप्रसक्तेः। वैष्णवानां व्यवहारेऽन्योन्यं भेदाभावात् साम्यमेव विलोक्यते। अतः सापिण्ड्यं विहाय पारस्परिकविवाहादिव्यवहारे बाधकाभावात् बौद्धादिम्लेच्छावसानानां त्रयीधर्मस्थितैरपि तै र्विवाहा-दिव्यवहारो न्यायप्राप्तः। विष्णुसम्बन्धात् सर्वतोभावेन शुद्धानां तेषां ग्राह्यता सिद्धप्राया। अत एव तत्र वर्णादिकृत उच्चैस्त्वाद्यभिमानः परिह्रियते। यथोक्तमाचार्यपादैः—

उत्कृष्टवर्णैरपि वैष्णवै र्जनै र्निकृष्टवर्णः स तदीयसेवने।
तथानुसर्तव्य इतीष्यते बुधैः शास्त्रै र्विधेये विधिगोचरैः परैः।। इति।
(वैष्णवमताब्जभास्करे ४.५६)

अपि च—

सामान्यात्मनैव वैष्णवानां माहात्म्यं प्रतिपादितमाचार्यैः।

तथा हि वैष्णवमताब्जभास्कर एव—

'पञ्चायुधाङ्काङ्कितवैष्णवा ये विप्रा अथ क्षत्रियवैश्यशूद्राः।
स्त्रियस्तथाऽन्येऽपि च विष्णुरूपा जगत्पवित्रप्रपवित्रिणस्ते।।
ते सर्वतीर्थाश्रयभूतदेहा देशे महाभागवता वसन्ति।
यस्मिन् स तद्दर्शनसंस्थितिभ्यां सूते सुपुण्यं निखिलाघशून्यम्।। इति।
(७.५.६)

भगवत्परायणा वैष्णवा निष्कल्मषा एव भवन्ति। यथोक्तं तैरेवाचार्यैस्तत्रैव—

'तदर्चनात्तत्पदनीरपानात् तत्सङ्गतेस्तत्प्रणते र्विधानात्।
नृणां हि तच्छिष्टसुभोजनाच्च स्यात् कोटिजन्मार्जितपापनाशः'।।
इति। (७.७)

एतैरेव लिङ्गै र्वैष्णवानामन्योन्यं निर्गतवर्णप्रविभेदं विवाहादिकृत्यं भवतु न तु स्वस्ववर्ग एवेति प्राप्ते—

ब्रूमः

वैष्णवानामपि प्रायस्त्रय्यां तन्मूलकादिषु।
शास्त्रेषु चादरो भूयान् सर्वैरेव विलोक्यते।।५।।
तेऽपि वेदं पुरस्कृत्य विशुद्धाचारसन्ततिम्।
वितन्वते ततस्तत्र वर्णसङ्करकारिका।।६।।
गर्हिता सर्वलोकेषु त्रयीधर्मप्रणाशिका।
व्यवस्था नोचितैवेति तदाचारात् प्रतीयते।।७।।

यत्तूक्तं साम्यधर्मे ते सुस्थिता इति तत्र वै।
न कोऽपि दोषलेशः स्यात् पण्डितानामियं स्थितिः।।८।।
विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।९।।
इत्येतत् सकलं तथ्यं श्रीकृष्णेन स्वयम्भुवा।
जीवानामीशशेषत्वाद्यपेक्षातः प्रकीर्तितम्।।१०।।
न चैतेन त्रयीसिद्धा व्यवस्था धर्मतः स्थिता।
दूषणीया भवेल्लोके साम्यदृष्ट्या कथञ्चन।।११।।
तस्माद् धर्माविरोधेन विवाहादिक्रिया सदा।
स्ववर्ग एव कर्तव्या कुलधर्मानुसारतः।।१२।।

एकादशीकृष्णजन्माष्टमीतिथिकालादिकं विहाय वैष्णवा अपि स्मार्ताचारे समाना एव सर्वत्र सर्वैरेव विलोक्यन्ते। सर्व एव ते महात्मानः श्रुतितन्मूलरामायणेतिहासपुराणसंहितादिस्मृतिशास्त्रेषु धर्मविद्यास्थानेषु समानादरसम्पृक्ता एव। यत्राप्येकादशीतिथ्यादिषु नैकमत्यं प्रदृश्यते तत्रापि विकल्पस्वीकारे बाधकाभावः। तन्मूलकश्रुतिसम्भवात्। बहुशो हि विरुद्धाः श्रुतयो व्रीहियवसाधनकयागषोडशिग्रहणाग्रहणविषयिण्यः प्रदृश्यन्त एव यत्र विकल्पस्वीकारमन्तरा न कापि गतिः। एवमत्रापि द्रष्टव्यम्। न हि भगवत्कल्पाः श्रीमद्रामानुजरामानन्दाचार्यप्रभृतयः प्रातःस्मरणीया आचार्याः श्रुतिविरुद्धं पदार्थं स्मरेयुः। एवञ्च वेदानुकूल्येन विशुद्धाचारपरम्परां निर्वहत्सु वैष्णवेषु वर्णसाङ्कर्यविधायिनी त्रयीधर्मक्षयकारिणी सर्वलोकनिन्दिता स्वच्छन्दतया यत्र कुत्रचिदेव विवाहादिव्यवहारव्यवस्था नौचितीमावहतीति तदाचारादेव निश्चीयते। न हि कोऽपि वैष्णवोऽन्तर्जातीयं विवाहं मनसाऽपि स्वीकरोति। प्रत्युत निन्दत्येव तं कुलधर्मविदारकम्। अपि चान्तर्जातीयविवाहे वर्णसाङ्कर्यप्रयुक्त-सकलवर्णविनाशादाचार्याणां गृहीतवैष्णवधर्मैः स्वस्ववर्णधर्मः परिपालनीय एवेति कथनं निरवकाशं भवेत्। तथा हि निगदितं श्रीमद्रामानन्दाचार्यैः—

'लोकसंग्रहणार्थन्तु श्रुतिचोदितकर्मणाम्।
शेषभूतैरनुष्ठानं तत्कैङ्कर्यपरायणैः'।। इति।

(श्री वै.भा. ४.५३)

न ह्यत्र वर्णविभागं विना श्रुतिचोदितकर्मणामनुष्ठानं सम्भवति। आत्मयाथात्म्यविदां ज्ञानैकाकारतया साम्यदर्शनं सजातीयविवाह-नियमेऽविरुद्धम्। शरीरगतवैषम्यापेक्षयैव व्यवहारो भवति। तद्वैषम्यञ्च वैष्णवैरेव प्रतिपाद्यते। यथोक्तं महापुरुषैः श्रीमद्वेदान्तदेशिकार्यैः—

'न शरीरगतं वैषम्यं प्रतिषिध्यते।
किन्तु तदेवात्र प्रतिपाद्यते'।। इति।

(तात्पर्यचन्द्रिकायाम् ५.१७)

एतेन शरीरगतवैषम्यप्रतिषेधका धर्मनैरपेक्ष्यपोषका विहिपादयः परास्ताः। आत्मदृष्ट्या समत्वे शरीरदृष्ट्या वैषम्ये च स्वीक्रियमाणे न ब्राह्मणादिषु पूज्यत्वादिसाम्यबुद्धिप्रसक्तिः। ततश्च अभोज्यान्नत्वादिदोषः स्मृतो न विरुध्यते। भगवता श्रीकृष्णेनापि जीवानां श्रीमन्नारायणशेषत्वाद्यपेक्षयैव साम्यं वदता शरीरप्रयुक्तं वैषम्यं सकलञ्च लौकिकवैदिकोभयं व्यवहारजातं यथाशास्त्रमेवेति समर्थितम्।

एवञ्चात्मदृष्ट्या साम्यप्रतिपादनमात्रेण धर्मतो न्यायतश्च विद्यमाना व्यवस्थाऽशक्यनिह्नवा। तथा च त्रय्या अत्यन्तपरिभ्रष्टानां परिगृहीतवैष्णवधर्माणामपि यथा लोके व्यवस्थितस्य वर्णाश्रमोचितस्य धर्मस्य विरोधो न स्यात् तथैव शास्त्राविरोधिकुलधर्मानुसारेणैव स्ववर्ग एव विवाहादिव्यवहारः सिद्ध्यति।

प्रयोजनन्तु धर्मविलोपः पूर्वपक्षे सिद्धान्ते स नेति।

।। इति पातित्यपेटिकायामष्टमं स्वीकृतवैष्णवधर्माणां म्लेच्छयवनादीनां स्ववर्ग एव विवाहादिव्यवहाराधिकरणम्।।८।।

●

अथ नवमं कृत्वाचिन्तायामार्यावर्तस्थितानामेव पतितानां म्लेच्छादिदीक्षाप्रदेयत्वाधिकरणम्

अतः परमधिकरणत्रयं कृत्वाचिन्तया विचार्यते—

म्लेच्छादीनां पतितैरेव दीक्षाग्रहणपक्षे किं पतितानां म्लेच्छादीन् दीक्षयितुं समुद्रलङ्घनपुरःसरं म्लेच्छदेशगमनं कार्यमुत नेति? किन्तावत् प्राप्तम्? कर्तव्यमेव पतितै र्म्लेच्छदेशगमनमिति। कुतः?

वैष्णवादिमहामार्गे म्लेच्छाद्या बद्धसौहृदाः।
भारतागमने चेत् स्युः सामर्थ्यविकलाः किल।।१।।

तदा शुद्धैरगम्यत्वात् पतितैरेव सादरम्।
तद्देशमुपलभ्यैव दीक्षणीयाः प्रयत्नतः।।२।।

परोपकारहेतुत्वे दार्ढ्येन समुपस्थिते।
पतितानामनुज्ञानं पौनःपुन्येन गम्यते।।३।।

पुनःपातित्यदोषोऽपि तेषां नैवं प्रसज्यते।
विहिपादिदले तावत् स्थिति वैं सुप्रतिष्ठते।।४।।

धरित्रीं वैष्णवीकर्तुं पतितैस्तैः पुनः पुनः।
समुद्रलङ्घनं कार्यमिति प्राप्तेऽभिधीयते।।५।।

सिद्धान्तः

लौकिकाशुद्धिसत्त्वेऽपि शुद्धिः सा पारलौकिकी।
प्रायश्चित्तेन सञ्जाता त्वदुक्त्या तु विरुध्यते।।६।।

यत्कृते वैष्णवो धर्मः समाम्नातो महीतले।
ध्वंसे तस्य समुत्पन्ने नृजन्मैव वृथा भवेत्।।७।।

परोपकारपिण्डं तद् द्वारीकृत्यापि सर्वथा।
पतितानां पुन र्नाब्धे र्लङ्घनं स्यादिति स्थितम्।।८।।

वैष्णवादिमहामार्गसम्पन्ना सकला धरा।
आर्यावर्तस्थितैरेव विधातव्या ततस्तु तैः।।९।।

विह्निपादिदलस्थानां कर्तव्यविमुखात्मनाम्।
सत्ताऽप्यभव्या लोकेऽस्मिन् सचेतास्तत्र को विशेत्।।१०।।

प्रयोजनन्तु स्वेच्छाचारिताप्रवर्तनं पूर्वपक्षे सिद्धान्ते तन्नेति।

।। इति नवमं पातित्यपेटिकायां कृत्वाचिन्तायामार्यावर्तस्थितानामेव पतितानां म्लेच्छादिदीक्षाप्रदेयत्वाधिकरणम्।।९।।

अथ दशमं कृत्वाचिन्तायां म्लेच्छादीन् दीक्षयितुं विरक्तवैष्णवानामेव तद्देशगमनाधिकरणम्

रामानन्दीयानां वैष्णवानां भारते तीर्थस्थान एव निवासस्मरणात् समुद्रलङ्घनमप्राप्तमेव। श्रीमच्छङ्कराचार्याणां दण्डिनां दशनामिसन्न्यासिनाञ्च त्रय्यनुवर्तनशालित्वाद् न कथञ्चिदपि समुद्रलङ्घनमनुमतमस्ति। येषां वैष्णवानां समुद्रलङ्घनविषयकाचार्याभ्यनुज्ञानाभिमानोऽस्ति तेषां श्रीमद्रामानुजीयानां कृतेऽयं विचारः प्रस्तूयते। केचन रामानुजीयाः—

'सर्वदेशदिशाकालेष्वव्याहतपराक्रमा।
श्रीरामानुजदिव्याज्ञा वर्धतामभिवर्धताम्।।

माता तु कमला देवी पिता देवो जनार्दनः।
बान्धवा विष्णुभक्ताश्च स्वेदशो भुवनत्रयम्'।।

इतिश्लोकद्वयसाहाय्यावलम्बिनः समुद्रलङ्घनविषयकाभ्यनुज्ञानं स्वीकुर्वन्ति। प्रामाणिकास्तु तान् भ्रान्तानेवाभिमन्यन्ते। उक्तश्लोकद्वयेन समुद्रलङ्घनाभ्यनुज्ञानस्याप्रतीयमानत्वात्। सर्वेषु देशेषु सर्वासु दिक्षु च श्रीमद्रामानुजाचार्याणां श्रीमद्भगवन्नारायणचरणनलिनसेवनविषयकाज्ञाऽन्यथा नोपपद्यत इति समुद्रलङ्घनं परिकल्प्यत इति चेत्? न। लोकोत्तरप्रभावशालिनां तथाविधदिव्याज्ञायास्तद् विनाऽप्युपपद्यमानत्वात्। कथमन्यथा तस्या दिव्यत्वं सिध्येत्? श्लोकेनापि श्रीमदाचार्याणां सकलवसुन्धरावर्तमानजनेषु भगवद्भक्तिं तद्द्वारा तत्प्राप्तिञ्च कामयमानानां लोकोत्तरसदाशयतैव ध्वन्यते। द्वितीयश्लोकेनापि भगवत्-तद्भक्तप्राशस्त्यमेव प्रतिपाद्यते तदीयशुभभावनाप्रतिपादनद्वारा। वेदादिसकलशास्त्रप्रतिषिद्धे वस्तुनि तदतिक्रमणविषयिणी यद्यभ्यनुज्ञाऽपि स्यात् तदापि तस्याः प्रामाण्यं न सिध्येत्। शास्त्रान्तरेण विरोधात्। एवञ्च त्रैवर्णिकानां कृते समुद्रलङ्घनं श्वमुखवर्तिपूतिगन्धिनरास्थि-शकलमिवामेध्यमेव सिध्यति। स्थितेऽप्येवं म्लेच्छादीनां वैष्णवीं दीक्षां

विधातुं समुद्रलङ्घनस्य ये वैधतामभिलषन्ति तदर्थोऽयं विचार इति न विस्मर्तव्यम्।

तत्रायं संशयः—किं सकलैरेव चतुराश्रमिभिः समुद्रलङ्घनं विधातव्यमुत अस्वीकृतगृहस्थाश्रमै र्विरक्तैरेवेति। किन्तावत् प्राप्तम्? सकलैरेव चतुराश्रमिभि र्वैष्णवैरिति। कुतः?

यद्यनुज्ञा भवेल्लोके वैष्णवाचार्यसम्मता।
सर्वैरेव ततः कार्यं वैष्णवैरब्धिलङ्घनम्।।१।।

समयोलङ्घनं तेषां निषिद्धाचरणन्तथा।
न स्यात् पातकं नूनं प्रपत्तिपरचेतसाम्।।२।।

यत्कर्माचरणाद् वेदबाह्या अपि कुमार्गतः।
विमुखा भजमानाः स्यु र्नारायणमधोक्षजम्।।३।।

कथं वा पातकं तत् स्यात् कर्माचार्यकृतं महत्।
नातो धर्मः परः कश्चित् श्रुतो दृष्टो महीतले।।४।।

नारायणपरान् सर्वान् कर्तुं म्लेच्छादिकान् शठान्।
वैष्णवत्वाविशेषेण सर्वे गच्छन्तु यत्र ते।।५।।

नेच्छेद् गन्तुं विरक्तश्चेत् त्रिदण्डी सुसमाहितः।
गृहस्थः सर्वथा यायात् सतां धर्ममनुस्मरन्।।६।।

तस्यैव म्लेच्छदीक्षातो धनलाभात् समृद्धता।
प्रयोजनवती वा स्यात् तस्मात् तैरेव गम्यताम्।।७।।

नैष्ठिकव्रतमाप्ताश्चेद् वैष्णवा ये धनेहया।
परोपकारं वाञ्छेयुस्तेऽपि गच्छन्तु सत्वरम्।।८।।

सर्वथा गृह्यधर्मस्थवैष्णवाब्धिविलङ्घनम्।
न्यायातः प्राप्तमेवेति सिद्धान्तः स्यादतः परम्।।९।।

सिद्धान्तः

अनुज्ञासम्भवेऽपीह गृहस्थै र्वैष्णवैः सदा।
समुद्रलङ्घनं नैव कर्तव्यमिति बुध्यताम्।।१०।।

त्याज्यत्वलक्षणाऽशुद्धि र्गृहस्थानां व्यवस्थिता।
सन्ततौ गम्यते दुष्टरोगवद् निन्द्यकर्मतः।।११।।

विरक्तास्तु समाजेभ्यः स्वत एव बहिर्गताः।
त्याज्यत्वेऽपि ततस्तेषां न किञ्चिदपि हीयते।।१२।।

समयोल्लङ्घनाच्चैव निषिद्धाचरणात्तथा।
पातकत्वप्रसक्ति र्वै वैष्णवत्वेऽपि विद्यते।।१३।।

धर्मो धर्मः सदा पुंसां पातकं पातकं सदा।
वैपरीत्यं कथं वा स्यात् श्रुत्यैव यद् व्यवस्थितम्।।१४।।

श्रेयसे प्रेयसे वाऽपि मर्यादा या प्रचोदिता।
तत्समादरणादेव बाह्या ग्राह्या विपश्चिताम्।।१५।।

एकदेशस्थितो दोषः सर्वाङ्गेषु यदा व्रजेत्।
तत्प्रसक्ति र्निवार्यैव सर्वदा हितकाङ्क्षिभिः।।१६।।

एवं विरक्त एवैको दोषवान् यदि जायते।
तन्मात्रगामिदोषत्वात् कदाचित् क्षम्यतां व्रजेत्।।१७।।

ततश्च त्याज्यतादोषे विद्यमाने सति त्विह।
विरक्तो म्लेच्छदीक्षायै गच्छेदन्यो न यत्र ते।।१८।।

गार्हस्थ्यस्य गरीयस्त्वाद् न्यायतो द्रव्यसंग्रहात्।
धर्मानुष्ठानसिद्धेश्च नोचितं म्लेच्छतो धनम्।।१९।।

धनेन तेन किन्तावद् धर्मबाधेन यद् भवेत्।
येन च श्रेयसो ध्वंसो धर्म्यं हि धनमुच्यते।।२०।।

एवञ्च वैष्णवाचारमर्यादापालनस्पृहः।
विरक्ता एव तद्देशं गन्तुमर्हा इति स्थितम्।।२१।।

प्रयोजनन्तु वर्णाश्रमधर्मविलोपकरणं पूर्वपक्षे सिद्धान्ते तन्नेति। अथवा तदधिकारित्वविलोपस्तदभावश्चेति यथायथं स्वयमूह्यम्।

।। इति दशमं पातित्यपेटिकायां कृत्वाचिन्तायां म्लेच्छादीन् दीक्षयितुं विरक्तवैष्णवानामेव तद्देशगमनाधिकरणम्।।१०।।

अथैकादशं कृत्वाचिन्तायां म्लेच्छाधिगतधनस्य शूद्रेषु धनहीनेषु वितरणाधिकरणम्

अतः परं म्लेच्छादिदीक्षाविधानेन लब्धतद्धनस्योपयोगविषयको विचारोऽवसरप्राप्त आयाति—किं विरक्ता वैष्णवा म्लेच्छादिभ्यः प्राप्तस्य धनस्योपयोगं निजाश्रमसमृद्धिविवर्धने कुर्युरुत गृहाश्रमिभ्यो दद्युरिति? तत्रापि तदीयं धनं ब्राह्मणा एव दानपात्रत्वाद् गृह्णीयुरुत क्षत्रियाद्या अपि किं वा शूद्रा एवेति? तत्राऽयं पूर्वपक्षिणोऽभिसन्धिः—

दीक्षादानैः सदाचारिविरक्तवैष्णवै र्धनम्।
म्लेच्छेभ्योऽलम्भि यत्तत्र स्वता तेषां प्रतीयते।।१।।

मठारामादिविस्तारे तीर्थयात्रासु यानतः।
तथा यागादिकार्येषु भूयो धनमपेक्ष्यते।।२।।

दानस्यावसराभावात् तस्माद् वैष्णवैस्तु तद्।
धनं स्वीयसमृद्धीनां प्रताने विनियुज्यताम्।।३।।

सिद्धान्तः

नैतत् सारं यतस्तेषां विरक्ति र्बाध्यते ततः।
सकलं तद्धनं श्रेष्ठब्राह्मणेभ्यः प्रदीयताम्।।४।।

पात्रत्वाद् ब्राह्मणः सर्वं ग्रहीतुमर्हति ध्रुवम्।
तद्धनेन च तस्यापि धर्मबाधो भविष्यति।।५।।

दोषः स एव राजन्यवैश्ययोश्च प्रसज्यते।
अत एव च शूद्रेषु धनहीनेषु सर्वदा।।६।।

म्लेच्छादीनां धनं सर्वं न्यायतस्तु प्रसर्पति।
नैतावता च शूद्राणामाचारो रोधमेष्यति।।७।।

प्रयोजनन्तु सनातनमर्यादाविलोपस्तदभावश्चेति पूर्वोत्तरपक्षाभ्यामेवोक्तप्रायम्।

।। इति पातित्यपेटिकायां कृत्वाचिन्तायां म्लेच्छाधिगतधनस्य शूद्रेषु धनहीनेषु वितरणाधिकरणम्।।११।।

●

अथ द्वादशं
व्यवस्थयाऽऽश्रमधर्मस्वीकाराधिकरणम्

गतेयं कृत्वा चिन्ता। अतः परं स्वीकृतवैष्णवमार्गाणां पतितानान्तथाऽन्येषामपतितानाञ्चाश्रमव्यवस्था विचार्यते। यद्यपि कलौ वानप्रस्थाश्रमः परिवर्जितो वर्तते। ततः परिशेषादाश्रमत्रयमेवाधिकृत्य विचारः क्रियते। किं सर्वैः सर्व आश्रमा यथापेक्षं ग्रहीतव्या उत यथाशास्त्रं व्यवस्थयेति? किन्तावत् प्राप्तम्? सर्वैः सर्व आश्रमाः परिग्रहीतव्या इति। कुतः?

वेदाध्ययनकार्यार्थं ब्रह्मचर्यं व्यवस्थितम्।
तदूर्ध्वं धर्मसिद्ध्यर्थं गार्हस्थ्यं स्यात् ततस्तु सः।।१।।
कलौ सन्न्यासधर्मः स्याद् येन ब्रह्मणि लीयते।
वैराग्ये जायमाने तु क्रमं त्यक्त्वा स गृह्यते।।२।।
वैष्णवादिविधायान्तु भगवद्भक्तिसिद्धये।
ब्रह्मचर्यञ्च सन्न्यासः साम्प्रतं परिगृह्यते।।३।।
प्रजातन्तुवितानाय रतिसिद्ध्यर्थमेव वा।
गार्हस्थ्यं गृह्यते पुम्भिः पित्र्यादेशप्रयुक्तितः।।४।।
गृहस्थाश्रमसम्पृक्ता अपि केचिद् महाशयाः।
निष्ठया भजमानाः स्यु र्नारायणमधोक्षजम्।।५।।
प्रयत्नेन यदा येषां पत्नीलाभो न विद्यते।
नैष्ठिकाश्रममाश्रित्य भजन्ते तेऽपि तं सदा।।६।।
अत इच्छाप्रयुक्तत्वादाश्रमाणां व्यवस्थया।
ग्राह्यत्वं नैव संसिद्धं यथेच्छं तत् प्रवर्तताम्।।७।।

सर्वे वर्णास्तदन्येऽपि स्वेच्छया वा परेच्छया।
आश्रमानधिगृह्णन्तु कृतमत्र व्यवस्थया।।८।।

मानवमात्रविषयत्वाद् धर्मस्य गार्हस्थ्ये धर्मानुष्ठानयोग्यतासम्पादनार्थं यथाधिकारं ब्रह्मचर्यमावश्यकम्। यद्यपि वेदाध्ययन एव ब्रह्मचर्यशब्दो मुख्योऽस्ति तथापि लोके तदर्थव्रतेन्द्रियसंयमादिष्वर्थेषु प्रयुज्यमानो गौण्या वृत्त्या दृश्यते। तदर्थमेवोक्तं 'वेदाध्ययनकार्यार्थं ब्रह्मचर्यं व्यवस्थितमिति। समाप्तवेदाध्ययनतदर्थविचारो लब्धदुष्करपदाभिधायनीयकं ग्रार्हस्थ्यमङ्गी-करोति। तत्र प्रतिषिद्धकर्मवर्जनपुरःसरनित्यनैमित्तिकधर्मानुष्ठानव्यग्रचेता आवश्यकत्वाद् धर्मत्वाच्च काम्यमप्यनुतिष्ठति सहैव प्रजातन्तुवितानेन। प्रजातन्तुं मा व्यवच्छैत्सीरिति तैत्तिरीयाः समामनन्ति। अतः प्रजातन्तुवितानमपि धर्मान्तर्गतमेव यदि यथाशास्त्रं सम्पद्यते। परिसमाप्याशेषं गृह्यकृत्यं मुनिवृत्तो वानप्रस्थो भवति कलिव्यतिरिक्तयुगेषु। ततस्तुरीये वयसि तुरीयाश्रममाश्रित्य विगलितपरिमितप्रमातृत्वो यथोपदेशं ब्रह्म सम्पद्यत इति वेदान्तविदो वदन्ति। क्रममिममाश्रित्यैव निःश्रेयसमिति शास्त्राभिज्ञा ब्रुवते। क्रमातिक्रमेण ब्रह्मचर्यादेव ये परिव्रजन्ति तेषामन्तरायः पदे पदे चकास्ति। श्रीमल्लब्धभगवत्कृपया एवंविध उत्तीर्णसकलान्तरायः कश्चिदेव 'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत' इति न्यायेन परमपदवीमुपैति। अन्ये प्रायः पङ्के गाव इव सीदन्ति प्रपञ्चमेव पुष्णन्तः। सन्न्यासे ब्राह्मण एवाधिकरोति। तदितरे योषितश्च स्वीकृत्य तं पतन्तीति सकलशास्त्रनिष्कर्षः। इयञ्च त्रयीव्यवस्थापिता विधा। वैष्णवविधायां नेयं व्यवस्था सिद्ध्यति। भगवद्भक्तिपरिपोषणार्थमेव ब्रह्मचर्यसन्न्यासयोः स्वीक्रियमाणत्वात्। गृहस्थाश्रमे तु प्रजातन्तुवितानरतिसिद्धिभ्यां सहैव भगवद्भक्तिरपि भवति। केचित् पुनः पत्न्या अलाभे नैष्ठिकव्रतं सन्न्यासञ्च स्वीकुर्वन्ति। अपि च, तथाविधा अपि महापुरुषा विलोक्यन्ते ये केवलं मठाध्यक्षपदवीमवाप्तुमेव स्वीकृततुरीयाश्रमा भवन्ति। ते च धर्मनिरपेक्षतापरिपोषका एव सर्वधर्मसमभावसिद्धान्तमङ्गीकृत्य सर्वतोभावेन सम्पदमेवार्जयन्ति। तथा चान्ये साम्प्रतिकराजनीतौ जनाधारितासम्पादनार्थमेव संन्यस्यन्ति प्राप्नुवन्ति च सचिवादिपदम्। एवंविधाश्च सर्वे यथापेक्षं राजनैतिकदलमाश्रयन्ते। तथाविधा अपि

सन्न्यासिनो भारते विलोक्यन्ते ये स्त्रीपरिग्रहं वैधमङ्गीकृत्य प्रजातन्तुवितानं कुर्वते। तेषाञ्च सत्पुत्राः श्रीमद्भागवतादिकथाप्रवचने संलग्ना विलोक्यन्त एव। वृन्दावनादौ प्रमददभक्त्याश्रमादौ सर्वमेवं विलोकनीयमेव। अन्ये चासूययैव त्रिदण्डादिधारणं कुर्वन्ति स्वीयमाचार्यत्वं ख्यापयितुम्। अत एवैकस्मिन्नेव पीठे विवादग्रस्तमाचार्यबहुत्वं दरीदृश्यते। विवादश्चायं न क़ेवलं वैष्णवपीठेष्वेव, शङ्कराचार्यपीठेष्वपि विद्वेषलोभादिप्रयुक्तो भवतीति नाविदितं सर्वलोकस्य। अत्र विपश्चित्समुदायोऽपि मौनमालम्ब्य प्रतिपक्षिगुह्यप्रवेशन्यायमङ्गीकृत्य व्यवहरति। सर्वथा तावदाश्रमव्यवस्था न प्रतीयते। आह-लोकव्यवहारमेव विलोक्य भवान् ब्रूते। न चैवं युक्तमिव प्रतिभाति। शास्त्रचक्षुषा भवितव्यम्। यथाशास्त्रं वक्तव्यमेव। शास्त्रन्तु व्यवस्थां प्रतिपादयति। एवन्तर्हि कृतमव्यवस्थाप्रतिपादनव्यसनेन। मैवं वोचः। न्यायानुगतविचारोऽयं न न्यायपराङ्मुखः। वैष्णवमार्गे श्रीमन्नारायणप्रपत्तिसिद्धिरेव परमप्रयोजनतया स्थिता। सा च यया कयाचिद् विधया सिध्यति तयैव साध्या। गृहस्थाश्रमे यदि सिध्येत् सा तर्हि स एव ग्राह्यः। आश्रमान्तरे तत्सिद्धावाश्रमान्तराण्येव ग्राह्याणि भंवन्ति। प्रपत्तेश्चाधिकारिणः सर्वे भवन्तीति तदीयागमाचार्यवचनैरवगम्यते। तथा च भरद्वाजसंहितायाम्—

'ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्राः स्त्रियश्चैवान्त्यजास्तथा।
सर्व एव प्रपद्येरन् सर्वधातारमच्युतम्।।
बालमूकजडान्धाश्च पङ्गवो वधिरास्तथा।
सदाचार्येण सन्दिष्टाः प्राप्नुवन्ति परां गतिम्'।। इति।

अगस्त्यसंहितायामपि—

स्त्रियः पतिव्रताश्चान्ये प्रतिलोमानुलोमजाः।
लोकाश्चाण्डालपर्यन्ताः सर्वेऽप्यत्राधिकारिणः।। इति।

वृद्धहारीतस्मृतावपि—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रास्तथाऽपरे।
तस्याधिकारिणः सर्वे सत्त्वशीलगुणा यदि।। इति।

एतत्सकलागमवचनानि हृदि कृत्वैवाचार्यपादैरभिहितम्—

सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणः सदा
शक्ता अशक्ताः पदयो जगत्प्रभोः।
अपेक्ष्यते तत्र कुलं बलञ्च नो
न चापि कालो न च शुद्धताऽपि वै।। इति।

(श्रीवैष्णवमताब्जभास्करे ४.५०)

एवञ्च श्रीमद्भगवत्प्रपत्त्युपायत्वेन स्थितानामाश्रमाणां न व्यवस्थासिद्धिः। तथा च ब्राह्मणादिम्लेच्छावसानाः सर्व एव यथारूचि प्रपद्यन्तामाश्रमानित्येवं प्राप्ते, अभिधीयते—

नास्ति वाञ्छाप्रयुक्तत्वादाश्रमाणां स्थिति र्भुवि।
वैष्णवानां समाजेऽपि श्रुत्युक्तो धर्म इष्यते।।९।।

ब्रह्मचर्ये च गार्हस्थ्ये कलौ क्षत्रियवैश्ययोः।
संस्थितिः क्रमशः प्रोक्ता न सन्न्यासे कदाचन।।१०।।

ब्राह्मणानाञ्च सन्न्यासो विद्यावैराग्यशालिनाम्।
शास्त्रेषु दृश्यते नूनं शूद्रा गार्हस्थ्यभागिनः।।११।।

एवञ्च ये त्रयीभ्रष्टाः सर्वे ते निष्ठया पुनः।
एकं गार्हस्थ्यमाश्रित्य भजन्तां पुरुषोत्तमम्।।१२।।

यदा वा दैवयोगात्ते गृहस्थाश्रमवञ्चिताः।
भवेयु र्वै तदा कण्ठीं गृहीत्वा स्यु र्यथारुचि।।१३।।

ये वा गार्हस्थ्यमाश्रित्य मध्ये प्रव्रजन्ति च।
ते सर्वे नरके घोरे पतन्तीति श्रुतीरितम्।।१४।।

गार्हस्थ्यलङ्घनेनापि सन्न्यासं संश्रयन्ति ये।
विष्णो र्मायागृहीतास्ते नाप्नुवन्ति परं पदम्।।१५।।

अतः पूर्वाश्रमादेव सन्न्यासं गृह्णन्तु ते।
एषणात्रयमुक्ता ये जन्मान्तरतपःश्रिया।।१६।।

गार्हस्थ्यमुपलभ्यापि प्रपञ्चैकपरायणाः।
गृह्यकृत्यपृथग्भूता दानादिधर्मवञ्चिताः।।१७।।
ये सन्ति भगवद्भक्तेः संशून्यहृदयास्तथा।
ते सर्वे विभवव्यस्ताः पतन्ति निरये सदा।।१८।।
एवं व्यवस्थया सिद्धा आश्रमा ये सनातनाः।
तानाश्रित्य यथाशास्त्रं कर्तव्या भक्तिरादरात्।।१९।।
सन्न्यासो ब्राह्मणैरेव कालेऽनुष्ठितकर्मभिः।
भगवद्भक्तिमुद्दिश्य ग्राह्यो विद्याविशारदैः।।२०।।
परिपक्वकषायैश्च जाते वैराग्यवैभवे।
ब्रह्मचर्याद् गृहाद् वाऽपि गृह्यते स क्वचित्तु तैः।।२१।।
क्षत्रिया वैश्यशूद्राश्च स्त्रियो वापि स्वधर्मतः।
विमुक्ताः प्रव्रजेयुश्चेद् विमोहितधियः क्वचित्।।२२।।
ते सर्वे रौरवे घोरे पतेयुश्च पुनः पुनः।
इति सिद्धान्तनिष्कर्षः शास्त्रदृष्ट्या मयोदितः।।२३।।
गार्हस्थ्यपालनं सम्यक् कर्तव्यं तैरिति श्रुतौ।
लिङ्गं संदृश्यते सर्वं स्मृतौ च समुदीरितम्।।२४।।
एवञ्च बौद्धम्लेच्छाद्यै र्गृहीतवैष्णवैरपि।
स्वप्नेऽपि भिक्षुधर्मोऽसौ नैव ग्राह्यो हितेच्छुभिः।।२५।।

नास्ति वैष्णवानामन्येषां वा मानवानां श्रुतिबाह्यो धर्मो येन चाव्यवस्थयैव किञ्चित् कार्यं भवेत्। सकलैव वैदिकव्यवस्था वैष्णवादिसमाजेऽपीत्युक्तप्रायम्। यद्यपीदानीं क्षत्रिया वैश्याश्च न ब्रह्मचर्यापरनामधेयं वेदाध्ययनं कृत्वा गृहस्थाश्रममुपयन्ति। ब्राह्मणा अपि तथैव प्रायः दृश्यन्ते। आधुनिकशिक्षाव्यामोहग्राहग्रस्ताः सर्वे येन केन प्रकारेण जीविकामुपलभ्य रतिसन्तानवित्तादिप्रतानार्थमेव दारसंग्रहं प्रकुर्वते। वेदाध्ययनपरिपाटी ब्राह्मणेष्वेव कुत्रचिदेव प्रचलति। यथाऽन्यत्र तथा

वैष्णवेष्वपि विशेषतो रामानुजीयसम्प्रदायेषु। एवञ्च क्षत्रियवैश्ययो र्ब्रह्मचर्यग्रहोऽकिञ्चित्कर एव तथापि तत् ताभ्यां ग्रहीतुं शक्यते यथासस्कारं वर्तमानाभ्याम्। गार्हस्थ्येऽपि कैश्चनैव सर्वे धर्माः परिपाल्यन्ते। तत्र प्रायः वित्तपरिग्रहो येन केनचिद् मार्गेण परिवारपरिपोषणाद्येव वा धर्मत्वेन चकास्ति। एवं स्थितौ दूरे चर्चा सन्न्यासपरिग्रहस्य। आश्चर्यमत्र सन्न्यासापरपर्यायं भिक्षुमार्गमङ्गीकृत्य साम्प्रतं सर्वे वर्णा विलोक्यन्ते स्वधर्मपराङ्मुखाः। स्त्रियोऽपि तथैव। अनधिकृतचेष्टैवात्रमूलं न शास्त्रम्। एवमेव बौद्धादिम्लेच्छाव-सानानामप्यगृहीतवैष्णवादिधर्माणां भिक्षुमार्गवर्तमानता दृश्यते नरकतमिस्त्रापरिपातनिदानभूता। यत्र क्रमेण ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यधर्मोपेतानां विद्याविनयवैराग्यतपःशालिनां ब्राह्मणानामेवाधिकारस्तत्र भिक्षुमार्गे तद्भिन्नानां सर्वेषामेव प्रवृत्ति रनर्थभूतैवेति शास्त्रमत्र प्रमाणम्। आश्रमत्रयभाक्त्वञ्च कलौ ब्राह्मणानामेव। शूद्रादयः केवलं ग्रार्हस्थ्यभाज एवेति 'विवाहमात्रसंस्कारं शूद्रोऽपि लभतां सदेति वचननेनावसीयते। अत्रापिना म्लेच्छाद्या अपि गृहीतवैष्णवाः परिगृह्यन्ते। मध्येऽपि सन्न्यासपरिग्रह उत्कटवैराग्यसम्पत्तौ जायमानायां गुर्वनुग्रहादिना वा ब्राह्मणानामेव। तद्भिन्नानाञ्च तत्परिग्रहो नरकपातहेतुरिति व्याख्यातप्राया एव श्लोकाः सन्ति। अनधिकारचेष्टाऽपि पातित्यप्रयोजिकेति पेटिकायामेतद्विचारावसरः।

आह—अधिकारसिद्धौ लोकव्यवहारस्य हेतुत्वाल्लोके तावदिदानीं स्वेच्छयैव सन्न्यासपरिग्रहसंदर्शनात् सर्वाधिकारितैव निश्चेतव्या। श्रुतिरपि यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेदिति न ब्राह्मणमेव वर्णविशेषं निर्दिशति। विरागभावमेव निमित्ततया सन्न्यासे ब्रूते सा। पूर्वजन्माभ्यासतपःक्रियादिभि र्वैराग्यं मानवसामान्यस्य भवितुमर्हति यतस्तस्माद् ब्राह्मणमात्रसन्न्या-सपरिग्रहोक्ति र्भवतां विद्वेषमूलेति। अथवा मा भूच्छूद्राणां बौद्धजैनयवनम्लेच्छानां परिगृहातवैष्णवादिदीक्षाणां वा सन्न्यासाधिकारो वेदाध्ययनाधिकाराभावादेव चेद् भवान् मन्येत तर्हि द्विजोपाधिधारिणां त्रैवर्णिकानां सिद्ध्यत्यसौ। शास्त्रानुकूलताऽप्यत्रास्ति। तथा हि याज्ञवल्क्यः—

'अधीतवेदो जपकृत् पुत्रवानन्नदोऽग्निमान्।
शक्त्या च यज्ञकृद् मोक्षे मनः कुर्यात्तु नान्यथा'।। इति।

यमोऽपि तथैव स्मरति—

जातपुत्रो गृहस्थो वा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः कृतकृत्यः परिव्रजेत्।। इति।

एवमेव शङ्खलिखितावपि—

समाहृतेन्द्रियग्रामो विषयेभ्यः सुदूरतः।
आत्मैकरामो मनसा निरस्य परिपन्थिनः।।
योगाभ्यासेन बहुशो लब्धात्माऽदृढबन्धनः।
सर्वसङ्गनिवृत्तात्मा ब्रह्मचार्यपि सुव्रतः।।
एतै र्गुणैरूपेतश्चेद् गृहस्थो वा प्रजायते।
कृत्वेष्टिं विधिवद् दत्त्वा सर्ववेदसदक्षिणाम्।।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य द्विजो ब्रह्माश्रमी भवेत्।
सोऽधीतवेदतत्त्वार्थो गृहवासमशक्नुवन्।
प्रव्रजेदकृतोद्वाहो वनाच्चीर्णो गृहादपि।। इति ब्रूतः।

अत्राधीतवेदत्वान्नदत्वाग्निमत्त्वसर्वकामकृतकृत्यत्वविजितेन्द्रियत्वात्मैकरामत्वसर्वसङ्गविवर्जितत्वद्विजत्वादीनि सन्न्यासाधिकारिविशेषणान्युक्तानि यानि क्षत्रियवैश्ययोरप्यविरुद्धानि। तस्माद् ब्राह्मणक्षत्रियविशस्त्रयो वर्णाः सन्न्यासमर्हन्तीति निश्चीयते। सर्वमेतल्लोकशास्त्रोभयव्यवहारमालोच्य श्रीमद्रामानन्दाचार्यरामेश्वरानन्दाचार्योऽपि श्रीवैष्णवसन्न्यासमीमांसायां ब्रूते—'द्विजस्यैव सन्न्यासेऽधिकार आयाति। ते च ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या ब्रह्मचर्याद् वा गृहाद् वा वनाद् वा कथञ्चित् पारिव्राज्यमर्हन्ति। शूद्राणाञ्च वेदाध्ययनाधिकाराभावात् पारिव्राज्यमेभि र्वचोभिः कथञ्चिदपि न सिद्ध्यति। स्त्रीणान्तु का कथेति।

श्रीमद्रामेश्वरानन्दाचार्यो वैष्णवेतरमताभिप्रायेणाब्रवीत् तदिति तदीयमिमग्रन्थमवलोकनेनावसीयते। सम्मतं च प्राप्तप्रपत्तिकस्य

सन्न्यासाधिकारः। प्रपत्तेश्च प्राप्तिः सर्वैरेव स्त्रीशूद्रपङ्ग्वन्धवधिरादिभि स्तिर्यक्प्राणिभिरपि श्रीमद्भगवदनुग्रहबलेन कर्तुं शक्यत इति सर्वे मानवा म्लेच्छावसानाः स्वीकृतवैष्णवधर्माः सन्न्यासाधिकारभाजो भवितुमर्हन्ति। यथोक्तं तेन श्रीवैष्णवसन्न्याससमीमांसायामेव—

'भगवत्प्रपन्नानां च सर्वतोभावेन विशुद्धत्वात् क्षीणदुष्कृतत्वाच्च सर्वेषामेव सन्न्यासाश्रमप्रवेशाधिकारो दीक्षाप्राप्तेरधिकारश्च सुतरां सिद्ध्यति। किन्तु समेषामेव सन्न्यासग्रहणात् पूर्वं प्रपत्तिः पञ्चसंस्कारश्च परमावश्यकः'। इति।

तत्रैवासावाचार्यप्रवर स्त्रिदण्डधारणे शास्त्रवचनविरोधमङ्गीकृत्य पूर्वोक्तं नियममपलपति। तथा हि तत्रैव तेनोक्तम्—

'किन्तु त्रिदण्डधारणे नायं नियमः। शास्त्रवचनविरोधात्। प्राप्तसन्न्यासदीक्षैरपि स्त्रीशूद्रादिभि स्त्रिदण्डः कदाचिदपि न धारणीयः। अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्। अभिमतफलावाप्तेः। सम्प्रदायाचार्याणां शास्त्राणाञ्च वचसां सर्वथा परिपालनमपि भवति। ब्राह्मणक्षत्रियविशां ब्रह्मचारिणां च दण्डनियमोऽवलोक्यते, स्त्रीशूद्रादीनाञ्च दण्डनियमो नास्ति। तथैव स्त्रीशूद्रादीनां पारिव्रज्यायां सत्यामपि त्रिदण्डो न धारणीयो द्विजसन्न्यासिभिरेव धारणीयो नान्यैरिति विद्यते शास्त्राणां नियमः। इति। सत्येवं ब्राह्मणानामेव सन्न्यास इति वचो महासाहसप्रयुक्तमिति चेत्? न। शूद्रादिचाण्डालम्लेच्छावसानां सन्न्यासाधिकारोऽस्तीति श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यवचो निरस्तप्रायमेवास्ति जाबालश्रुत्यनुरोधात्। 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृहीभवेत् गृहीभूत्वा वनी भवेद् वनीभूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद् वा वनाद्वा'। (जाबा. ४) इति हि जाबालश्रुतिरस्वीकृतवेदाध्ययना-परपर्यायब्रह्मचर्याश्रमस्य सन्न्यासग्रहणमर्थात् प्रतिषेधति। शूद्रादीनाञ्च ब्रह्मचर्यस्यापशूद्राधिकरणन्यायेनैव निरस्तत्वात् सन्न्यासोऽपि निरस्त एव। न च व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वेति तदुत्तर-वर्तिश्रुत्यनुरोधात् सर्वेषामेवाधिकारः सिध्यत्येवेति वाच्यम्। गार्हस्थ्ये कर्मण्यनधिकृतविषयत्वादस्याः श्रुतेः। न चैतावता वेदाध्ययनाधिकारशून्यानां स्त्रीशूद्रादीनामपि तदधिकारः सिद्ध्यति।

'प्रव्रजिष्यन् वैतस्मादाश्रमादस्मीति वाजसनेयिब्राह्मणे याज्ञवल्क्यकर्तृकं कात्यायिनीमैत्रेयीधनविभागप्रतिपादनमपि सन्न्यासे स्त्रीणामनधिकारं सूचयति। अन्यथा पत्या सहैव तयोरपि पारिव्राज्यं स्यादिति। सर्वकर्मसन्न्यासेऽपि वेदासन्न्यासं प्रतिपादयन् भगवान् मनुरपि वेदसन्न्यासिनः शूद्रसरूपतामापादयन् शूद्रादीनां सन्न्यासानधिकारितां स्पष्टमेव ब्रूते। तथा हि स भगवानाह—

'सन्न्यसेत् सर्वकर्माणि वेदमेकं न सन्न्यसेत्।

वेदसन्न्यासतः शूद्रस्तस्माद् वेदं न सन्न्यसेत्'।। इति।

(मनु. ६.९६)

एवञ्च स्त्रीशूद्रादीनां सन्न्यासानधिकारेऽपि सन्न्यासाधिकारितां ब्रुवन् श्रीमद्रामेश्वरानन्दाचार्यः सर्वतो मान्य इव प्रतिभाति। तत्प्रभावादेवेदानीं सर्वे वेदान्ता श्रीमद्भगवद्रामानन्दभाष्यसंवलिताश्चकासति। यत्तु प्राप्तसन्न्यासदीक्षैरपि स्त्रीशूद्रादिभिस्त्रिदण्डो न धारणीयः, स तु त्रैवर्णिकैरेव धारणीयः शास्त्रवचनविरोधादित्युक्तं तदपि पूर्वोक्तेनैव प्रत्याख्यानेन निरस्तम्। त्रैवर्णिकविषयं त्रिदण्डधारणमिति परम्पराविरुद्धत्वेनापास्तम्। न हि वैष्णवपरम्परायां क्षत्रिया वैश्या वा त्रिदण्डधारिणो दृश्यन्ते तत्त्वेनानुमन्यन्ते वा। ब्राह्मणेष्वेव तद्दर्शनात्। त्रिदण्डिव्यतिरिक्ता अपि वैष्णवसम्प्रदाये सन्न्यासिनो भवन्तीति तदीयवचनेन प्रतीयते। तत्तु योग्यानुपलब्ध्यैव निरस्तम्। विप्रशब्दस्तावल्लोके ब्राह्मणेष्वेव प्रवर्तते।

तथा च—

'चतुर्धा भिक्षवो विप्राः सर्वे चैव त्रिदण्डिनः'।

इति वचनेन ब्राह्मणस्यैव सन्न्यासवत्त्वं त्रिदण्डित्वञ्च सिद्ध्यति। यद्युच्येत—

'वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डश्च ते त्रयः।

यस्यैते नियता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते'।।

इति मनूक्तरीत्या वाग्दण्डादिविषयकत्रिदण्डित्वं तच्च सर्वेषामविरुद्धमिति। तथा सति भवदुक्तरीत्या त्रैवर्णिकैरेव त्रिदण्डो धारणीय इति न सिध्यति। भवन्मतविपरीतमपि सिध्यति ब्राह्मणानामेव वाग्दण्डादियोगात् क्षत्रियादीनां तत्स्वीकारे स्वधर्मातिक्रमप्रसङ्गाच्च। अपि च—

'त्रिदण्डरूपधृग्विप्रं साक्षान्नारायणात्मकम्।
यस्तु पूजयते भक्त्या विष्णुस्तेन प्रपूजितः'।।

इति दत्तात्रेयस्मृतिमुदाहरता स्वेनैव स्वीकृतं ब्राह्मणैरेव त्रिदण्डो धारणीय इति। यद्युच्येत पूजाविषयत्वेनैतद्वचनं ब्राह्मण एव त्रिदण्डी पूज्यो नान्य इति। नैतावता क्षत्रियवैश्ययोस्त्रिदण्डधारणं विरुध्यते। अत एव—

त्रिदण्डं वैणवं लिङ्गं द्विजानां मुक्तिसाधनम्।
निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम्।।

इति जमदग्निवचनं सङ्गच्छते। तत्र हि द्विजानामिति सामान्यतो लिङ्गं त्रैवर्णिकाभिप्रायमिति।

भवतु नाम तथा। किन्तु—

'चीर्णवेदव्रतो विद्वान् ब्राह्मणो मोक्षमाश्रयेत्।
निःस्पृहः सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च'।।

इति यमवचनस्य किं करिष्यति तत्रभवान् यदुदाहृतं श्रीवैष्णवसन्न्यासमीमांसायाम्। अपि च, भवतैव खलु महाभागवतेन सन्न्यासविधिप्रकरणे—

'य एवं विद्वान् ब्रह्मरात्रीमुपोष्य ब्राह्मणोऽग्नीन् समारोप्य वा प्रमीयते सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यामि'ति बौधायनवचनन्तथा—

'ब्रह्मरात्रीं ततो दद्यात् पौर्णमास्यां द्विजोत्तमः।
प्रात र्हुत्वा स्वकल्पेन कृत्वा स्नानादिकां क्रियाम्।।

इति दत्तात्रेयवचनमृदाहृत्य—

'दत्वा तोयाञ्जलिं विप्रो भक्त्या सम्प्रार्थयेद् हरिम्।
सर्वदेवात्मके तोये तोयाहुतिमहं हरे'!।।
दत्वा सर्वैषणां त्यक्त्वा युस्मच्छरणमागतः।
त्राहि मां सर्वलोकेश! गतिरन्या न विद्यते।।
सन्न्यस्तं भो जगन्नाथ! पाहि मां मधुसूदन!।
त्राहि मां सर्वदेवेश! रघुनाथ! सनातन!।।
सन्न्यस्तं भो जगद्योने! पुण्डरीकाक्ष! मोक्षद!।
अहं सर्वाभयं दत्त्वा भूतानां परमेश्वर!।।
युस्मच्छरणमापन्नस्त्राहि मां पुरुषोत्तम!।।

इति यमवचनानि समुदाहृतानि ब्राह्मणमात्रकर्तृकसन्न्यासग्रहण-लिङ्गकानि तानि सर्वाण्यपि विरुध्यन्ते मानवसामान्यार्थसन्न्यासाधिकार-प्रतिपादनेन। ननु स्वीकरोमि तावद् द्विजोत्तममात्रविषयकसन्न्या-सविधिमहमपि तथापि तुष्टीकरणनीत्या वैष्णवसमाजविवर्धनाय श्रीमदाचार्यपादापेक्षयापि स्वीयौदार्यप्रकटनाय रामानुजीयग्राहविस्फारित-वक्त्रोदरग्रासीभवत्श्रीमद्रामानन्दीयसम्प्रदायसंरक्षणाय चापद्धर्ममङ्गीकृत्य सर्वेभ्यः स्त्रीशूद्रम्लेच्छादिभ्योऽपि सन्न्यासोऽस्तीत्युक्तवानस्मि। वैष्णवविषयकत्रिदण्डधारणावधारणायैक-दण्डधारणनिन्दाऽपि—

'एकदण्डं समाश्रित्य जीवन्ति बहवो द्विजाः।
न तेषामपवर्गोऽस्ति लिङ्गमात्रोपजीविनाम्।।
यस्त्वेकदण्डमालम्ब्य ब्राह्मं कर्म यतिस्त्यजेत्।
स चाण्डालो महापापी रौरवं नरकं व्रजेत्'।।

इति विष्णुबृहत्पराशरस्मृतिवचन उदाहरता मया विहिता तथ्यं विजानतापीति चेत्? सत्यम्। तथापि नैवं समाचरणीयं भवेद् भवद्विधै र्जगद्गुरुभिः। अण्वपि वैपरीत्यमादधद् वाक्यार्थो लोकं निःश्रेयसाच्च्यावयति तस्यानर्थजातं सम्पादयति च। सर्वेऽनधिकारिणः

सन्न्यासविधिं स्वीकृत्य स्वधर्मात् पराङ्मुखाः सन्न्यासेनापि निष्प्रयोजना अन्धतामिस्त्ररौरवादिश्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धनरकतमिस्त्राभाजो भवेयु र्यत्र निमित्तभूता अत्रभवन्तो जगद्गुरव एव भवेयुरिति नैतत् समीचीनम्। अत एव धर्माधर्मविचारप्रसङ्गे समुपस्थिते न विहिपसमर्थितधर्मसंसदिव निर्णयं प्रकुर्वते सकलशास्त्रार्थतत्त्वविचक्षणाः। किन्तर्हि? श्रुतिस्मृति-पुराणादिचतुर्दशविद्याजातं न्यायाँश्च सम्यगाकलय्य देशकालानुसारत आपादयन्ति व्यवस्थाम्। श्रुतिषु स्मृत्यादिषु च ब्राह्मणाधिकारित्वेनैव संन्यासः प्रतिपादितः। तथा हि जाबालश्रुतिः सन्न्यासे विप्रं निर्दिशति—

'शतं कुलानां पुरतो बभूव तथा पराणां त्रिशतं समग्रम्।
एते भवन्ति सुकृतस्य लोके येषां कुले संन्यसतीति विप्रः।। इति।

सन्न्यासविधिष्वपि 'ब्राह्मणो निर्वेदमायन्' इति ब्राह्मणस्यैव ग्रहणमस्ति।

एवमेव—

'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति'। (जाबा.)

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन निष्ठासेत् बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनञ्च निर्विद्याथ ब्राह्मणः।
(बृहदा. ३.५.१)

'तं वैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इत्येवमाद्या बह्व्यः श्रुतयः सन्न्यासाधिकारित्वेन ब्राह्मणमेव निर्दिशन्ति। इत्थमेव बहूनि स्मृतिपुराणवचनानि सन्ति पूर्वमुदाहृतान्येव यानि। भगवान् मनुरपि निर्दिशत्येतत्तथ्यम्—

'प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्।।
यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः।।
(मनु. ६.३८.३९)

अत्र ब्रह्मवादित्वं नैव क्षत्रियादीनां सम्भवति। तत्रैव षष्ठाध्याये—

'एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।

पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत'।।

इत्युसंहारवाक्ये चतुर्विधाश्रमधर्मस्य ब्राह्मणाधिकारिकस्य प्रतिपादनं निर्दिश्य सप्तमाध्याये क्षत्रियधर्मप्रतिपादनप्रतिज्ञा भगवतो मनो 'र्नास्ति क्षत्रियस्यापि सन्न्यास' इति ध्वनति। एतत्सर्वमभिप्रेत्यैव मदुक्तमेवाह वृद्धयाज्ञवल्क्योऽपि—

'चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिचोदिताः।

क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेको वैश्यशूद्रयोः'।। इति।

एतेन—

'त्रयाणां वर्णानां चत्वार आश्रमाः'।

इति कठसूत्रानुरोधेन, तथा च—

'ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽथ वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात्'।

इति कौर्माद्युक्त्यनुरोधेन वेदेषु ब्राह्मणनिर्देशस्योपलक्षणत्वमङ्गीकृत्य वर्णत्रयाधिकारवादिनो निरस्ता वेदितव्याः। श्रुतिगतेषु सर्वेषु सन्न्यासविधिषु ब्राह्मणग्रहणस्य यत्किञ्चित्स्मृत्यनुरोधेनोपलक्षणत्वस्वीकारस्यानौचित्यात् प्रमाणाभावाच्च। एवञ्च प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धानां स्मृतीनां 'विरोधेऽत्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानमिति' विरोधाधिकरणन्यायेनाप्रामाण्यमेव सिध्यति। विरोधाधिकरणन्तु धर्मशुद्धावेव प्रपञ्चितम्। असति प्रमाणे प्रक्रियान्तरविरोधे वा नोपलक्षणत्वं स्वीक्रियते। उपलक्षणत्वमपि क्वचित् स्वार्थत्यागेन परार्थग्रहणात्मना क्वचिच्च तदत्यागेनेति। 'गङ्गायां घोष' इत्यादिलौकिकप्रयोगे स्वार्थत्यागेनोपलक्षणत्वं स्वीक्रियते। तथा च—

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन'।

इति विविदिषावाक्ये 'ब्राह्मणा' इत्यस्योपलक्षणत्वं स्वार्थात्यागेनैव। अस्त्यत्र प्रमाणमुपलक्षणत्वस्वीकारे। अत्र 'वेदो मन्त्रब्राह्मणात्मक अनूच्यते गुरूच्चारणानन्तरं पठ्यते' इति व्युत्पत्त्या वेदानुवचनं वेदाध्ययनमेवोच्यते।

तच्च त्रैवर्णिकसाधारणमिति स्वीक्रियते। किमिति? उपनीताधिकृतत्वाद् वेदाध्ययनस्य, उपनयने च त्रैवर्णिकाधिकारादित्युक्तमपशूद्राधिकरणे षष्ठे। एतत्सर्वं नोपपद्येतोपलक्षणत्वस्वीकारमन्तरेण। अत एवात्रोपलक्षणत्वं ब्राह्मणपदस्येति। पारलौकिकफलककर्माधिकारसिद्ध्यर्थमात्मज्ञानमपेक्ष्यते क्षत्रियवैश्याभ्यामपि। यत्र तु दानतीर्थस्नानैकादशीव्रतादौ शूद्रस्याप्यपेक्षा तदाऽसावपि पुराणादिभि र्यथाधिकारमात्मज्ञानं सम्पादयेदेव। एतच्च शारीरकभाष्योदाहृतपाठमङ्गीकृत्योपपादितम्।

'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण,

तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन।

चैतमेव विदित्वा मुनि र्भवत्येतमेव,

प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति'।। (बृह. ४.२.२५)

इत्यत्र नैव दृश्यते ब्राह्मणपदं तथापि न्यायानुसारिणी व्यवस्थाऽऽपादिताऽऽचार्यैः। तथा हि—

अत्र विविदिषासम्बन्धो वर्णत्रयस्यैव पूर्वोक्तन्यायात्। मुनित्व-प्रव्रज्ययोस्तु ब्राह्मण एव सम्बध्यते, न तु क्षत्रियो वैश्यो वेति लिङ्गेनैवावधारणा। असत्येवं श्रुत्यन्तरविरोधः स्यादेव। तथा चोक्तं तत्रैव टीकायां वासुदेवप्रकाशिकायाम्—

'अविद्योत्थकर्मत्यागिनां सन्न्यासिनामेव मुनित्वं भवती'ति।

एवञ्च स्वार्थात्यागेनोपलक्षणत्वोदाहरणमेतद् भविष्यति—

'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभि र्ऋणै र्ऋणवान् जायते।

यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः'।। इति।

अत्र यज्ञप्रजास्वाध्यायेषु क्षत्रियवैश्ययोरप्यधिकृतत्वाद् ब्राह्मणशब्दः क्षत्रियवैश्योपलक्षणार्थमेव। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। यत्र चोपलक्षणत्वास्वीकारे न प्रमाणान्तरेण न्यायेन वा विरोधस्तत्र नैव तत् स्वीक्रियते। प्रत्युत तत्रोपलक्षणत्वस्वीकार एव प्रमाणान्तर-न्यायविरोध आपद्येत। तथा हि वाजसनेयिब्राह्मण एव—

'जनको ह वै वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति'। इति। (बृह. ३.१.९)

अत्रोपलक्षणत्वस्वीकारेऽनूचानविरोधः स्पष्ट एव। एवमेव पूर्वोदाहृतेषु सन्न्यासविधायकश्रुतिवचनेषु ब्राह्मणनिर्देशस्य नास्त्युपलक्षणत्वमिति सिद्धम्।

आह—मा भूदुपलक्षणत्वं ब्राह्मणशब्दस्य। योगव्युत्पत्त्या मुख्ययैव वृत्त्या विद्यासंयुक्तेषु त्रैवर्णिकेषु वर्तमानो भवतु। ब्रह्म अणति अवगच्छतीति ब्राह्मणः। एवं सति त्रैवर्णिकानां नास्ति सन्न्यासाधिकारे विरोध इति चेत्? न। 'योगाद् रूढिर्बलीयसी'ति न्यायेन योगेन रूढिबाधस्यानौचित्यात्। तत्रैव प्रवर्तते योगो रूढि र्यत्राब्धात्मिका। तत्रैव साऽलब्धात्मिका भवति यत्रासौ न सम्भवति। ब्राह्मणशब्दो जातिमपहाय न शास्त्रस्थैरन्यै र्वाऽन्यत्र प्रयुज्यते। एवं ब्राह्मणमातापितृजन्यसन्ततौ ब्राह्मणशब्दस्य प्रयोगाल्लब्धात्मिका रूढि र्योगाद् बलीयसी भवति। तथा च योगोऽपि यदि सम्भवति तदा ब्राह्मणजातावेव संगमनीयो नान्यत्र। रूढ्यसम्भवे हि योग आद्रियमाणो भवतीति 'प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात्' (मीमांसा १.४.९) इत्यत्र राद्धान्तितम्। अतो नास्ति ब्राह्मणशब्दस्य त्रैवर्णिके वृत्तिः। एवञ्च सन्न्यासे ब्राह्मणाधिकारितैव निश्चीयते। अत एव भगवतो वासुदेवस्य—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'। (गीता ३.२०)

इत्यनेन क्षत्रियभूतजनकादीनां सन्न्यासव्यतिरिक्तकर्मद्वारैव संसिद्धिप्रतिपादनं संगच्छते। इत्थमेव क्वचिन्निन्दादर्शनादेकदण्डिनामेकदण्डधारणमशास्त्रीयमेवेति भवत्प्रतिपादनमेव शास्त्रानाकलननिबन्धनमस्ति। बहुप्रकारा हि निन्दा शास्त्रेषु विलोक्यते। सर्वत्र तदुन्नीतो निषेधो न परिकल्प्यते। क्वचिदेव निन्दा प्रतिषेधं कल्पयति यत्र तस्याः प्रयोजनान्तरं नास्ति। यथा—शूद्रादीनां वेदश्रवणनिन्दा। प्रयोजनान्तराभिप्रायेण विधेयस्तावकतया वा प्रयुक्ता निन्दा न निषेधं परिकल्पयितुमलम्। 'अयज्ञिया वै जर्तिला गवीधुकाश्चे'ति जर्तिलगवीधुकाख्यधान्यविशेषनिन्दा

'पयसाऽग्निहोत्रं जुहोति'ति पयःप्रशंसार्थैव। एवमेव—'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोअश्वा' इत्यत्र गवाश्वव्यतिरिक्तानाम-पशुत्वप्रतिपादनद्वारा निन्दा न गवाश्वव्यतिरिक्ताजादिप्रतिषेधार्था। कुतः? अजादीनां विहितत्वात् पशुकार्ये प्रतिषेधासम्भवात्। किन्तु पशुशब्दस्य गवाश्वशब्दाभ्यामेकवाक्यत्वेन सम्बद्धस्य तद्गतप्राशस्त्यलक्षकत्वं स्वीकृत्य नञा तत्पर्युदासः क्रियते। गवाश्वयो र्विद्यमानस्य प्राशस्त्यस्य तदन्येष्वभावात् तेषामप्राशस्त्यप्रतिपादनद्वारा गवाश्वगतप्राशस्त्यमेव प्रतिपाद्यते। इत्थमेव पूर्वोक्तप्रकारा एकदण्डधारणनिन्दा न तत्प्रतिषेधार्था भविष्यति। परमहंसादीनां शास्त्रेषु तद्विधानात् तत्प्रतिषेधासम्भवादेव। तद्विधानञ्च विष्णुस्मृतौ—

त्रिदण्डं कुण्डिकाञ्चैव सूत्रं चाथ कपालिकाम्।
जन्तूनां वारणं वस्त्रं सर्वं भिक्षुः परित्यजेत्।।
कौपीनाच्छादनार्थन्तु वासोऽर्थस्य परिग्रहम्।
कुर्यात् परमहंसस्तु दण्डमेकं तथैव च।। इति।

परमहंसानां त्रिदण्डादित्यागमाह काण्वायनोऽपि—

'तत्र परमहंसा नाम त्रिदण्डकमण्डलुशिक्यजलपवित्रपादुकासन-शिखायज्ञोपवीतकपालानां त्यागिनो न तेषां धर्माधर्मौ न सत्यं नापि चानृतं सर्वसहा सर्वसमाः समलोष्टाश्मकाञ्चना यथोपपन्नभैक्षाहाराश्चातुवर्ण्यं भैक्षचर्यं चरन्त आत्मानं मोक्षयन्ते' इति। शिष्टपरिगृहीतत्वेन प्रामाण्यान्नैतत्स्मृतिद्वयस्याप्यप्रामाण्यशङ्कालेशावतारोऽपि। अत एव श्रीमच्छतसाहस्त्रीसंहितायाम्—

'एकदण्डी त्रिदण्डी वा शिखी मुण्डित एव वा।
काषायमात्रसारोऽपि यतिः पूज्यो युधिष्ठिर!'।।

इति श्रीमद्भगवतो व्यासस्यैकदण्डित्वादियतिप्रकारप्रतिपादनमपि सङ्गच्छते। यद्येकण्डधारणमशास्त्रीयं स्यात्तदा भगवतस्तथाप्रतिपादन-मप्यसंगतं स्यात्। एतेन दण्डशून्या अपि परमहंसाः सन्न्यासिनो भवन्तीति निश्चीयते। अन्यथा 'काषायमात्रसारोऽपी'ति वचो निरवकाशं भवेत्।

नन्वेवमपि त्रिदण्डादिधारणं निर्विषयं स्यादिति चेत्? न। हंसपरमहंसव्यतिरिक्तकुटीचकबहूदकसन्न्यासिविषयत्वात् तस्य। अयमभिप्राय:—

'चतुर्धा भिक्षवो विप्रा: सर्वे चैव त्रिदण्डिन:'। इति पूर्वप्रतिपादितदिशा सन्न्यासचातुर्विध्यमेव, न ततो न्यूनाधिक्ये। ते च चत्वार: सन्न्यासिन: क इत्यपेक्षायामाह हारीत:—

'कुटीचको बहूदको हंसश्चैव तृतीयक:।

चतुर्थ: परमो हंसो यो य: पश्चात् स उत्तम:'।। इति।

अत्रात्यन्ताशक्त: पुत्रादिनिर्मितकुटीमध्यास्ते गृह एव वा वसति स काषायं त्रिदण्डं च गृहीत्वा गृहबन्धुभोजी सशिखासूत्र: कुटीचक इति निगद्यते। बहूदकोऽपि तद्धर्मैव केवलं सप्तागाराणि भैक्षं चरन् भिद्यते। हंस: परमहंसश्च 'एकञ्च वैणवं दण्डं धारयेद् नित्यमादरादिति वचनात् पूर्वोक्तवेषोऽप्येकदण्डो भवति। त्रिदण्डिनोऽपि प्राप्तपरमसाम्यावस्था हंसा: परमहंसा वा भवन्ति त्रिदण्डत्यागादिति पूर्वोक्तवचनान्निश्चीयते। स दण्डोऽपि त्यज्यते ब्रह्मविज्ञाने सञ्जात इति—

'न दण्डं न शिखां नाच्छादनं चरति परमहंस:'।

इति महोपनिषद्वचनाद् 'ज्ञानमेवास्य दण्ड' इति वाक्यशेषाच्चावसीयते। त्रिदण्डत्यागैकदण्डग्रहणमुक्तं स्कन्दपुराणेऽपि—

'कौपीनाच्छादनं वस्त्रं कन्थां शीतनिवारिणीम्।

अक्षमालाञ्च गृह्णीयाद् वैणवं दण्डमव्रणम्।।

परमहंसस्त्रिदण्डं च रज्जुं गोवालनिर्मिताम्।

शिखां यज्ञोपवीतञ्च नित्यकर्म च संत्यजेत्।। इति।

एतत्तथ्यप्रतिपादनपराणि बहूनि वचनानि सन्तीत्याकरतोऽवगन्तव्यानि। एवञ्च हंसपरमहंसविषयेऽपि क्वचिद् दृश्यमानं त्रिदण्डवचनं वाग्दण्डादिविषयमेव पूर्वोक्तमिति ध्येयम्। तथा सति त्रिदण्डैकदण्डधारणस्य व्यवस्थिततत्वात् क्वचिदेकदण्डधारणनिन्दा क्वचिच्च सन्न्यासनिन्दैवाधिकारापेक्षयेति मन्तव्यम्। उपपद्यत एव

सन्न्यासानधिकारिणां क्षत्रियादीनां सन्न्यासनिन्दा परमहंसानधिकारिणाञ्चैक-दण्डधारणनिन्दा। न चैतावतैकदण्डधारेणमशास्त्रीयमिति गम्यते। तथा च महाभारते कर्णादिस्वजनवधनिर्विण्णमानसं सन्न्यासोद्युक्तं युधिष्ठिरं प्रति तद्भ्रातॄणां द्रोपद्या ऋषीणां भगवतो वासुदेवस्य च सन्न्यासनिन्दापराणि बहूनि वचनानि—

'काषायधारणं मौण्ड्यं त्रिविष्टब्धं कमण्डलुम्।

लिङ्गान्यन्नार्थमेतानि न मोक्षायेति मे मतिः'।।

इत्येवमादीनि सन्ति, तानि सर्वाण्यपि क्षत्रियधर्मप्रशंसापराण्येव युधिष्ठिरं स्वधर्मे व्यवस्थापयितुम्। कुतः? ब्राह्मणानां कृते सन्न्यासाश्रमस्य विहितत्वात् तन्निषेधानुमानानुपपत्तेः। काषायलिङ्गधारिणोऽर्थार्थिनो वसन्त्येव केचनेति न तन्निन्दा निर्मूलैव।

एतदप्युक्तमेव—

'जटाजिनधराश्चान्ये पङ्कदिग्धाजितेन्द्रियाः।

मुण्डा निस्तन्तवश्चापि वसन्त्यर्थार्थिनः पृथक्'।। इति।

श्रीभासरचितप्रतिज्ञायौगन्धरायणे—

'नाहं काषायं वृत्तिहेतोः प्रपन्नः'।

इति यौगन्धरायणवचनमपि तदेव परिपोषयति।

अन्यत्राऽप्युक्तम्—

'प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः।

सन्न्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसन्दूषिताशयाः'।। इति।

एतेनेतिहासे रावणकृतत्रिदण्डधारणनिर्देशोऽर्जुनकृततद्धारण-निर्देशश्च त्रिदण्डधारणस्यैव परम्पराप्राप्तत्वं शास्त्रीयञ्चेति गमयतीति केषाञ्चन विवल्गनमपास्तं वेदितव्यम्। धनञ्जयस्य परिव्राजकवेषपरिग्रहे यज्ञोपवीतादिसद्भावो राजगृहेषु चिरनिवासार्थित्वेन कुटीचकाद्यनुकरणाद् यज्ञोपवीताद्यत्यागेन कुटीचकाद्यनुकरणे सम्भवति क्षत्रियाश्रमविरुद्धेन तत्त्यागेन परमहंसाद्यनुकरणस्यानौचित्यादेव। एवं दशाननस्यापि। न हि

तेन संन्यासो गृहीत एव, अपि त्वनुकृतः। तथा च तस्य यज्ञोपवीतत्यागस्यानौचित्यमेव।

सिद्धमेतावता ग्रन्थेन सन्न्यासाधिकारो ब्राह्मणानामेव न क्षत्रियादीनाम्। ब्राह्मणेष्वपि पुंसामेव विशुद्धचरितानां न पतितानां स्त्रीणां वा। सन्न्यासोऽपि चतुर्धैव कुटीचकादिभेदेन यत्र कुटीचकबहूदकौ शिखासूत्रात्यागिनौ त्रिदण्डिनौ च, हंसपरमहंसौ तत्त्यागिनावेकदण्डिनौ च, क्वचिच्च सति ज्ञानोत्कर्षे दण्डादित्यागिनः परमहंसा इति।

एतच्छास्त्रोक्तमर्यादां परित्यज्य ये क्षत्रियाद्या अनधिकारिणः प्रव्रज्यापि दलविशेषमाश्रयन्ते ते सर्वे वृथाप्रव्रजिता इत्युच्यन्ते। तेषां कृतेऽयं श्लोको विलोक्यते प्रायश्चित्तमयूखे—

'वृथा प्रव्रजितो यश्च सेतुभेत्ता च सूचकः।

आश्रमात् पतितो यश्च सोऽग्निज्वालं प्रपद्यते'।। इति।

अग्निज्वालाख्यं नरकविशेषमित्यर्थः। सिद्धमेवं क्षत्रियादीनां सन्न्यासग्रहणे स्वधर्मध्वंसनिमित्तकपातित्यानुप्रवेश इति।

स्थितादुत्तरम्—

त्रैवर्णिकानां ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गार्हस्थ्यानुप्रवेशो यत्र ब्राह्मणानां तदुत्तरं कलौ सन्न्यास उत्कटवैराग्यसत्त्वे वा ब्रह्मचर्यादेव स इति सिद्धान्ते स्थाणाविवाचले विराजमानेऽपि क्षत्रियादीनां योग्यकन्यानुपलम्भे किं कुर्युस्त इत्यपेक्षायामुच्यत एव 'तदा कण्ठीं गृहीत्वा स्यु र्यथारूची'ति। अस्यायमेवाभिप्रायो यद् दारसंग्रहासम्भवे क्षत्रियादीनां तुरग इव ब्रह्मचर्यधारणमेव नैष्ठिकतया आपतति। सन्न्यासाभाव एव तत्र तेषां कृते कारणं नान्यदिति। तस्मिन् सङ्कटे कुटुम्बमध्येऽवस्थानस्य बह्वनर्थ-मूलकतया ते यथाकथञ्चिद् विरक्तमार्गमेवाश्रयेयुरित्यभ्यनुज्ञा शास्त्रकाराणां विलोक्यते। मठे तेषामवस्थानमेतेन सूचितं भवति। विना च काषायधारणं मठप्रवेशासम्भवात् मठप्रवेशाभावे च भोजनाच्छादनादिबाधासंप्लवे धर्मविप्लव इति वैष्णवनिकतने पीताम्बरधारणं सहैव शिखासूत्राभ्यां तथा तदन्यमठेषु सन्न्याससदृक्षं काषायधारणमपि निश्चीयते। स्वप्नेऽपि न दण्डधारणं त्रिदण्डधारणं वा। अस्मिन्नेव प्रसङ्गे—

'ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽथ वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहाद्'। इति कौर्माद्युक्ते निर्णयसिन्धावुदाहृताया गतिः परिकल्प्यते। एवं सति—

चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिचोदिताः।
क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेवेको वैश्यशूद्रयोः।।

इति पूर्वोदाहृतवचनं विष्णो लिंङ्गनिवारणार्थमेव सिद्ध्यति। काषायदण्डादिकं विष्णो लिंङ्गम्। तद्धारणञ्च ब्राह्मणानामेव धर्मः। यथाह भगवान् बौधायनः—

'मुखजानामयं धर्मो यद् विष्णो लिंङ्गधारणम्।
राजन्यवैश्ययो नेंति दत्तात्रेयमुने र्वचः'।। इति।

नन्वेवं काषायस्यापि क्षत्रियाद्यविषयत्वात् कथमभ्यनुज्ञाऽस्तीत्युच्यते? उक्तमेतद् भोजनादिबाधासंप्लवप्रयुक्तप्राणसंकटे सत्येव तदिति। एतत् सर्वं क्षत्रियवैश्यविषयं दारसंग्रहासम्भव इति न प्रस्मर्तव्यम्। एतेन शूद्राणामपि कृते श्रीस्वामिनारायणेन कथं काषायवस्त्रधारणमभ्यनुज्ञातमिति सुधियो दरमुकुलितलोचनं विदाङ्कुर्वन्तु। मम तु लोभ एव तस्य प्रतिभाति। स्वकीयसम्प्रदायवैलक्षण्यप्रदर्शनमेव लोभः। लोभादिहेतुसत्त्वे नास्ति आचारस्य धर्मत्वमिति 'अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्' इत्यनेन भगवाञ्जैमिनिराह। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्।

प्रयोजनन्तु पूर्वोत्तरपक्षाभ्यामेव सुस्पष्टमिति यथायथमूह्यम्।

।। इति पातित्यपेटिकायां द्वादशं व्यवस्थया आश्रमधर्मस्वीकरणाधिकरणम्।।१२।।

●

अथ त्रयोदशं परिगृहीतब्रह्मचर्यादिधर्माणामेव विदुषां संन्यासाधिकाराधिकरणम्

स्थित स्तावद् ब्राह्मणानामेव सन्न्यासविधिः। अतः परं विचार्यते— किमस्वीकृतब्रह्मचर्याश्रमा आधुनिकशिक्षाप्रभावपरिपोषिता वयोविशेष-स्वीकृतसरजस्कपत्नीका अधिवक्तृन्यायाधीशाभियन्तृचिकित्सकलेखक-तत्तत्पदासीनाधिकारिसेवकप्रभृतयो म्लेच्छवेशधरा स्तिष्ठन्मूत्रका येन केनाप्युपायेन धनार्जनव्यापृतमानसा बहुकुतर्कव्याकुलितचेतस स्तेऽपि समासादितविभवैः कौटुम्बिकान् परिपूर्णान् विधाय सेवाविमुक्ताः प्रव्रजेयुरुत नेति। किन्तावत् प्राप्तम्?

ते सर्वे प्रव्रजेयुरिति। कुतः?

ब्राह्मणत्वाविशेषेण वार्धके कारणेष्विह।
उपस्थितेषु सन्न्यासं को निवारयितुं क्षमः।।१।।

सेवाकालेऽपि सेवातः प्राप्तव्ये विपुले फले।
दारादिकं परित्यज्य ग्राह्यः सान्न्यासिको विधिः।।२।।

मठाध्यक्षपदेनैव लभ्यते विभवादि यत्।
तेनैव परिवारस्य विभुता वृद्धिमेष्यति।।३।।

सन्न्यासिनां प्रकारेषु सर्वेष्वेवंविधा जनाः।
ब्राह्मणत्वं पुरस्कृत्य परिपुष्टप्रभावतः।।४।।

सन्न्यस्ताः परिदृश्यन्ते प्रतिष्ठामाप्नुवन्ति च।
कपोलकल्पिताध्यात्मकथामपि प्रकुर्वते।।५।।

तस्माद् वेदबहिर्भूता ब्राह्मणा अपि सर्वतः।
परिवारपूर्णतां कृत्वा संन्यस्यन्त्वितिगम्यते।।६।।

साऽवस्थाऽवश्यम्भाविनी जनस्य यस्यां शूद्रोऽपि मान्यतां व्रजति। किं बहुना? कुलटा अपि कौशेयधारिण्यो विचित्रतिलकाञ्चिता: समादरणीयतां भजन्ते। सा प्रसिद्धा जरावस्थैव लोके चकास्ति। तत्र ब्राह्मण: पुनरस्वीकृतब्रह्मचर्याश्रमोऽकृतवेदोदितकृत्यो वा क्वचिद् विगर्हिताचरितोऽपि कथन्न भूलोके माननीयतां व्रजेत्। यदि वार्धके सन्न्यासग्रहणकारणव्रातभूतानि पत्नीविक्षोभपुत्रादिकर्तृकताडनसंन्यास-प्रयुक्तविशेषपूजामठारामविस्तारप्रभृतीनि काकतालीयन्यायेनोपनिपतन्ति प्रधानामात्य-पदलाभाय सर्वसांसदोद्योगपतिसमर्थनमिव तदा तेषां सन्न्यास: कथन्निवारयितुं शक्येत। विपुलफलाप्तये तु सेवाकालेऽपि दारादिकं परित्यज्य सन्न्यासग्रहणमेवोचितं प्रतिभाति। उभयफलसिद्धे:। मठाध्यक्षपदं तथा तत्प्रयुक्तप्रतिष्ठादिकं तदर्जितविभवै: परिवारस्य परिपूर्णता च कुत्र यास्यति। सर्वेष्वेव सन्न्यासिप्रकारेषु जजस्वामिवकीलस्वामिडाक्टर-स्वामिसंज्ञाभाज: स्वोचितमेव कर्मजातं सम्पादयन्तो दरीदृश्यन्ते मठेषु। का तत्र विरागप्रभृतियतिधर्मव्यपेक्षा? सर्वप्रकारमेव तेषां प्रतिष्ठा भक्तव्रातेषु विवर्धत एव कान्तकरतलसंस्पर्शविवर्धमानं कान्ताकुचकलशयुगलमिव प्रवचनादिना। एवञ्च वेदादिशास्त्रज्ञानबहिर्भूता अपि ब्राह्मणा: पूर्वोक्ता: परिवारजातं विभवतृप्तं विधाय सन्न्यासं परिगृह्णन्त्विति प्राप्ते—

ब्रूम:। नास्ति पूर्वोक्तप्रकाराणां सन्न्यासविधिरिति। कुत:?

येषामकरणाच्छास्त्रे निन्दा सर्वत्र दृश्यते।
शपथेष्वपि तत्पापं पुराणेषु च गृह्यते।।७।।

तच्छास्त्राभ्यसनं पूर्वं न कृतं यै गुरो: कुले।
नापि सम्पादितं कृत्यं गृह्यं सर्वं गृहेष्वपि।।८।।

निर्युक्तिकै र्विचारै स्तु भीषणै र्भोगभूषितै:।
आक्रान्तं मानसं येषां भोगसम्पादनात्मनाम्।।९।।

ब्राह्मणानां कुले तेषां जातानामपीह वै।
कथं सन्न्यासधर्म: स्यादपवर्गफलोन्मुख:।।१०।।

सन्न्यासः प्रायशो लोके तेषामेव सुशोभते।
ब्रह्मचर्याश्रमे यै स्तु शास्त्रसम्पत्तिरर्जिता।।११।।

येषां कार्पण्यदोषोऽपि शशशृङ्गायितो भवेत्।
दानादिधर्मवर्गश्चानुष्ठितो यैः पुनः पुनः।।१२।।

वसन्ततिलकावृत्ते तेषामेव महात्मनाम्।
गुणानुकीर्तनं कुर्वे तद्गुणाकृष्टमानसः।।१३।।

आजन्मनः श्रुतिपरम्परया चरित्रं
रक्षन्ति येऽनुदिवसं न वसन्ति येषाम्।
चित्ते च कर्मणि दुराचरणानि भूय-
स्तेभ्यो नमः सततमस्तु ततः परं किम्।।१४।।

येषां वचःसु च मनःसु तथा वपुःषु
सुश्लाघनीयरमणीयपदार्थजातम्।
सन्तिष्ठते गुणिषु सद्गुणवासनेव
जीवन्ति ते भुवि नरा न च तेऽपि येऽन्याः।।१५।।

वाचि प्रभूतमधु तिष्ठति सुप्रतिष्ठं
कर्मण्युदात्तपदवी किल भाति शुभ्रा।
शान्तान्तरे सकललोकविभूतिकान्ति-
र्येषां त एव कृतिनः पुरुषाः पृथिव्याम्।।१६।।

दुर्भागधेयकटुताकुलितैरपि द्राग्
यैरेव धर्मसरणिः परिपाल्यतेऽत्र।
तेषामुदात्तचरिताकलितान्तराणां
दासीव भूतिरतुला चरणौ बिभर्ति।।१७।।

लोकैकधामचयनाय वसुप्रहाणं
तत्र स्वकीयविभुतायतिदृष्टिदानम्।
भिन्नाभ्रखण्डमिव दृश्यजगत्सु भानं
सर्वं विलक्षणतया सुधियां प्रमाणम्।।१८।।

ये वै विंशुद्धकुलसन्ततिसुप्रयुक्त-
गर्भक्रियादिभिरहो जनिमाप्नुवन्ति।
ते दुष्प्रवृत्तिजविकारभरं विधूय
श्रौतीं विभां सुमनसो भुवने किरन्ति।।१९।।

एतद्गुणविहीनानां धर्माद् वैराग्यशालिनाम्।
प्रसङ्गतो गुणः सर्व स्तद्वृत्तेनैव कथ्यते।।२०।।

धर्मज्ञशुभ्रसमयः श्रुतिवत् प्रमाणं
तं हेलया वसुनिमित्तकमुत्सृजन्ति।
ये ते नराः सपदि भौतिकचाकचिक्य-
प्राप्तादराः किमपि तत्त्वमवाप्नुवन्ति?।।२१।।

गोष्ठ्यां गदन्ति गरलं खलु येऽमृताभं
कुर्वन्ति कुत्सितकलाकलितञ्च कर्म।
ते मानसागतमपि श्रुतमुत्त्यजन्तो
मातङ्गभक्षितकपित्थतुलां व्रजन्ति।।२२।।

ते वै वृथापरिगृहीतविरक्तवेशाः
स्वार्थानुरक्तवटुकाः प्रबलाः कुचोद्ये।
ये ब्राह्मणानपि वरान् धृतसर्वविद्यान्
दण्डेन कन्दुकमिवाशु समुत्क्षिपन्ति।।२३।।

ते नूनमेव विपुलोदरपोषणार्थं
गृह्णन्ति पञ्च वटुकान् गृहकोण एव।
ये श्रेष्ठिलब्धघृतपानरता धरायां
मूर्खांश्च तान् विदधतः पुनरुत्त्यजन्ति।।२४।।

व्याघ्रस्य कङ्कणवत श्चरितञ्च सर्वं
दुर्वृत्तवृत्तमभितः परिशीलयन्ति।
सङ्कल्पमेव मरणस्य विभाषमाणा
ये ते सुहृत्तमजनानपि तर्जयन्ति।।२५।।

धिक् तान् शठोत्तमखलानधमान् त्रिजातान्
धिग् माधवाश्रमपरानपि धूर्तराजान्।
तान् धिक् पुनः पुनरपि प्रबलश्रिता ये
दुःशासनादिकमपीह कदर्थयन्ति।।२६।।

जाग्रत्प्रबोधनयशालिमहात्मनाञ्च
ये ग्रन्थरत्नमरमत्र विदूषयन्ति।
ते च्छद्म नाम ददतो भुवि गुह्यमुक्तं
कोला इवाशु मलमाददते मुखेन।।२७।।

श्रोत्रप्रियाः सपदि चारु गिरो गृणन्ति
कृन्तन्ति तीक्ष्णचरिता स्तदनु प्रमुग्धान्।
अन्धाः स्वकार्यकरणे परितः प्लवन्ते
निःश्रेयसाय किमहो मशका खलाश्च।।२८।।

अश्नन्ति यद्विधमतीव विकारजातं
तादृक्प्रकारमनिशं द्रुतमुत्सृजन्ति।
मार्गे समेऽपि कुटिलं बहुधा चरन्तो
गण्डूपदा इव विभान्ति खलाः पृथिव्याम्।।२९।।

एते शठोत्तमविधाकलितान्तरङ्गा
दीर्घीभवद्दुरितसिन्धुचलत्तरङ्गाः।
तुर्याश्रमेऽपि विदलद्विनयप्रसङ्गा
भृङ्गा भवन्ति विषयेषु ललत्तिभङ्गाः।।३०।।

निःश्रेयसेन कुधियां भवतीह कोऽर्थो
धर्मादपेतमनसां ननु भोग एव।
सिद्धिः परा विभवरागजुषां खलानां
घासात् परं न हि खरस्य किमप्यभीष्टम्।।३१।।

तिग्मैषणाप्रचयभाक्त्वमहो प्ररुढ-
दुर्वासनाद्रुमबलेन विभाव्यमेषाम्।
धर्माधिकारमधिगत्य यतः किलैते
तद्दूषणाय बहुधा विपुलीभवन्ति।।३२।।

सम्पादितैकविभवा अपि धर्महेतोः
कापर्दिकं व्ययमहो न लषन्ति दुष्टाः।
मैरेयमांसगणिकादिविलासभूमौ
भूयोऽर्थराशिमभितश्च किरन्ति तुष्टाः।।३३।।

चित्रप्रकारसचिवै र्विविधैरुपायै-
रात्तश्रियः प्रियकलत्रसुतादयो ये।
स्वप्नेऽपि यत्कृतिरभून्न परोपकारे
ते स्युः कथं मुनिजनोचितधर्मभाजः।।३४।।

मध्येऽपि सन्ति विदुषां बहवः खला ये
विद्यामिषेण दुरितान्यपि गोपयन्ति।
तेषां कृते च निगमा निगदन्ति यद् यत्-
तत्तद्विरुद्धचरणाः किल ते भवन्ति।।३५।।

अध्यापने श्रुतिगिरामिह ये नियुक्ता
म्लेच्छादिवेशरसिका विशिखा स्त एव।
दुर्भोज्यजातमपि ये मुहुरुच्चरन्तो
खादन्त्यखिन्नमनसोऽभ्युदयाय कि न्ते?।।३६।।

एके त्रिपुण्ड्रकविधाविलसल्ललाटा
म्लेच्छाद्यपत्यमभिवादयितुं प्रयान्ति।
प्राप्तादरा स्तत इतः प्रसृतात् कुजातेः
सम्मानपत्रमुपगृह्य वितर्कयन्ति।।४०।।

राष्ट्रोन्नतिः कथमितीह विचारशून्य-
स्वान्ता भ्रमन्ति भुवने विभवैकहेतोः।
संसर्गिणो जलनिधे स्तरणप्रसक्ता
धर्मज्ञधर्मसरणिञ्च विगर्हयन्ति।।४१।।

द्रव्यं दरिद्रधिषणावलिसङ्गतानां
लक्ष्यं परं हि विदुषामपि यत्कृते ते।
नीतिप्रकारसरणिं समुपेक्षमाणा-
श्चाटूक्तिपूर्तिपरमा अधमान् श्रयन्ते।।४२।।

यद्यप्यमीषु कृपणेषु मुधाव्ययो न
स्थानं ग्रहीतुमलमस्ति तथापि तेऽपि।
पुत्रादिकान् भृतिषु कारयितुं प्रभूत-
मुत्कोचराशिमधमेषु निधापयन्ति।।४३।।

दैवाद् नियोजनविधावधिकारभाजः
स्यु स्ते तदोत्तमगुणानवधीरयन्ति।
उत्कोचराशिमधिगम्य पटुप्रमूढा-
नभ्यर्हितेषु च पदेषु नियोजयन्ति।।४४।।

यत् कर्म मूढमनुजेष्वपि नातिशोभि
विद्वत्खला स्तदपि सत्त्वरमाचरन्ति।
एते प्रभावपिशुना हि मुधा द्विजानां
प्राप्तव्यमर्थनिचयं विनिवारयन्ति।।४५।।

मात्सर्यदुर्गुणविसारितहृद्विकल्पा
अल्पासवो नर इमे बटुकप्रधानाः।
तीव्रं विवादमुपयन्ति यतः स्वरूपा-
नन्देऽपि माधवपराः प्रबलाश्रयत्वात्।।४६।।

हृद्या गिरो निजसमीहितसाधनाय
यद्यप्यहर्निशमिमे ब्रुवतेऽतिरूक्षाः।
कार्यं तदेव दुरितोपचितं विधाय
शिष्टानपि च्छलयितुं प्रभवन्ति दक्षाः।।४७।।

एतेषु विद्वदवरेषु मदान्धजारा
जाताः स्वयं सुमनसो हृतनीचदाराः।
ते नूनमेव विहिपादिदलाश्रयेण
च्छिन्दन्त्यनादिनिगमोदितधर्मधाराः।।४८।।

द्रव्येण दिक्षु विनियोजितदुर्दलालाः[१]
श्रौतीं विधां दलयितुं कटुकर्मजालाः।
भ्रष्टाः सदाचरणतोऽनधिकारिसिद्धा
गृद्धा भवन्ति विषयामिषभोगरुद्धाः।।४९।।

यद्येवमस्ति मतयो गतयश्च दुष्टा
मुष्टात्मना न्नु दुरदृष्टबलेन पुंसाम्।
सन्न्यासभाज इह ते स्युरिति प्रजल्पन्
लज्जोदधौ न कथमेति विचारमूढः।।५०।।

एवं विरक्तगणमध्यहतात्मतत्त्वा
वेदादिशास्त्रनिधिदूषणदुष्टसत्त्वाः।
सञ्चारयन्ति कटुकान् वटुकान् विमूढान्
आचारसेतुदलनाय बहि र्विरूढान्।।५१।।

सन्न्यासाश्रमेऽधिकारितावाप्तये यथाशास्त्रं ब्रह्मचर्यपरिग्रहो नियतः। पुराणेषु तदपरिग्रहीतुः पापश्रवणात्। तथा हि हेमाद्रौ ब्रह्माण्डे—

'द्विजो भूत्वा तु यो व्याध! वेदभ्रष्टोऽभिजायते।
स्वाध्यायसन्ध्यारहितः सत्यशौचविवर्जितः।।

---

१. दलमलन्तीति दलालाः।

अविक्रयाणां विक्रेता अयाज्यानाञ्च याजकः।
तेन पापेन लिप्यामि नागच्छामि पुन र्यदि।।
कृतघ्ने च कदर्ये च नास्तिके वेदनिन्दके।
परपैशुन्यसक्तेऽपि कन्याविक्रयकारके।।
परापवादसन्दुष्टे सर्वधर्मबहिष्कृते।
वृषलीपतौ च यत्पापं मातापित्रोरपोषके।।
हैतुके वकवृत्तौ च श्राद्धतीर्थविवर्जिते।
एतेषां पातकं मह्यं नागच्छामि पुन र्यदि।। इति।

महाशिवरात्रिव्रतकथायां व्याधं प्रति मृग्या एतानि शपथवचनानि। एवमेव तत्पतिभूतेन मृगेणापि कृताः शपथास्तत्रैव विलोक्यन्ते। तथा हि—

'प्रवासशीला ये विप्राः क्रयविक्रयकारिणः।
सन्ध्यास्नानविहीनाश्च वेदशास्त्रविवर्जिताः।।
मद्यपाः स्त्रीसमासक्ताः परनिन्दारता स्तथा।
परस्त्रीसेवका नित्यं परपैशुन्यसेवकाः।।
शूद्रान्नभोजकाश्चैव रसविक्रयकारकाः।
तेन पापेन लिप्यामि नायामि यदि ते गृह्यम्।।
विप्रवाक्यं परित्यज्य पाखण्डाभिरतास्तथा।
तेन पापेन लिप्यामि यदि नायामि ते गृहम्।।
शूद्रान्नेषु सदा सक्ताः शूद्रसम्पर्कदूषिताः।
सन्ध्याभ्रष्टा श्च ये विप्रा दातुश्चैव निवारकाः।।

एतै र्वचनै स्तदेव निश्चीयते यत् सिद्धान्तयुक्त्या प्रसाधितम्।

न खलु मयैव निर्धारितोऽयं पक्षः पूर्वं धृतब्रह्मचर्याणां शास्त्रज्ञानां समासादितश्रुतिस्मृतिसदाचारशिष्टात्मतुष्टिप्रसाधितधर्माणामुदारमानसानां कार्पण्यदोषविरहितस्वान्तानामेव विरक्तानां महापुरुषाणामपवर्गप्रयोजकः

सन्न्यासाश्रम इति, अपि त्वस्मदाचार्यैरपि सम्यक् प्रदर्शितः। तथा हि शास्त्रदीपिकायां पार्थसारथिमिश्रा आहुः—

'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखान्यनुदिनं नृणाम्।
स्वयमेव विना यत्नाद् निपतन्ति सहस्रधा।।

विहिताकरणान्नित्यं प्रतिषिद्धनिषेवणात्।
महदामुष्मिकं दुःखं यन्नाम स्वल्पकं सुखम्।।

सुरापानादिसुखवत् वर्जनीयं विवेकिनाम्।
एवम्भूतेऽपि संसारे ये रक्ताः सुखतृष्णाया।।

न तेषामधिकारोऽस्ति मुक्तिशास्त्रे कथञ्चन।
संसारादुद्विजन्ते ये दृष्टलोकपरावराः।।

त एव खलु मुच्यन्ते न तु यः प्राकृतो जनः।
तेषामेवापवर्गाख्यः पुरुषार्थो महात्मनाम्।। इति।

एतेन पूर्वपक्षिणोद्भावितानि सन्न्यासे कारणजातानि निरस्तानि वेदितव्यानि। न हि पत्नीविक्षोभप्रभृतीन्येव सन्न्यासकारणानि। कि न्तर्हि? ब्रह्मचर्याश्रमे नियमपूर्वकार्जितशास्त्रसम्पत्ति गार्हस्थ्ये नित्यनैमित्तिक-कर्मानुष्ठानसमृद्धिः पूर्णतो विरागश्च। येषामेते सन्ति त एव विरक्ताश्रमप्रवेशार्हा नान्यः कश्चिदपरः संसाराकृष्टमानसः। आधुनिक-शिक्षाप्रभावितान्तराः परिगृहीतप्रौढशिक्षितमहिला मा भूवन् कदाचारसंस्पृष्टा स्तथापि ते पुरुषार्थेषु नाधिक्रियन्ते। एतेषां शास्त्रेषु दोषस्मरणात्। तथा च रजस्वलावस्थापन्नप्रौढमहिलापरिग्रहे दोषमाह भगवान् यमः संस्कार-मयूखे—

'यस्तां समुद्वहेत् कन्यां ब्राह्मणो मदमोहितः।
असंभाष्यो ह्यपाङ्क्तेयः स विप्रो वृषलीपतिः'।। इति।

कामजवृत्त्या पुरुषान्तरेण संस्पृष्टा स्वयमेव वा मन्मथाकृष्टमानसा सङ्गता कथमुद्वाहार्हा कन्या स्यात्? उद्वाहितापि वा कथं धर्मसम्पत्करी भवेत्। प्रौढशिक्षाकेन्द्रेषु च पुरुषाः स्त्रियश्च विगलितान्योन्यप्रभेदं परिगृहीतपरस्परसाहाय्यमनुशीलयन्ति शिक्षाजातं यत्र विलक्षणहास्य-

विनोदप्रभृतयो दृश्यन्त इति नाविदितं संस्कारितमानसानाम्। देशैककोणाद् देशान्तरकोणमाश्रयन्ति प्रौढा युवतयः पुरुषसुहृद्-व्यतिकरविवर्धितसकलापघानाः। कथमेता धर्मानुरागसचिवैः कुलीनैः परिग्राह्या इति विदाङ्कुर्वन्तु दरमुकुलितलोचनं विपश्चितः। तथा च पूर्वोक्तानां नास्ति संन्यास इति गम्यते। किञ्च संन्यासपरिग्रहेऽपि यस्य वेदाभ्यासस्यावश्यकर्तव्यतामाह भगवान् मनुः स कथमगृहीतब्रह्मचर्येण जनेन शक्यसम्पादनः। यदुक्तं विभवपरिपूर्णं कुटुम्बं विधाय सन्न्यासपरिग्रहः कार्य इति, तत्रोच्यते—विप्रतिषिद्धमेतत्। कुतः? यथाशास्त्रार्जितसम्पत्ते र्दानानन्तरमेव संन्यासपरिग्रहस्य स्मर्यमाणत्वात्। यथाह योगी याज्ञवल्क्यः—

'वनाद् गृहाद् वा कृत्वेष्टिं सार्ववेदसदक्षिणाम्।
प्राजापत्यान् तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मनि।।
अधीतवेदो जपकृत् पुत्रवानन्नदोऽग्निमान्।
शक्त्या च यज्ञकृन् मोक्षे मनः कुर्यात्तु नान्यथा'।। इति।

आह—यथाशास्त्रन्यायार्जितसम्पत्तिदानं विहितमित्यन्यायार्जित-सम्पत्त्या कुटुम्बविभवपरिपूर्णता न विरुध्येत? नैतत् सारम्। तादृक्संपत्ते र्नरकप्रयोजकत्वात्। एतेन सेवामध्येऽपि सन्न्यासः, विभवस्य सन्न्यासमाध्यमेन सम्पादनीयत्वादिति पूर्वपक्षिप्रजल्पनं वलभीतो भूमौ निपतितं कूष्माण्डमिव खण्डितं ज्ञेयम्। न हि परिवारविभवपरिपोषणं नाम यतीनां कार्यमस्ति। प्रारब्धवशापन्नमपि तद्धनं वेदादिशास्त्र-सम्पत्परिवर्धनार्थमेवेति न तत्परिवारोपभोगाय तद् भवति। एतेन मठमभितः पारिवारिकजनसंनिधापनं तेष्वन्यतमं वा यतिदीक्षापुरःसरं मठाध्यक्षतासम्पादनं यतिधर्मविरुद्धमेव न केवलम् अपि तु कल्पस्थायिनरकसंचयार्थमित्यकार्यमेव तद् यतिप्रवरैः। अतो नास्ति तेषां सन्न्यास इति।

अत एव को धर्मः सन्न्यासिनामित्यपेक्षायामाह पराशरः—

'एकाकी निःस्पृहस्तिष्ठेन् न केनापि सहालपेत्।
दद्यान्नारायणेत्येवं प्रतिवाक्यं सदा यतिः'।। इति।

तेषां कियान् परिग्रह इत्याहात्रि:—

'कौपीनाच्छादनं वासः कन्था शीतनिवारिणी।

पादुके चापि गृह्णीयात् कुर्यान् नान्यस्य संग्रहम्'।। इति।

अत्र केचिदेवं परिचोदयन्ति—द्वेधा हि सन्न्यासिनां परम्पराऽनादितः सम्प्रवृत्ता आसीदिदानीमपि सा प्रचलति। एका राजर्षिपरम्परा यस्यां महेन्द्रस्पर्धिविभवव्यवस्था राजतादिसिंहासनारूढता च। अन्या ब्रह्मर्षिपरम्परा यस्यां सर्वस्वत्यागात्मिका पूर्वोक्ता व्यवस्थेति। एवञ्चात्राधिकरणे प्रोक्ता अगृहीतब्रह्मचर्याश्रमधर्माण आधुनिकशिक्षा-प्रभावितान्तरा विभवादिनिगृहीतमतय एषणात्रयभाजोऽपि राजर्षिपरम्परायां विराजितुं शक्नुवन्ति। अतो वैध एव तेषां सन्न्यास इति।

नैतत् सर्वमत्यन्तमूढजनस्यापि सन्तोषाय प्रभवति। विषयव्यग्रचेतसां वेदादिशास्त्ररामायणमहाभारतादीतिहासानुशीलनविधुराणां लोके कदाचार-व्यवस्थापनपराणां निजविषयोपभोगसमर्थनाय कुतर्कव्यासक्तं वाक्छर्दनमेवैतत्। कतिपय एव तथाविधा महापुरुषाः सन्ति ये यथाशास्त्रमुपदिशन्ति। न च ते स्वाचरितशास्त्रविरुद्धकर्मजातसमर्थनाय शास्त्रीयत्वं तस्य समर्थयन्ते। बहुसंख्याका स्तथाविधा एव भवन्ति ये प्रमादादात्मनः स्खलितं शास्त्रीयत्वेन समर्थयन्ते। समुद्रलङ्घनकर्तार आरुढपतितादय श्च यथा। राजशब्द श्च क्षत्रियजातौ रूढ इति मीमांसायामवेष्ट्यधिकरणे प्रपञ्चितम्। इतिहासपुराणादौ तस्यैव क्षत्रियस्य राजर्षिशब्देन व्यवहारो दृष्टो यो हि सकलश्रुतिप्रोक्तधर्मव्यासक्तो यथाशास्त्रं प्रजापालनेऽपि व्यवस्थितः। एवं ब्रह्मर्षिशब्दोऽपि सकलधर्मव्यासक्तचेतसि ब्राह्मण एव। तथा च सन्न्यासिप्रकारेषु नोक्तव्यवस्था सिध्येदिति व्यर्थ एव पूर्वोक्तानां सन्न्यासधर्मव्यवस्थापनप्रयास इति सिद्धं प्रगृहीतब्रह्मचर्याश्रमाणां शास्त्रज्ञानामेव सन्न्यास इति।

प्रयोजन न्तु कल्पस्थायिनरकप्रयोजकवृथाप्रव्रजितदोषाभावः पूर्वपक्षे सिद्धान्ते तु तत्सत्त्वमिति।

।। इति पातित्यपेटिकायां त्रयोदशं परिगृहीतब्रह्मचर्यादिधर्माणामेव विदुषां सन्न्यासाधिकाराधिकरणम्।।१३।।

अथ चतुर्दशं त्रिजातपदार्थविवेचनाधिकरणम्

'धिक् तान् शठोत्तमखलानधमान् त्रिजातानि'ति खलवर्णनप्रसङ्गे समागतत्रिजातपदार्थविवेचनार्थमिदमधिकरणमारभ्यते। ननु शब्दानां तत्तद्वाच्यत्वस्य लोकसिद्धत्वाद् व्यर्थमेतदधिकरणमिति चेत्? न। लोकसिद्धत्वेऽपि केषाञ्चन शब्दानां वाच्यत्वस्य विवादाध्यासित-त्वेनाधिकरणारम्भस्य सार्थक्यात्। एवमेव सम्परेतार्थकत्वेन लोके प्रयुज्यमानस्यापि व्यापन्नशब्दस्य 'व्यापन्नमप्सु प्रहरति' इति वेदे दृष्टस्यार्थविवेचने महर्षे जैमिनेः प्रवृत्तिः सङ्गच्छते। आर्यम्लेच्छपिकनेमाधि-कारणान्यनेनैवाभिप्रायेण लब्धसत्ताकानि भवन्ति। यद्यपि व्याकरणेन सन्देहविषयतामुपगतानां केषाञ्चन शब्दानां मीमांसान्याय-समाश्रयणबलेनार्थविशेषावधारणं सम्भवति। यथा आदित्यशब्दस्य 'आदित्यः प्रायणीयश्चरु र्भवति' इति वेदे समागतस्य। आदित्यो देवता अस्य अदिति र्वा देवता अस्येत्युभयथापि आदित्यशब्दो निष्पद्यते। प्रथमे 'हलो यमां यमि लोपः' इत्यनेन यकारलोपस्मरणात्। प्रकृते का देवतेति समपेक्षायां 'सन्दिग्धे तु वाक्यशेषादिति न्यायबलेन 'अदितिमोदनेन' इति वाक्यशेषात् अदिति र्देवताऽत्र नादित्य इति निश्चीयते। अनेनैव वाक्य-शेषेण अवस्रावितान्तरूष्मपक्वतण्डुलप्रकृतिकत्वरूपाद् भक्ताद् भिन्नरूपः अनवस्रावितान्तरूष्मपक्कतण्डुलप्रकृतिकत्वरूपश्चरुरपि न स्थालीवचन इति निर्णीतो दशमे। नैवं व्यापन्नशब्दः केनचिदपि न्यायेन अर्थविशेषेऽवधार्यते। अत एव भगवाञ्जैमिनिः षष्ठेऽध्याये पञ्चमे पादे षोडशाधिकरणे—'व्यापन्नस्याप्सु गतौ यदभोज्यमार्याणां तत् प्रतीयेत' इत्यनेन केशकीटादि र्व्यापन्नपदार्थ इति सिद्धवदुपदिशति। आज्यादिषु विद्यमानस्य तस्य जले प्रक्षेपरूपं प्रायश्चित्तं विधिना विधीयते। लौकिकहोमेऽपि तस्यातिदेशः कर्तुं शक्यते। एवमेव त्रिजातशब्दस्यापि स्थितिः। अत स्तदर्थविचारायाधिकरणारम्भो युक्त एव। अत्र केचिद् यौगिकत्वेन त्रिजातशब्दं व्यवस्थापयन्ति त्रिभिः पुरुषैरेकस्यामेव योषिति

जात स्त्रिजात इति। नातीव रुचिकरोऽयं पक्षः। एकस्या योषितः पुरुषत्रयसम्बन्धे सत्यपि तद्गर्भस्यैकपुरुषमात्रबीजसमुत्थत्वात्। न ह्यनेकेषां बीजानामेकगर्भनिमित्तत्वमायुर्वेदादौ श्रूयते। अतो यस्य गर्भस्यानियत-निमित्तकत्वं पुरुषत्रयसम्पृक्तत्वाद् योषितः, तस्माज्जातस्त्रिजात इति। अयमपि पक्षो न विद्वद्मनांस्यावर्जयति। गर्भस्यानियतनिमित्तकत्वेऽपि कदाचित् तत्पत्युरपि सम्भवात्। न हि पुरुषान्तरसम्बन्धसत्त्वेऽपि पत्याहितबीजस्य गर्भस्यानादरणीयता लोके दृश्यते। पुरुषान्तरसम्बन्धो हि विगर्हणीयो भवति योषितः, न निजपाणिग्रहीतुरेव जायमाना सन्ततिः। एवञ्च त्रिपु मध्ये निजपाणिग्रहीतृव्यतिरिक्तपुरुषाज्जात स्त्रिजात इति परिशेषाल्लभ्यते। तथा च पङ्कजादिशब्दवल्लोके योगरूढस्त्रिजातशब्द इति प्रतिभाति। अस्मिन्नपि पक्षे नारीजातेरपमानोऽवश्यम्भावीति मत्वा रूढिं स्वीकुर्वन्ति न्यायतत्त्वविदः। संस्काराभावप्रतिषिद्धतिथि-नक्षत्रजातत्वकुलादिदोषप्रयुक्तेषु कदाचारेषु प्रवर्तमाना ये पुरुषा भवन्ति त एव त्रिजाता इति स्थितम्। परिकरश्लोका श्चात्र भवन्ति—

ये दुर्दम्भबलेन चण्डचरिताधाराधमा दुर्मुखा
भूयिष्ठानपि मानवान् श्रुतिपथात् प्रच्यावयन्ति ध्रुवम्।
शास्त्रादौ खलु ये शठा निगदिताः पाखण्डिनो हैतुका-
स्ते वामा हतवृत्तयः खलधियः सर्वे त्रिजाताः स्मृताः।।१।।

ये साधूनपि पीडयन्ति पिशुनाः पापै श्च पूर्णान्तरा
मिथ्यारोपसुदुष्प्रकारकटुताक्रीडत्क्रियाकुण्ठताः।
बाह्याडम्बरवैभवैश्च समतासाम्राज्यमातन्वते
ते धूर्ता धृतिधर्मकञ्चुकवृताः सर्वे त्रिजाताः स्मृताः।।२।।

भीमासीमदुरोदरोदरदरीपोषाय येषां कृति-
र्येषाञ्चैव हलाहलाहितमुखोच्छ्वासै र्विदीर्णासवः।
संप्लुष्टा इव हृष्टधृष्टदहने सीदन्ति वै साधव-
स्ते दुर्दान्तदलानुरक्तमतयः सर्वे त्रिजाताः स्मृताः।।३।।

ये सच्छास्त्रविदूषणाय कपटप्रोतञ्च हास्यास्पदं
ग्रन्थाभासमलं लिखन्ति च परं गूहन्ति नाम स्वकम्।
ये चैवञ्चरणा अपि स्फुटबहिःशिष्टप्रचाराः सदा
तेऽहे र्निर्ल्यवनीनिभा इभदृशः सर्वे त्रिजाताः स्मृताः।।४।।

क्षुद्रस्वार्थविवर्धनाय पतितारामेषु ये भुञ्जते
ये दुष्टानपि पातकेषु रसिकान् स्वस्मिन् दले चिन्वते।
ये धर्मादिविचारणैककुशलान् शिष्टाँश्च धिक्कुर्वते
ते वर्णाश्रमधर्मवर्जनपराः सर्वे त्रिजाताः स्मृताः।।५।।

ये श्रीमत्करपात्रनीतिमभितो जल्पन्त्यनल्पं वृथा
नित्यं कुत्सितमाचरन्ति च शठा गङ्गातटध्वाङ्क्षकाः।
त्याज्यस्यापि सुतादिकस्य सततं सङ्गस्पृहो दाम्भिका-
स्ते विद्वत्समुदायभेदनिपुणाः सर्वे त्रिजाताः स्मृताः।।६।।

ये शूद्रानपि मूढरूढधिषणांस्तास्तास्तथा योषितो
गायत्र्यादिजपादिकेषु चपलाः सञ्चोदयन्तो भृशम्।
अत्युग्रेषु निपातयन्ति नरकेष्वाकल्पकालं मुधा
ते नीचा नवकल्पनाकलुषिताः सर्वे त्रिजाताः स्मृताः।।७।।

मर्यादामयभूमिकाविदलने ये सन्ति क्षुद्राखवः
सत्सम्पच्चयसस्यसारदहने ये ग्रीष्मचण्डांशवः।
पाखण्डोन्नतभित्तिकाविरचने ये दुर्भगाः कारव-
स्ते वार्तापटवो विपाककटवः सर्वे त्रिजाताः स्मृताः।।८।।

ये पुत्रादिभृतीहया प्रियजनानोलण्डयन्तः क्षणात्
कौलाचारजुषः कलेः कुलपते र्गुह्यं विशन्त्यादरात्।
भग्नाशाः पुनरेव भुग्नगतयः कृण्वन्ति कुण्ठावलीं
ते चञ्चारुचिचारुचित्रचितयः सर्वे त्रिजाताः स्मृताः।।९।।

येऽपेक्षाविरहान् विचारविमुखान् सत्कुर्वते सर्वदा
कर्तव्यैकपरायणाप्तपुरुषोपेक्षादिसिद्धान्तराः।
ते वै संस्कृतवाङ्मयस्य भरणव्यापारभाजोऽधुना
कुर्वन्तोऽपचितिं खरस्य खसराः सर्वे त्रिजाताः स्मृताः।।१०।।

एवं वेदोदितश्रीततिविमुखतया वैपरीत्यं दधाना
दम्भाङ्गारप्रतप्तामितकलुषखरे खर्परे सिद्धधानाः।
दुर्भ्रान्ता भीरवोऽपि प्रियकपटकला व्यूहबद्धैकयुद्धा
ऊह्या अन्ये त्रिजाता इह विबुधवरै र्व्रात्यसङ्घावरुद्धाः।।११।।

का गतिस्त्रिजातानाम्? तदुपपादनेऽत्रावश्यं कश्चित् प्रयोजनविशेषो भवेत्? ओमिति ब्रूमः। अस्त्येव प्रयोजनविशेषः। अन्यथाऽसम्बद्धप्रलापः स्यात्। भूलोके परिदृश्यमाननानातिर्यक्प्रजातिसत्तैव। सा हि मनुष्यशरीरे सम्पादितविचित्रप्रकारदुरितजातनिमित्तैव केवलं कर्मभोगाय भवति। एवञ्चानेकप्रभेदप्रभिन्नास्त्रिजाता नात्मन उद्धाराय भवन्ति, नापि ते सामान्यतोऽपि धर्माधिकारभाजः। स्वभावपतिता ह्येते। तथा चात्रापि परिकरश्लोकः—

नानादेशाद्यवस्थाभृतविविधविधा स्ते त्रिजाता अनन्ता
येषां जन्मैव नूनं स्थलसलिलनभोवातजालेषु भूम्नाम्।
दृश्यानां स्थूलसूक्ष्मापघनचयजुषां प्राणिनामुद्भवाय
तेनैते धर्महीनाः प्रकृतिकलुषिताचारपीना भवन्ति।।१२।।

।। इति पातित्यपेटिकायां चतुर्दशं त्रिजातपदार्थविवेचनाधिकरणम्।।१४।।

●

अथ पञ्चदशं विदुषामाचार्यपरम्पराग्राह्यत्वाधिकरणम्

अतः परं विद्वत्समुदायमधिकृत्य विचार्यते—किन्ते यथा प्रवर्तन्ते तथैव तैः प्रवर्तितव्यमुताचार्यपरम्परा ग्राह्येति। ननु सिद्धमेवैतद् यथाशास्त्रमेव सर्वैः प्रवर्तितव्यमिति सर्वान्तर्गतत्वाद् विदुषामपि तत् प्राप्तमेव। आचार्याणां परम्पराऽपि न शास्त्रप्रातिकुल्येन प्रवर्तत इति व्यर्थोऽयं विचारारम्भः। स्याद् व्यर्थो यदि—

'आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां ये व्याहारास्तेषु मा संशयोऽभूत्।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मी र्निषक्ता नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति'।।

इत्येवंप्रकाराणां विदुषां विषये स आरप्स्यमानः स्यात्। ननु के तर्हि विद्वांसः? भवान् यान् मनुते त एवेति ब्रूमः। नन्वहं तानेव मन्ये ये चतुर्दशसु विद्यास्वेकतमाध्यापने साम्प्रतिकशिक्षागारे नियुक्ताः। नाहं तथा मन्ये। विद्यासम्बन्धाद्धि विद्वांसो भवन्ति। सम्प्रति तथाविधा अपि महाभाष्याद्यध्यापने नियुक्ताः सन्ति येषां विद्यासम्बन्धो नास्ति, ये च पलाण्डुलशुनाद्यमेध्यजातं विना भोजनमपि न स्वीकुर्वन्ति कदाचिच्च मद्यमपि पिबन्ति। कथ न्ते विद्वांसो भवितुमर्हन्ति? यद्येवं कथन्तर्हि तेऽध्यापनकार्ये नियुक्ताः? साम्प्रतिकप्रजातन्त्रस्य विलक्षणप्रभावादित्येवात्र समुचितमुत्तरम्। एतेषां का गतिरिति प्रागेवाधिकरणद्वयेन प्रतिपादितमतो नैतेऽत्र विचारस्य विषयाः। के तर्हि? श्रूयताम्!

'ये सङ्कीर्णसमाचाराः शास्त्रेषु विहितश्रमाः।
ते सर्वे विषया अत्र राष्ट्रदृष्टिपराङ्मुखाः'।।

दृश्यन्ते खल्विह समधिगतशास्त्राणां स्वविद्याध्यापनकुशलानां नित्यनैमित्तिकादिकर्म कुर्वाणानामपि विदुषां लोभादिवशात् सङ्कीर्णव्यवहारा लोके। तथा हि—

'पङ्क्तिभेदश्च मूर्खेषु पक्षपातो गृहेषु च।
पोषणव्यग्रता लोके कुत[1]श्चिद् धनसंग्रहः।।२।।
प्रवेशो जैनवर्गेषु विद्यादाननिमित्तकः।
धर्माचार्यपदे दुष्टानर्हाणामभिषेचनम्।।३।।
नीतित्यागेन दुर्नीतेः प्रसङ्गे नेत्रमीलनम्।
पतितेषु स्पृहाधिक्यमुपेक्षा गुणिना तथा।।४।।
परिव्याप्तकदाचाराविरोधो नेतुरेव च।
श्लोकादिरचनाद्वारा सम्मानः पदलिप्सया।।५।।
विरक्तानाञ्च वित्तर्द्धौ सिद्धित्वेनोपवर्णनम्।
नेतारं क्षत्रियं प्राप्य राजर्षित्वोपपादनम्।।६।।
वैदिकामङ्गलाचारं कुर्वाणानामिहैव[2] च।
प्रौढपाणिनिकन्यानां[3] साभिलाषनिरीक्षणम्।।७।।
राज्यपालस्य राष्ट्रस्य पत्यु र्वा मुख्यमन्त्रिणः।
साम्मुख्ये स्वस्य सर्वात्मकृतार्थत्वेन भावनम्।।८।।
तेषां करयुगाद्वापि पुरस्कारोपलब्धये।
तदालये गति स्तूर्णं प्रेसवार्ता तथाऽऽगतौ।।९।।
भूयःसञ्चितवित्तस्य धर्मादावव्ययस्तथा।
एवमन्येऽपि सङ्कीर्णा आचारा विदुषामपि।।१०।।
दृश्यन्ते प्रायशो लोके शास्त्रदृष्ट्या विगर्हिताः।
संशयो जायते ह्यत्र विचारोऽपि ततः पुनः।।११।।
प्राप्तावसर एवास्ति शुद्धताप्रतिपत्तये।
ऋद्धिरेवं प्रवर्धेत नीति र्नयवतामपि।।१२।।

---

१. निषिद्धादपि।
२. प्राच्यविद्यासंरक्षणैकव्रते संस्कृतविश्वविद्यालये।
३. पाणिनिकन्याविद्यालयकन्यानामित्यर्थः।

पङ्क्तिभेदस्य गर्हणीयतामाह यमः—

'न पङ्क्त्यां विषमं दद्यान् न याचेत न दापयेत्।

याचको दापको दाता न वै स्वर्गस्य गामिनः।।

प्राजापत्येन कृच्छ्रेण मुच्यन्ते कर्मणस्ततः।। इति।

शङ्खोऽपि तथैव स्मरति—

'एकपङ्क्त्युपविष्टानां विषमं यः प्रयच्छति।

यश्च याचत्यसौ पक्षं कुर्याद् ब्रह्महणि व्रतम्।। इति।

विद्वांसो विपश्चित्सभायां दातृन् पङ्क्तिभेदाय प्रोत्साहयन्तीति त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्। तथा हि वाराणस्यामेव नलपुरक्षेत्रे (नगवा) भागीरथीतटप्रदेशे केनचिद् मरहट्टनिकेतनेन मण्डलेश्वरेण विद्वद्वृद्धैरपहृतविवेकेन विषमं सभाजिता विद्वांसः। तत्र केषाञ्चिद् हस्तपुटे पञ्चशतमेव केषाञ्चिदेकादशशतं केषाञ्चिच्च पञ्चसहस्रं निपतितम्। एवमन्यत्रापि प्रायः। तत्रैव स्त्रीशूद्रादिकर्तृकहोमोऽप्यभूदिति कदाचाराविरोधोऽपि सुस्पष्ट एव। उपलक्षणमेतत् पङ्क्तिभेदनमिति। तथा हि—स्वसामर्थ्यबलेन विद्वत्प्रदेयस्य द्रव्यस्य स्वशिष्येभ्यः स्वयानचालकाय च दापनं गृहमागत्य तदर्धग्रहणञ्च मान्यानां विदुषां स्वभाव एव तिष्ठति। अगृहीतग्राहिता गृहीतविच्छेदनद्वारा न शोभते। मूर्खेषु च पक्षपातस्तेषां कार्यानुमेयः। सर्वथा विद्याविरागभाजो ये महनीयपदेष्वध्यापनाय विराजन्ते तत्र विद्यासम्बन्धवन्त एव निमित्तम्। अल्पीयांसः खलु विगतानैतिकधनस्पृहो विपश्चितः सन्ति यत्प्रभावात् शास्त्रपरम्पराऽविच्छिन्ना तिष्ठति। गृहादिपोषणव्यग्रताऽपि तदेकहेतुककार्यकारित्वदर्शनात् सहजानुमेया। एवमसत्प्रतिग्रहोऽपि निषिद्धः। यदाह मनुः—

'असत्प्रतिग्रहीतारस्तथैवायाज्ययाजकाः।

नक्षत्रै र्जीवते यश्च सोऽन्धकारं प्रपद्यते'।। इति।

एवञ्च कुतश्चित् केनापि प्रकारेण धनसंग्रहो विगर्हणीय एवास्ति। यत्र जैनमन्दिरे प्रवेशाद् यमसदनसमागमनमपि गरीयस्त्वेन स्वीकुर्वन्ति

शिष्टास्तत्र सर्वानर्थभूतधनसमीहया प्रगमनं कथन्न विगर्हणीयतामुपैति। उक्तमेवैतद्—

'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज् जैनमन्दिरम्'।। इति।

उपलक्षणमेतद् बौद्धादिपाखण्डिवर्गप्रवेशस्यापि।

धर्माचार्यपदेषु हि पूर्वोक्तन्यायाच्चतुर्दशविद्याविलासशालिनो विगतस्पृहः सदाचारपूता महापुरुषा एवार्हन्ति न विवादविधायिनो दुष्टाः। इदमेव दुष्टानां दुष्टत्वं यदकाण्ड एव विवादोत्पादनमिति। तथा हि— श्रीमद्भगवत्पादैराद्यशङ्कराचार्यैं र्भारतराष्ट्रमखण्डितधर्मं विधातुं पीठचतुष्टयं सुस्थापितम्। इदानीमपि त्रयः शङ्कराचार्या विराजन्त एव परम्पराप्राप्ताः। तत्र शृङ्गेरीपीठे श्रीमद्भारतीतीर्था अविवादिता एव सन्ति। द्वारिकापीठे श्रीमत्स्वरूपानन्दसरस्वतीपादाश्चकासत्येव ये पूर्वं ज्योतिष्पीठे यथाविधानमितराचार्यसन्निधावभिषिक्ता आसन्। इदानीमपि तेषामेवाधिकारिता तत्र तावत्पर्यन्तमक्षुण्णैवावतिष्ठते यावत्तदीयकरप्रवालाभिषिक्तः कश्चिदन्यो न भवेत्। अयमेव न्याय्यः पन्थाः। एवमेव गोवर्धनपीठे सन्त्येव स्वाध्यायतपोनिरताः परम्परयैव प्राप्ताः श्रीमद्निश्चलानन्दसरस्वतीपादाः। एते सर्वे 'वेदो वा प्रायदर्शना' दित्यधिकरणोक्तासञ्जातविरोधित्वन्यायेन प्राबल्यप्रभाविभाविताः। एतत्त्रयव्यतिरिक्ता न केऽपि शङ्कराचार्यपदभाजो भवितुमर्हन्ति। परम्पराशून्यत्वादेव। आचार्यपदाभिषेके तावच्छङ्कराचार्योपस्थितिरनिवार्यैव। तदुपस्थितिविरहे सति पण्डितसभामात्रेण तदसिद्धेः। एवं सत्यपि ये विवादविधायिनो विभुतासम्पादनमात्रप्रयोजना विवेकशून्या दण्डधारिणो वराकाः स्वयम्भूशङ्कराचार्यास्ते वस्तुतो दुष्टानर्हाः। तदीयसभाशोभाविधायिनोऽपि विद्वांसो भवन्ति। अन्याय्यमेतत्। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। नीतिविरहादेव राष्ट्रदुर्गतिरिति स्वार्थैकपरायणे शासकवर्गे भारतस्य महती क्षतिरिति तत्र मूलं न विचारयन्ति विद्वांसः। यदि कश्चिद् विचारको निर्दिशति यथार्थपक्षं तदा नेत्रे निमील्यासते। एकैकस्य धर्मशास्त्रीयग्रन्थस्य विरोधे धर्मनिरपेक्षतत्त्वानामनेके ग्रन्थाभासाः पुस्तकागारेषु सन्ति। धर्मविप्लावकाश्च विदधति स्वीयामिष्टसिद्धिं निर्द्वन्द्वं तथापि स्वीकृतमौनव्रता विद्वांसो न किमपि समीहन्ते समीहमानांश्चोपहसन्ति।

किमेतत्सर्वं तदीयकार्यताकाटौ निपतति? एवं पतितगृहशोभाविधायित्वं कथन्न पतितानामुत्साहवर्धनायालं स्यात्। धर्मज्ञसमयानां भेत्ता पतितः पतित एव। तत्सम्मानविधानपुरःसरा गुणिनामुपेक्षा न गौरवशालिनीं परम्परामावहति। एवमेव श्लोकादिरचनाद्वारकः सम्मानो विद्याविद्योतितविग्रहाणामेव द्विजोत्तमानां श्रीमद्भगवद्गुणानुकीर्तनरसिकानां विरक्तधर्माचार्याणामेव कृते क्रियमाणः शोभते, न तु स्वार्थलम्पटानां नेतृपदवाच्यानां केषाञ्चित् शिष्टपरम्पराबाहीकानाम्। यद्येते विद्वद्भिरेव तथा नैकसंख्याकपाटलस्रग्भिः शताब्दीभवनादिषु सभाजनीया भवेयुस्तर्हि शिष्टतल्लजत्वेनात्मानं विभावयन्तो राष्ट्रविक्षोभमवश्यमेव विदधीरन्। तथा च, विरक्तानां कृते विरक्तधर्म एव परमा सिद्धि र्न तु सर्वोच्चवित्तविभुता। तपःप्रभावाद् यदि सा तदीयपाणितल उपनिपतेदपि तर्हि भूयोजनसंपोष-क्षेमायैव भवति सद्विद्याविवर्धनाय वा न तु इष्टकाव्यूहविरचनाय गजराजकरगृहीतघण्टावादनचमत्कारोत्पादनाय वा। नैव कलौ कश्चिद् राजर्षिच्छायानुपात्यपि। यद्येवं तर्हि नेतुः क्षत्रियस्य स्वधर्मविमुखस्य च तथात्वसम्पादनं कथन्न विगर्हणीयं भवेत्? 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति विध्यनुरोधेनाधीतवेदस्य सकलनियमोपेतस्य द्विजोत्तमस्यैव मुखाद् विनिर्गता वेदा माङ्गल्यमाविष्कुर्वन्ति। क्षत्रियवैश्ययोस्तु तथाप्रकारयोः स्वधर्मक्रियासम्पादनायैव ते प्रभवन्ति। यद्येवं तर्हि यासां वेदेष्वधिकार एव न श्रूयते नापि स्मर्यते नैव च शिष्टाचारपरम्परायां परिदृश्यते तासां स्त्रीजातीनां मुखोदराद् निर्गच्छन्तोऽपि न ते वेदा एव भवन्ति। किन्तर्हि? लबेदास्ते स्त्रीविलासविजितमानसानामेव सन्तोषाधायकाः। तथा च, नैव मङ्गलाचरणत्वं सिद्ध्यति। प्रत्युतामङ्गलाचरणमेव तद् भवति। अनधिकृतकृतत्वादेव। तत्र विदुषां साभिलाषनिरीक्षणं शिष्टजनचित्तविक्षोभं जनयति। एवमेवात्रोक्ता अन्य आचारा अपि मन्तव्याः।

अत्र संशयो जायेत। कथम्? विद्वत्सम्पादितत्वादेव। विद्वांसो यत् कर्मजातं सादरं परिगृह्णन्ति नूनं तत् प्रेयसे श्रेयसे च भवतुमर्हतीति भूयिष्ठकल्पानां मनस्यावर्तेत। तथा च, शास्त्रदृष्ट्या विगर्हितत्वादकार्यतापि सम्भाव्येत। तदेवं संशयस्य पुरःस्फूर्तिकत्वाद् निर्णयाय विचार आवश्यक एव। एवं तर्हि किन्तावत् प्राप्तम्? समाचरणीयमेव सर्वं विद्वद्धौरेयैरपीति। कुतः?

पाणिग्रहणसंस्काराज् जाते वै दारसंग्रहे।
प्रीति स्तत्र प्रजायेत भूयसी विदुषामपि।।१।।
ततः कालक्रमेणैव जायेरन् बहवः सुताः।
तेषां सम्यग् व्यवस्था च धर्मद्वारा न सिद्ध्यति।।२।।
अतिक्रम्यापि धर्मं वै पूर्वोक्तानां परिग्रहः।
विद्वद्भिरपि कर्तव्यः कुटुम्बादेः प्रपुष्टये।।३।।
एवमादिस्थले नूनमभ्यनुज्ञा विलोक्यते।
ऋतुं विनापि भार्यासु यथाकामं प्रवृत्तिवत्।।४।।
अथवा परिपुष्टस्य वृष्यभोज्यमुपेयुषः।
वृत्तेऽपि सुरते तस्मिन् पौनःपुन्येन वृत्तिवत्।।५।।
नेतारः शासका ह्यत्र प्रजातन्त्रे व्यवस्थिताः।
नूनं तेषां करे सम्यक् तन्त्रजालं प्रवर्तते।।६।।
अतः प्रसादभूयस्त्वं नेतॄणां सम्भवेद् ध्रुवम्।
पदमानप्रतिष्ठादौ विदुषामुपकारकम्।।७।।
महनीयपदे दुष्टभोगलिप्सुदुरात्मनाम्।
नेतुः कृपाकटाक्षेण नियुक्तिश्चेह दृश्यते।।८।।
एवमेव विपश्चिद्भिः स्वार्थसाधनतत्परैः।
शासकान् प्रतिपूज्यापि विभुता प्रतिपद्यताम्।।९।।
कदाचारविरोधेन नीतिमार्गे समाश्रिते।
दुर्गति र्यदि लोके स्यात् को विद्वांस्तं समाश्रयेत्।।१०।।
सर्वथा दोषशून्यत्वात् कुटुम्बपरिपोषणे।
सुमनोग्राह्यता सिद्ध्येदिति प्राप्तेऽभिधीयते।।११।।

सिद्धान्तः

मैवं वोचः प्रजास्वेतत् कदाचारानुशीलनम्।
विद्वद्व्यवहृतिद्वारा बुद्धिभेदं प्रकल्पयेत्।।१२।।

येषामाचारसम्पत्ति र्लोकस्थितिविधायिनी।
वेदशास्त्रानुगामित्वाद् मन्वादिभिरुदाहृता।।१३।।

त एव दारपुत्रादिव्यामोहादिबलेन वै।
विकर्मस्था भवेयुश्चेत् कथं सा दार्ढ्यमाप्नुयात्।।१४।।

मूर्खाणामेव संसाररागादिहतचेतसाम्।
परिवारपरिच्छिन्नव्यापारः साधु शोभते।।१५।।

धर्माय धीमतां लोके दिव्यतापादनाय च।
आविर्भावः प्रभावश्च जायते नात्र संशयः।।१६।।

तत्सिद्धान्तव्यवस्थायै तेषां दारसुतादयः।
पात्रभूता विराजन्ते नाटकेषु नटा इव।।१७।।

इतिहासपुराणादौ दारानपि सुतानपि।
क्लेशवारान्निधिं नीत्वा सत्यदानपरायणाः।।१८।।

दृश्यन्ते धार्मिकोत्तंसा अज्ञातस्वार्थसाधनाः।
श्रीमान् गोविन्दसिंहोऽत्र साक्षात् सिंहो निदर्शनम्।।१९।।

मा भूद् धर्मकृतः क्लेशः कलत्रादे र्विपश्चिताम्।
तथाप्यधर्ममार्गेण वित्तभोगो न युज्यते।।२०।।

पङ्क्तिभेदादयो दोषा नरकावासहेतवः।
स्वप्नेऽप्येषां समुल्लासो विदुषां नैव शोभते।।२१।।

त्रिदेवैरपि ये वन्द्याः पादप्रक्षालनादिभिः।
स्वार्थमुद्दिश्य तैरेव नेतुः पूजा न शस्यते।।२२।।

रथेन यत्पदप्राप्तिः सर्वदा सुलभा यदि।
नावाप्तुं तत् समीहन्ते गर्दभेन जडा अपि।।२३।।

नेतारः कामचेतारो विनापि चेत् स्त्रगादिभिः।
अप्रसन्ना भवेयु स्ते का हानि र्विदुषामिह।।२४।।

'अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयङ्करः'।
इति नीतिवचोऽस्माभिः प्रस्मर्तव्यं न कर्हिचित्।।२५।।

कदाचारविरोधेन नीतिमार्गानुसारिणाम्।
दुर्गतौ दृश्यमानायां तत्त्यागोक्तिरनर्थिका।।२६।।

नैव व्याप्ति स्तयो र्नूनं ग्रहीतुमपि शक्यते।
नीतिमार्गानुगामित्वे सम्पत्तेरपि दर्शनात्।।२७।।

वैपरीत्येन सा सिद्धा शास्त्रादौ तेन धार्मिकाः।
यावज्जीवं प्रवर्तन्ते तस्या रक्षणतत्पराः।।२८।।

यापि सत्यादिनिष्ठानां तत्कालमवलोक्यते।
नूनं सत्यपरीक्षार्थं भवेत् सा कीर्तिवर्धिनी।।२९।।

उत्पथं प्रतिपन्नानां सम्पद्वृद्धि र्दुरात्मनाम्।
किञ्चित्कालपरिच्छन्ना सा मूलक्षयकारिणी।।३०।।

युधिष्ठिरमहाभागो नीतेरेव समाश्रयात्।
पर्यन्ते वसुधामेव बुभुजे सद्गुणाकरः।।३१।।

तत्रैवासत्यमार्गेण वर्तमानः सुयोधनः।
स्वल्पं सुखं समासाद्य नाशमाप सबान्धवः।।३२।।

नीतिमार्गपरित्यागी मानसिंहो महीपतिः।
यवनाय स्वसारं स्वां समर्प्याल्पसुखं ययौ।।३३।।

तत्रैव बुद्धिमान् राणाप्रतापो नीतिरक्षकः।
तृणपत्रादिकं भुक्त्वा क्षत्रधर्ममुपेयिवान्।।३४।।

अद्यापि स्मरणीयस्य राज्ञस्तस्यामिता गुणाः।
प्रजाभि र्लोकगीतेषु गीयन्ते निर्गताश्रुभिः।।३५।।

मानसिंहः स दुर्मेधा हेयदृष्ट्या विलोक्यते।
ग्रहीतुं तस्य नामापि नेच्छन्ति पामरा अपि।।३६।।

धर्मनीत्या भवेत् कीर्तिः कीर्ति र्यस्य स जीवति।
तस्मात् सर्वस्वनाशेऽपि ग्राह्या नीति र्मनीषिभिः।।३७।।

भारतेऽद्य प्रजातन्त्रं कण्डूरिव विवर्धते।
दुर्नीतिरेव भूपानां हेतुरत्र विलोक्यते।।३८।।

सङ्कटापन्नकालेऽद्य राजानो हृतराज्यकाः।
धर्मकार्यं परित्यज्य मुख्यधारामुपागताः।।३९।।

प्रजातन्त्रमुपासीना भवन्ति सचिवा अपि।
ब्राह्मणा अपि केचिद्वै जातास्तद्भावभाविताः।।४०।।

ब्राह्मणास्ते तथा त्यक्तस्वाभिमाना नराधिपाः।
सचिवादिरतिप्राया राष्ट्रप्राणविदारकाः।।४१।।

एतद्घोरतमैः कृत्यै र्भारतं राष्ट्रमन्वहम्।
रोदितीव सदा तारं प्रतिभाति मतौ मम।।४२।।

एवम्प्रकारपापानामन्येषाञ्च दुरात्मनाम्।
नेतॄणां पूजया नूनं स्वर्लाभोऽपि मलोपमः।।४३।।

अहो! विपश्चितो वृद्धाः श्लोकद्वारा स्रगादिभिः।
आराधयन्ति नेतॄंस्तान् धिक् कष्टं किमतः परम्।।४४।।

विध्युद्देशादबुद्धं प्राक् प्रमाणै लौंकिकैश्च यत्।
वेदे लिङादिगम्यत्वादपूर्वं कार्यमुच्यते।।४५।।

तदेव शुद्धभावेन श्रेयसीह नियोजनात्।
पुंसां नियोग इत्येव प्रोच्यते नयगामिभिः।।४६।।

तदेव मुख्यकार्यं स्याद् विदुषां यच्च दृश्यते।
गृहदारादिवृद्ध्याख्यं गौणकार्यं तदुच्यते।।४७।।

न्यायतो लभ्यते नूनं कार्ययो गौंणमुख्ययोः।
मुख्यकार्यबलीयस्त्वं तस्माद् मुख्यं न लोपयेत्।।४८।।

यच्चोक्तमभ्यनुज्ञेति पङ्क्तिभेदादिकर्मसु।
पोषणाय कलत्रादेस्तत् समाधीयतेऽधुना।।४९।।
अभ्यनुज्ञाविधिस्तावद् दोषाभावावबोधनात्।
क्वचिद् निषिध्यमानेऽपि प्रवृत्तावर्थवान् भवेत्।।५०।।
यथा कन्याविवाहादावसत्यवदने श्रुता।
न सत्यं बाधते किन्तु हितं सम्पादयत्यलम्।।५१।।
'सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्'।
इत्यादिवचनं चात्र मूलत्वेनोपलभ्यते।।५२।।
रजोदर्शनतः प्राग् वै कन्या दानाय शस्यते।
तत्रान्तरायभूतञ्च सत्यमप्यन्यथा भवेत्।।५३।।
शास्त्रै र्वेदादिभि र्लोके हितमेव प्रमीयते।
तस्मात् सत्यस्य तात्पर्यं हित एवावसीयते।।५४।।
क्रूरेणान्विष्यमाणस्य हन्तुमेव तु कस्यचित्।
असत्यवर्त्मना गुप्तिः सत्यादपि विशिष्यते।।५५।।
सत्यं तत्र महापापपङ्कमूलं निगद्यते।
एवमादिस्थले नूनमभ्यनुज्ञा प्रतिष्ठते।।५६।।
ऋतुभिन्नेऽपि काले यद् भार्यागमनमुच्यते।
तत्र सप्तपदीकाले शास्त्रमेवानुरुध्यते।।५७।।
वृष्यभोज्यवतः पुंसोऽसकृद् या सुरते मतिः।
करणीयतया प्रोक्ता तत्रान्यत् कारणं शृणु।।५८।।
दिव्यौषधिगुणानान्ते प्रभावा यद्बलेन च।
असकृद्गमनं पुंसो न दोषाय प्रकल्पते।।५९।।
इत्येवमादिना नूनं प्रशंसायां तथौषधेः।
तात्पर्यं ब्रुवती सर्वमभ्यनुज्ञा विराजते।।६०।।

नैतावता स्त्रियां पुंसोऽसकृद्वा वार्धकेऽपि वा।
रागादभ्यञ्जनं सिध्येद् विरोधादन्यशास्त्रतः।।६१।।
यद्येवं तर्हि मूर्खास्ते वार्धके ये प्रयत्नतः।
मिश्रा इव प्रवर्तन्ते तरुण्यामसकृद् नराः।।६२।।
पूर्वं विपश्चितो घर्मवर्षादित्राणहेतवे।
कृतकृत्याः कुटीमेव कृत्वाऽऽसन् गृहमेधिनः।।६३।।
इदानीं वित्ततः पूर्णा गृहारामादिभि र्युताः।
यदि ते स्युः कथं तेषां पङ्क्तिभेदादिकर्मसु।।६४।।
अभ्यनुज्ञा भवेत् सिद्धा भूयोऽनर्थप्रदायिनी।
नैव सत्तामुपेयात् सा न क्लीबे सुरतस्पृहा।।६५।।
तस्मादनिष्टसम्पाताल्लोकवृत्तविभेदनात्।
शिष्टगर्हाद्युपेतत्वात् पङ्क्तिभेदादिकर्मणाम्।।६६।।
त्यागं विधाय विद्वद्भी राष्ट्रधर्मपरायणैः।
ग्राह्या शुद्धसदाचारप्रोता शिष्टपरम्परा।।६७।।

अधिगतनियमपुरःसरविद्या यत्प्रयोजना तया तदेव सम्पादयितुं शक्यते, नान्यत् किञ्चन। विद्वांसोऽपि तदेव सम्पादयन्ति यदा तया तदभिलषन्ति। विद्यया च प्रेयः श्रेयो वा सम्पादयितुं शक्यते। प्रेयसः कोटौ यथा स्वर्ग आयाति तथैव जायापुत्रगृहकोशस्थप्रभूतवित्त-विचित्रवाहननेतृसचिवाधिकारिमध्यप्रभावातिशयप्रभृतय आयान्त्येव। काम्यत्वादेते कामा भवन्ति। एतेषां सर्वेषामेव प्रेयसां प्राप्तिः समधिगतविद्यानामन्येषां वा द्विधा सम्भवति। धर्ममार्गेण तद्भिन्नमार्गेण वा। विप्रतिषिद्धमिदमुच्यते विद्यया प्रेयोऽपि प्राप्यत इति। 'विद्ययाऽमृतमश्नुत' इत्येवमादिश्रुतिभिस्तस्या मोक्षैकसाधनकत्व-विनिर्णयात्? सत्यमाह भवान्। सर्वोऽपि वेदान्तिपथप्रविष्ट एवमेव ब्रूयात्। विद्यापदेनात्र धर्मानुष्ठानोपयोगि तज्ज्ञानमुच्यते यस्य च तदङ्गत्वं केवललिङ्गात् प्रसाधितमेव। एवञ्च धर्मानुष्ठानद्वारा विद्यायाः प्रेयोऽङ्गत्वं

भवत्येव। यद्यपि विदुषां कृते कामा न सन्ति। श्रेयोमात्रप्रयोजनकत्वात् तेषाम्। यथोक्तम्—

'अतः कायमिदं विद्वानविद्याकामकर्मभिः।
आरब्धमिति नैकस्मिन् प्रतिबुद्धोऽनुषज्जते।।
असंसक्तः शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे।
अपत्ये द्रविणे वापि कः कुर्याद् ममतां बुधः।।

(श्रीमद्भागवते ४.२०.५-६)

तथापि—

को गृहेषु पुमान् सक्तमात्मानमजितेन्द्रियः।
स्नेहपाशै र्दृढै र्बद्धमुत्सहेत विमोचितुम्।।
कोऽन्वर्थतिष्णां विसृजेत् प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः।
यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठै स्तस्करः सेवको वणिक्'।। इति।

(श्रीमद्भागवते ७.६, ९-१०)

कोऽपि वेदान्त्यपि

यद्यनेन न्यायेनैते कामाश्चेतसि निपतेयु स्तदा धर्ममार्गेणैव तत्प्राप्तेरौचित्यमस्ति, न तु तत्प्रत्यनीकेन विगर्हितेन पङ्क्तिभेदादि-रूपेणाधर्ममार्गेण। धर्मेणैव यथाकालं सर्वं सम्पादयितुं शक्यत्वात्।

अपि च, सागरमेखलायाः सकलाया एव वसुन्धरायाः प्रमाणभूता विद्वांसो भवन्ति यदाचरितप्रभावात् साऽऽचारवती भवति। यथोक्तं भगवता श्रीवासुदेवेन—

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते'।। इति।

एवं सति तेषां धर्मव्यतिक्रमेण तदनुवर्तनक्रमेण सर्वोऽपि लोक—स्तथैव स्यात्। ततश्च निर्मर्यादेयं भूः स्यात्। सर्वमेतद् विचार्य तैः प्रवर्तितव्यम्।

ते विपश्चितो ब्राह्मणाः स्वाचारादेव त्रिलोक्यां सर्वापेक्षया गरीयस्त्वेन गण्यन्ते। यथोक्तं भगवतैव—

'देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना दक्षादयो ब्रह्मसुता स्तु तेषाम्।
भवः परः सोऽथ विरिञ्चिवीर्यः स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः।।
न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत् पश्यामि पुत्राः! किमतः परन्तु।
यस्मिन् नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाऽहमश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे'।। इति।
(श्रीमद्भागवते ५.५.२२.२३)

एवम्प्रकारभव्यमहिमानो विपश्चितो नेतुस्तत्समानधर्मणोऽधिकारिणो वा स्वल्पप्रयोजनाय सपर्यां श्लोकादिना स्रक्चन्दनादिना वा विदध्युरिति कथमियं भूः स्वस्था भवेत्। तस्मात्तैरवश्यमेवानादिपण्डितपरम्पराप्राप्ता सदाचारपद्धतिरनुवर्तनीयैवेति सिद्धम्। परिकरश्लोकोऽप्यत्र भवति—

'शास्त्रै र्या च विदूषिता धृतिधनैः शिष्टैः सदा गर्हिता
लोके विप्रियमादधाति परमं या सन्निपातोपमा।
वृद्धाकर्तृकसौरतस्मृतिरिवानर्थप्रधानैव सा
त्याज्या निन्द्यपरम्परा सुमनसां सद्वृत्तसम्पत्तये'।।

प्रयोजनन्तु पातित्यासङ्क्रमाद् धर्माबाह्यता पूर्वपक्षे सिद्धान्ते च तत्संक्रमात् तद्बाह्यतेति पूर्वोत्तरपक्षाभ्यामेव सुस्पष्टम्।।

।। इति पातित्यपेटिकायां पञ्चदशं विदुषामाचार्यपरम्परा-ग्राह्यत्वाधिकरणम्।।१५।।

अथ षोडशं यतीनामपि शास्त्रविरुद्धकृत्याननुष्ठेयत्वाधिकरणम्

अतः परं चतुर्थाश्रमिणो यतीनधिकृत्य विचार्यते यत् तैरपि विशेषप्रयोजनाय नेत्रधिकारिपरिग्रहस्तद्विशेषसभाजनं च पङ्क्तिभेदादयोऽपि वा विधातव्या उत नेति। अत्र तेषां विशेषसामर्थ्यशालित्वाद् धर्मव्यतिक्रमोऽप्यकिञ्चित्कर इति तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथेति न्यायेन सिध्यत्येव। तथा च, तदीयव्यवहारेऽन्येऽपि शास्त्रविरुद्धप्रकारा दृश्यन्ते—

कथावाचनकर्मादावागतामन्त्रितस्य वै।
त्यागस्तत्रैव मोहाद् वाऽनामन्त्रितपरिग्रहः।।१।।

गुरोः पुण्यतिथौ स्वीयाश्रम एव विशेषतः।
गायकै र्गायिकाभि श्च गानकर्मप्रवर्तनम्।।२।।

भूयस्तदीयहस्तेषु भोगद्रव्यसमर्पणम्।
विद्वत्करेषु तत्रैव स्वल्परूप्यकपातनम्।।३।।

जनमध्ये च विप्रेभ्यो दानं तस्य च कीर्तनम्।
प्रदेयवस्तुनोऽल्पस्य भूयस्त्वेनोपवर्णनम्।।४।।

एकाल्पज्ञबलेनैव वटुकानां परिग्रहः।
मूर्खान् विधाय तानेव ग्रामान् प्रति विसर्जनम्।।५।।

कुम्भादिपर्वजातेषु विभुतायाः प्रदर्शनम्।
धनिकादेः कृते तत्र कुटीरापादनन्तथा।।६।।

मन्दिरादिविनिर्माणे कोटिमुद्रापरिव्ययः।
वेदादिशास्त्ररक्षादौ दूराद् नेत्रनिमीलनम्।।७।।

भारते चतुरो मासानष्टौ द्वीपान्तरेषु च।
निवासो धर्मशिक्षादिव्याजेनैव सयुक्तिकः।।८।।
एवमादिक्रियाजालेऽस्माकं दिव्यमहात्मनाम्।
अन्तर्मोदसमुल्लास इति प्रायः प्रभाषणम्।।९।।
गृहेष्वासक्तचित्तानां नराणां योषितान्तथा।
मध्ये वेदान्तविद्यायाः प्रचारस्तत्र भोजनम्।।१०।।
मुम्बय्यां श्रेष्ठिनां गेहे चातुर्मास्यन् तथा पुनः।
गङ्गादितीर्थदेशेषु सकृदागमनं क्वचित्।।११।।
न्यक्कृत्य विदुषो वृद्धान् धनिकाभ्यागतान् प्रति।
प्रपञ्चवार्तयाऽमूल्यकालस्य क्षपणं मुधा।।१२।।
विहिपादिदलोत्थाया दुर्नीतेश्च समर्थनम्।
तद्धर्मसंसदाभासे नेतृपार्श्वोपवेशनम्।।१३।।
निजभक्ताङ्गनापङ्क्तौ भोज्यस्य ग्रहणन् तथा।
ताभ्य एव महामन्त्रदीक्षासम्पादनं मुदा।।१४।।
ता मण्डलेश्वरीकर्तुं समवेत्य प्रयत्नतः।
उत्तरीयस्य तद्देहे मन्त्रपूर्वकमर्पणम्।।१५।।
इत्येवं बहवः प्रायः परिव्राट्पातहेतवः।
दृश्यन्ते लोभमाश्रित्य गर्ह्याचारा इतस्ततः।।१६।।
तेषु सामर्थ्यशालित्वाद् दोषाभावानुमानतः।
सदाचारतया भ्रान्ति र्जनानां स्यादतस्त्विह।।१७।।
तामेव मूलतश्छेत्तुं विचारोपक्रमः कृतः।
येन शुद्धसदाचारः प्रतिष्ठामाप्नुयात् सदा।।१८।।
नूनं सन्न्यासमार्गेण यथाशास्त्रं द्विजोत्तमः।
वर्तमानः परं ब्रह्म साक्षान्नारायणो भवेत्।।१९।।

स एव शास्त्रमुत्सृज्य मायाजालं प्रवर्तयन्।
क्षिप्रं रसातलं गच्छेच्छ्रेयोमार्गप्रदूषणात्।।२०।।

मन्त्रदीक्षादिसंस्कारद्वारा देवसमर्चनात्।
तद्रूपतां ब्रुवाणस्य सत्यधर्मात् परिच्युतिः।।२१।।

मिथ्याचारं च भोगैकसामग्रीसंग्रहादिकम्।
सर्वं कुत्सितप्रायं जीवनं प्रतिपादयेत्।।२२।।

न हि कुत्सितकामाढ्यं जीवनं न्यासिनामपि।
प्राशस्त्यं भजते लोके नारीमध्य इवार्चनम्।।२३।।

विदुषीणां सभाव्याजात् प्रौढासंस्कृतयोषिताम्।
पीठं प्रति समाह्वानं दीक्षितस्य न शोभते।।२४।।

कुख्याता याः स्त्रियो लोके स्वतन्त्राः सर्वकर्मसु।
कौशेयवसना स्ता वै साध्व्यः स्युस्तिलकेन किम्?।।२५।।

एवम्भूतशठस्त्रीणां द्रव्यै र्भूयोभिरञ्जसा।
निर्मितं न्यासिनां पीठं नरकाय भवेद् ध्रुवम्।।२६।।

न हि संन्यासमाश्रित्य शोभते मठविस्तरः।
सन्ध्ययो नैंव घण्टानां वादनाद् राष्ट्रभव्यता।।२७।।

तत्र तु त्यागमालम्ब्य वेदादिशास्त्रपोषणात्।
भारतास्तित्वरक्षायै दिव्यनीतिः सुशोभते।।२८।।

अनेककोटिमुद्राभि र्निर्मितै र्भवनै र्नु किम्?
श्रेष्ठिनां भव्यशुश्रूषामात्रं यत्र मुहु र्भवेत्।।२९।।

भवेद् मन्दिरनिर्माणकार्यं मुद्रार्बुदैरपि।
किन्तु तदंशतः शास्त्ररक्षाकार्यं भवेद् ध्रुवम्।।३०।।

मा भूद् मठेषु संस्थानं शिक्षणस्य तदद्भुतम्।
यच्छ्रेष्ठिमनस स्तोषे वित्तस्य साधनं भवेद्।।३१।।

धिक् तन्मठस्य भव्यत्वं यत्राल्पज्ञबलेन वै।
वृथैव बहवो बाला गृह्यन्ते वित्तलिप्सया।।३२।।

अहो काश्यां मया दृष्टो गङ्गाघट्टस्थिते मठे।
म्लेच्छपङ्क्तावदन् मूढः प्राचार्यः प्रीतमानसः।।३३।।

तत्रस्था वटवः सर्वे भोजनैरेव निर्वृताः।
केवलं मठकार्याणि कुर्वन्ति क्रीतदासवत्।।३४।।

ते बालाः श्रेष्ठिनां मध्ये समानीय मठाधिपैः।
प्रदर्श्यन्ते तथा स्वीयभव्यकार्यं प्रशस्यते।।३५।।

श्रेष्ठिनोऽपि मठाध्यक्षतत्कार्यं वीक्ष्य निर्वृताः।
अकुप्यै र्वसुभिस्तेषामिष्टसिद्धिं प्रकुर्वते।।३६।।

अहो सम्पत्तिलोभेन महान्तः कोऽपि योषिता।
एकासनं समारुह्य गङ्गामटति मूढधीः।।३७।।

भारतेऽत्र विरक्तानां तथा तद्ब्रह्मचारिणाम्।
विद्यालयस्थबालानां मूर्खता स्याद् महापदः।।३८।।

त्रयीभ्रष्टविकर्मस्थबाहुल्ये मूर्खतैव सा।
हेतू राष्ट्रपरायत्ते तस्याः कारणतोच्यते।।३९।।

धर्मं प्रबाध्य लोकेऽस्मिन् केवलं द्रव्यसंग्रहः।
विलोक्यते नृणां यच्च कारणं तत्र मूर्खता।।४०।।

राजहस्तात् समुत्प्लुत्य राष्ट्रमेतद्धतप्रभम्।
तन्मूर्खताप्रयुक्त्यैव बिभर्ति खलतन्त्रताम्।।४१।।

सम्प्रत्येवं प्रजातन्त्रे राज्ञामुत्साहभागिता।
यतीनां वा प्रतिष्ठाप्त्यै नेतॄन् प्रत्यनुरागिता।।४२।।

भोगदृष्टिं समालम्ब्य ब्राह्मणानामपीह वै।
अत्याधुनिकविद्यातो म्लेच्छदेशगतिस्तथा।।४३।।

क्षत्रियाणां सुराशस्त्रव्यापारविषया रतिः।
शूद्रादीनाञ्च वेदेषु च्छद्मनैव प्रवर्तनम्।।४४।।
अथवा किं बहूक्तेन शिष्टविक्षोभकारिणा।
शासने दृश्यते यद् यद् मूर्खता तत्र कारणम्।।४५।।
इत्येवंकृत्यजातेषु प्रकाश ईप्स्यते यतः।
तत्रैव मूर्खतोत्पत्तिः कथं न स्याद् महापदः।।४६।।
तस्माद् विरक्तदेशेषु बालानां ब्रह्मचारिणाम्।
शास्त्रज्ञसुस्थितिद्वारा विद्यावृद्धिः समीह्यते।।४७।।
धन्यास्ते वैष्णवाचार्याः सदाचारपुरःसरम्।
परप्राधान्यतो ये वै सद्विद्यां तां वितन्वते।।४८।।
कोटिमुद्रा व्ययीकृत्य मठारामं वितत्य च।
पौरोहित्यप्रकारेण भिक्षामात्रेण वा पुनः।।४९।।
शिक्षकानीहमाना स्ते यतयो दुरितप्लुताः।
अबोधविक्लवान् बालान् मूर्खताब्धौ क्षिपन्ति ये।।५०।।
प्राच्यविद्याप्रतिष्ठायाः प्रचारे शासनेन वै।
शाला याः स्थापिता स्तत्र प्राध्यापकसुबन्धवः।।५१।।
शास्त्रप्रवर्धिनीं वृत्तिं त्यक्त्वा सर्वाणि कुर्वते।
केचिद् द्रव्यादिलोभेन व्यासीभूताश्चकासति।।५२।।
केचिद् धूर्तोत्तमा दिक्षु पौरोहित्यं प्रकुर्वते।
राजनीतिपराश्चान्ये दुष्टगोष्ठीप्रिया स्तथा।।५३।।
सर्वथा श्रमवैधुर्याज्जाता वैशाखनन्दनाः।
तत्प्रभावाद् महामूर्खा जायन्ते छात्रबन्धवः।।५४।।
यस्मिन् राष्ट्रे महामूर्खभूयस्त्वं सुष्ठु राजते।
तत्रानुमीयते सर्वं दौर्भाग्यं पामरैरपि।।५५।।

वेदानाश्रित्य सिद्धानां मुनिभि स्तत्त्वगामिभिः।
विपश्चिद्धिश्च विस्तारं प्राप्तानां तत्त्वपुष्टये।।५६।।
विद्यानामत्र मूर्खै र्नु परीक्षा दीयते कथम्।
ज्ञात्वैतत् सकलं तथ्यं यतयोऽपि विमोहिताः।।५७।।
यदि मिथ्याप्रपञ्चाःस्यु र्दशा राष्ट्रस्य का भवेत्।
तस्माद् मठादिविस्तारव्यामोहादिनिरासतः।।५८।।
ग्राह्यः परम्पराप्राप्त आचारो यतिभिः सदा।
अन्यथा तेऽन्धतामिस्त्रे पतेयुरिति निश्चयः।।५९।।
एवमेव विभूतिः सा भारतस्य पुरातनी।
भूयोभूयः प्रवर्धेत धर्मशास्त्रानुगामिनी।।६०।।
नेत्रादीन् पृष्ठतः कृत्वा मलवद् यतिभिः पुनः।
शुद्धिं विधाय कर्तव्यं निजधर्मस्य पालनम्।।६१।।

प्रयोजनन्त्वधिकरणप्रतिपादनेनैव पूर्वाधिकरणोक्तं गतप्रायम्।

।। इति पातित्यपेटिकायां षोडशं यतीनामपि शास्त्रविरुद्धकृत्यानुष्ठेत्वाधिकरणम्।।१६।।

अथ सप्तदशं पतितापत्यैः साकं विवाहादिव्यवहाराणामकर्तव्यत्वाधिकरणम्

अपेक्षितविचारं विधायेदानीं पतितापत्यजातान्यधिकृत्य विचार्यते यत्तदपत्यैः साकं विवाहादिव्यवहारः शिष्टैः कर्तव्य उत नेति? अपत्यञ्च द्वेधा—अपत्यं स्त्रीरपत्यं पुमानिति। कश्चित् पश्चात् तथा पतितो ज्ञातिभिस्त्यज्यमानः स्वापत्यैरपि यदि त्यजते तदा तदपत्येषु दोषासंक्रमाच्छिष्टग्राह्यता सिध्यत्येवेति नायं तद्विषयको विचारः। यस्तु पूर्वमेव पतितः पश्चाच्च निजभार्यायामपत्यमुत्पादयति, तथा च जातपूर्वैरपि न त्यज्यते तदा तदपत्यविषयकोऽयं विचारोऽवसरप्राप्त एव। पतितपदेनात्र पूर्वमेवोक्ता स्त एव गृह्यन्ते ये कृतप्रायश्चित्ता अपि त्याज्या भवन्ति। ते च मनूक्ताश्चत्वार स्तथा कलौ समुद्रलङ्घिन स्तत्संसर्गिणश्च। संसर्गिणोऽपि महापातकित्वं स्मरति भगवान् मनुः—

'ब्रह्महा मद्यपः स्तेन स्तथैव गुरुतल्पगः।
एते महापातकिनो य श्च तैः सह संवसेत्'।। इति।

एतद्व्यतिरिक्ताः प्रायश्चित्तादिना शुद्धाः सन्तो गृह्यन्त एवेति प्रतीयते। शिष्टैरवकीर्णिप्रभृतय उपपातकिनोऽपि त्यज्यन्ते इति ब्रह्मसूत्रकारास्तद्भाष्यकारश्रीमद्भगवत्पादप्रभृतयश्च। संशयश्चात्र संसर्गिविषयकशिष्टव्यवहारदर्शनाद् भवति। न्यायतः कः पन्था इति निर्णयाय विचार आवश्यक एव। किन्तावदत्र प्राप्तम्? पतितोभयविधापत्यैः साकं व्यवहारः कर्तव्य इति। कुतः?

निजक्रियावशात् पुंसां पातित्यमुपजायते।
तद्दोष स्तदपत्येषु गच्छत्येवेत्यसंशयः।।१।।

तथापि करुणाभावात् प्रायश्चित्तादिना पुनः।
शुद्धिं विधाय तैः साकं व्यवहारः प्रतीयते।।२।।

पतितग्राह्यतायां हि शिष्टानां लोभहेतुता।
साम्प्रतं दृश्यते नेयं तदपत्येषु लभ्यते।।३।।

पितृदेवो भवेत्यादिनियोगादरवान् सुतः।
कथं त्यागे मतिं कुर्यात् पितु र्यो देव आत्मनः।।४।।

पितृभक्तिबलेनैव जामदग्न्यो महामुनिः।
लोकोत्तरप्रभावः स ख्यातोऽभूज्जगतीतले।।५।।

एवमेव पुरु र्धीमान् सुरतानन्दनिःस्पृहः।
जग्राह वार्धकं भक्त्या ययाते र्विषयैषिणः।।६।।

कः सचेता व्यवायेन जायमानं सुखं महत्।
त्यक्तुमेवं मतिं कुर्याद् यौवनार्पणतः क्षणात्।।७।।

यत्सुखायैव वेदेषु वाजिमेधादयो मखाः।
अहीनसत्रयागा श्च वितताः सन्ति पावनाः।।८।।

अप्सरोद्वारत स्तद्वै सौरतं सुखमीरितम्।
तदेव स्वर्गनाम्नाऽत्र वेदशास्त्रेषु गीयते।।९।।

अहो धन्यः पुरु र्धीमान् पितृभक्तिपरायणः।
देवैरपि सुदुस्त्याज्यं त्यक्तवान् यः सुखं महत्।।१०।।

अस्मिन्नेव क्रमेऽष्टासु वसुष्वेकतमो बुधः।
भीष्मो गङ्गासुतः साक्षात् पितुरेव सुखेहया।।११।।

कन्यासु निःस्पृहो जातस्त्रिलोकी याः समीहते।
भार्गवाज्ञां तिरश्चक्रे नैव तासु मनो दधे।।१२।।

कन्यासु कनकाभासु यतयोऽपि विमोहिताः।
सुखं मठे समासीनाः साचि दृष्टिं प्रकुर्वते।।१३।।

काषायीकृत्य ताः केचिद् मठ एव निरन्तरम्।
स्थापयन्ति सदा प्रेम्णा यतयोऽज्ञानदूषिताः।।१४।।

दृश्यन्ते वनिता ह्येवं पीठाचार्यमठेष्वपि।
काश्चित्ताननुगच्छन्ति च्छायेवाऽशुद्धभावनाः।।१५।।
एवम्भूतस्थितौ लोके गाङ्गेयोऽपारविक्रमः।
ऊर्ध्वरेताः सदैवासीत् पितुः प्रियचिकीर्षया।।१६।।
नमो भीष्मप्रतिज्ञाय भीष्मायामिततेजसे।
येन दूरीकृता हृत्तः कामिन्यो लोललोचनाः।।१७।।
एवमेव स लोकानां दैवतं पुरुषोत्तमः।
रामो दाशरथिः साक्षात् परं ब्रह्म सनातनः।।१८।।
जायावशङ्गतस्यापि पितुराज्ञां गृहीतवान्।
चतुर्दश समाः सोऽपि सपत्नीकः सबान्धवः।।१९।।
तापसः सन् वनेष्वेव व्यतीयाय तपस्विभिः।
पश्चादेव महीं सर्वां बुभुजे सद्भिरादृतः।।२०।।
इत्थमेव सुतः कोऽपि त्याज्यस्यापि पितुः किल।
सेवां वितनुते चेद् वै व्यवहार्यः कथन्न सः।।२१।।
बलात्कारप्रदुष्टाया मातुस्त्यागो यथा कलौ।
सम्मतो नैव पुत्रेण पितुश्चापि तथा न किम्।।२२।।
अतो धर्मपथं गच्छन् पतितस्य पितुः सदा।
सेवापरायणः पुत्रो व्यवहार्यो मनीषिभिः।।२३।।
यथा तदीयकन्याया ग्रहणं स्मर्यते क्वचित्।
तथैव तत्सुतस्यापि ग्रहणं नैव दोषभाक्।।२४।।
मा भूत् स्तेनसुरापादिमहापातकिनः पितुः।
अत्यागिनः कुपुत्रस्य ग्रहणं सद्भिरादरात्।।२५।।
समुद्रलङ्घिनश्चैव पितुरत्यागिनः सुताः।
उद्वाह्या याजने ग्राह्याः शिष्टैरपि च यत्नतः।।२६।।

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
इत्येतत्कर्मणामत्र महादोषः प्रदृश्यते।।२७।।
ब्राह्मणस्य वधे जाते तत्कुटुम्बविपन्नता।
सुरापानेऽपि सैवात्र झटित्येवानुमीयते।।२८।।
स्वर्णादिस्तेयकृत्येन सैव भूयो विलोक्यते।
गुर्वङ्गनागमेनापि विग्रहो नापलप्यते।।२९।।
इत्येवं दृष्टदोषत्वाच्चतुर्णां कर्मणामिह।
महापातकता युक्ता लङ्घने ऽब्धेस्तु सा कथम्?।।३०।।
नूनं पारे समुद्रस्य ये ये देशा व्यवस्थिताः।
त्रयीभ्रष्टप्रधाना स्ते श्रौताचारविवर्जिताः।।३१।।
परस्त्रीलम्पटा स्तत्र गोमांसस्यापि भक्षकाः।
प्रायशः पुरुषा नग्ना योषितश्च तथैव ताः।।३२।।
प्रदृश्यन्ते समुद्रादे स्तटेषु विजिहीर्षया।
तद्दृश्यदर्शने लोला अत्रत्या न्यासिनो ध्रुवम्।।३३।।
यान्ति पारे समुद्रस्य सच्छिक्षाव्याजतश्च ते।
एवं दोषोऽस्ति तत्रापि लङ्घनेऽब्धेस्तथापि वै।।३४।।
अस्माद् गङ्गाजलं नीत्वा विशिष्टान्नमपि क्वचित्।
इन्द्रियनिग्रहद्वारा गमनं नैव दोषभाक्।।३५।।
यद्यत्रापि भवान् ब्रूतेऽधर्माधिक्यबलेन वै।
वायवोऽपि प्रदुष्टाः स्यु स्तत्रोपायमिमं शृणु।।३६।।
वायूनपि गृहीत्वा वै विशेषार्थसमीहया।
गन्तव्यं सादरं पुंभि र्दोषश्चैव न्तु नो भवेत्।।३७।।
अत एव च पाङ्क्तेया ब्राह्मणा वैष्णवा अपि।
नारायणं हृदि ध्यात्वा सामग्रीः सकला अपि।।३८।।

गृहीत्वैव प्रगच्छन्ति प्रयोजनविशेषतः।
तत्रत्यान्नजलादींश्च वारयन्ति प्रयत्नतः।।३९।।

भारतागमने तेषां मुखच्छाया तनीयसी।
कदाचिन्नैव दृष्टाऽत्र तद्दोषास्पर्शतः किल।।४०।।

इत्थञ्च पितरो येषां सदाचाराविलोपतः।
समुद्रलङ्घनं कृत्वा स्वेष्टसिद्धिं विधाय च।।४१।।

हृष्टात्मानः समायाताः कामं तैः सह सादरम्।
विवाहव्यवहारः स्यादिति प्राप्तेऽभिधीयते।।४२।।

सिद्धान्तः

तथ्यमाविष्कृतं सर्वं पतितापत्यभावनाम्।
वेदमूलां वदद्भि र्वै भवद्भि र्नीतिगामिभिः।।४३।।

पतितस्य पितु र्नूनमत्यागे शास्त्रमूलता।
आपादिता च या साऽन्यशास्त्रेणैव विरुद्ध्यते।।४४।।

पितृनुद्दिश्य ये सर्वे महान्तः पुरुषा इह।
अकुर्वन् यत् पृथिव्यान्ते मान्या स्तेनैव कर्मणा।।४५।।

तथापि शास्त्रसम्पत्ते र्गरीयस्त्वं विलोक्यताम्।
शास्त्रार्थातिक्रमाद् भीतो भीष्मः शान्तनुनन्दनः।।४६।।

अत्यन्तप्रेयसोऽपीह पितु र्हस्ते न दत्तवान्।
पिण्डं दर्भस्तरे योग्यं विज्ञातेऽपि महात्मनः।।४७।।

सा माता स पिता चैव स भ्राता बान्धवा श्च ते।
शास्त्रोदितार्यमर्यादां पालयन्ति सदैव ये।।४८।।

मर्यादात्यागमात्रेण निःसम्बन्धा श्च ते पुनः।
त्यज्यन्ते ज्ञातिभिस्तूर्णं शिष्टैराचारबन्धुभिः।।४९।।

कैकेयी भरतेनैव त्यक्ता गर्ह्येण कर्मणा।
हिरण्यकशिपु स्त्यक्तः प्रह्लादेन च रावणः।।५०।।
भ्राता विश्रुतविक्रान्तः स्वानुजेनैव धीमता।
न च ते धर्मतो रुद्धाः शास्त्रदृष्टिपरायणाः।।५१।।
एवञ्च त्यागपक्षोऽत्र पतितानां प्रतीयते।
ततश्चात्यागिभिः पुत्रै र्व्यवहारः कथं भवेत्।।५२।।
यच्छब्द आह तस्यैव प्रामाण्यं नः सुसम्मतम्।
स च मातुः कलौ नैव त्यागं ब्रूते पितु स्तथा।।५३।।
नैव शास्त्रवचो दृष्टं त्याग स्तस्य ततो भवेत्।
एवं तत्सेविपुत्रेभ्यः शिष्टैः कन्या न दीयताम्।।५४।।
कन्या नैव पितु र्वित्तं न्यासं तां कवयो विदुः।
एवमुद्वाहपर्यन्तं रक्षन्ति पितरः सदा।।५५।।
पतितस्यापि कन्यां वै ग्राह्यत्वेन ब्रवीत्यहो।
शास्त्रं तेनैव कन्यां तां गृह्णन्त्यत्र मनीषिणः।।५६।।
याज्ञवल्क्यो वशिष्ठश्च वृद्धहारीत एव च।
कन्योद्वाहेऽनुमन्यन्ते पतितानामपि क्वचित्।।५७।।
एवं पतितकन्याया दृष्टान्तस्य बलेन वै।
उद्वाहे तत्सुतस्यापि महानिष्टं प्रसज्यते।।५८।।
पतिता ज्जायमानस्य पश्चाद् वा पतितस्य वै।
पितुरत्यागिनश्चैव सुतस्याग्राह्यता ततः।।५९।।
निश्चीयते तथाप्यत्र तत्समृद्धिप्रभाविताः।
सादरं येऽनुगृह्णन्ति त्याज्या स्तेऽपि विपश्चिताम्।।६०।।

शास्त्रीयमर्यादामूलक एव सम्बन्धो लोके प्राशस्त्यं भजते। मर्यादात्यागमात्रेण विच्छिन्नसम्बन्धाः पुरुषा भवन्ति। एवञ्च

मर्यादापरिपालनैकव्यसनिभिः सर्वैरेव भाव्यम्। तत्त्यागेऽपि यावच्छास्त्रं निर्दिशति तावत् परिपालनीयं भवति। शास्त्रमेव पतितस्य पितुरकिञ्चनामेव कन्यां ग्राह्यत्वेन ब्रूते, अतः सा यथाशास्त्रं शिष्टै र्ग्राह्या, न तु तत्सुतोऽपि। तद्ग्रहणे शास्त्राभावात्। कन्यापरिग्रहविषये तावदाह वशिष्ठः—

'पतितोत्पन्नः पतितो भवति, अन्यत्र स्त्रियाः।

सा हि परगामिनी भवति, तामरिक्थामुपयच्छेत'।। इति।

(१३.२०.२१)

याज्ञवल्क्योऽप्येवमेवाह—

'कन्यां समुद्वहेदेषां सोपवासामकिञ्चनाम्'।। इति। (३.२६१)

सोपवासां कृतपूर्वदिवसोपवासाम्। अकिञ्चनामगृहीतपितृवस्त्रादिकामिति प्रायश्चित्तमयूखे।

तथा च वृद्धहारीतोऽपि—

'पतितस्य कुमारीं विवस्त्रामहोरात्रोपोषितां प्रातः शुक्लेनाहतेन वाससाच्छादितां नाहमेतेषां न ममैत इति त्रिरुच्चैरभिदधानां तीर्थे स्वगृहे वोद्वहेत्' इति।

एतद्वचनैरिदमेव निश्चीयते यत् पतितैरर्जितं वित्तं पतितोपभोगार्थमेव भवति नेतुरुत्तराधिकारितेव तत्कुलप्रसूतस्य। पतितकन्यायाः प्रायश्चित्तमपि तदन्नोपयोगप्रयुक्तदुरितनिचयोपशमनार्थमेव। प्रायश्चित्तेन शुद्धा सा तत्सम्बन्धविधुरा तीर्थे स्वगृहे वोह्यते, न तु पितु र्गृहे। नन्वेवं तर्हि तत्सुतमपि प्रायश्चित्तादिना काञ्चनाभं शुद्धं विधाय पितृरिक्थबहिर्भूतमकिञ्चनं कन्याप्रदानेनानुगृह्णातु भवान्। मैवं वोचः! सकलमेवं कुचोद्यं धर्माधर्मयो र्हेतुं निभालयतो नैयायिकस्यैव शोभते, न तु न्यायानुशीलनपरिपूतान्तरस्य मीमांसकस्य। 'यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणमिति शास्त्रकारा आहुः, शब्दस्तु पतितकन्यामेव ग्राह्यत्वेन ब्रूते पूर्वोक्तप्रकाराम्, न तु तत्सुतमपि तथाविधम्। तथा च, तस्याग्राह्यता प्रजातन्त्रविधौ सत्पुरुषस्येवायत्नतः सिद्ध्यति। सत्यप्येवं ये पतित-

समृद्धितल्लोकोत्तरप्रभावप्रभाभावितान्तरा भवन्ति तेऽपि शिष्टैस्त्याज्या एवेति सिद्धम्। एतेन 'तत्सुतस्यापि ग्रहणं नैव दोषभागि'ति पूर्वपक्षिवचनं समाहितं भवति। यत्तु ब्रह्महस्तेनसुरापगुरुतल्पगानां दृष्टमहादोषनिमित्तत्त्वेन महापातकित्वमभ्युपगम्य समुद्रलङ्घिनस्तादृशदोषादर्शनेन न महापातकित्वम्, तथा च ब्रह्महादिसुतस्याग्रहणेऽपि समुद्रलङ्घिसुतस्य ग्रहणे दोषाभाव इति चोदितं तत्रोच्यते—

यदि दृष्टगुणत्वेन धर्मत्वं स्यात् तथा पुनः।
दृष्टदोषस्य सामर्थ्यादधर्मत्वस्य निर्णयः।।६१।।

तदा वै भवतो युक्तिः शिष्टानां सम्मता भवेत्।
तयो र्यदाऽवगम्यत्वं वेदादेव प्रसाधितम्।।६२।।

तदा मूसलघातेन खण्डचूर्णोपमा भवेत्।
भवतः सकला युक्ति र्मूढमानसगामिनी।।६३।।

केचिद् नैयायिका ह्येवं वाग्जाले मुग्धमानसाः।
प्रभाषन्तेऽल्पबुद्धित्वाद् न चैवं तत्त्वचिन्तकाः।।६५।।

न हि ब्रह्मवधादीनां तत्कुटुम्बविपत्तितः।
महापातकता युक्ता वैपरीत्यस्य सम्भवात्।।६५।।

कुटुम्बपालकस्यापि वधे जाते कुटिम्बनः।
अन्यस्य कस्यचिद् योगात् समृद्धि र्दृश्यते पुनः।।६६।।

सुरापानेऽपि दुष्टानां कदाचारावलम्बनात्।
समृद्धि र्भूयसी लोके दृश्यते दारुणा क्वचित्।।६७।।

स्वर्णनाशविपन्नस्य ब्राह्मणस्य क्वचित् पुनः।
प्रतिग्रहादिनाऽकुप्यरत्नभाजनता न किम्।।६८।।

गुर्वङ्गनागमेऽपीह क्लीबस्योदारचेतसः।
कथं सम्भाव्यते स्वान्तजन्मेव विग्रहग्रहः।।६९।।

एवं ब्रह्मवधादीनां धर्मत्वमनुमीयताम्।
धर्मे सर्वस्वदानादौ दातु र्वीक्ष्य विपन्नताम्।।७०।।
अधर्मत्वमति र्नूनं विदुष स्ते भविष्यति।
तथा चानल्पनिन्दासु प्रतिष्ठा पुष्टिमेष्यति।।७१।।
एवं दोषबहुत्वेन व्यवस्थाऽभावतस्त्वया।
शास्त्रप्रमाणगम्यत्वं तयोरभ्युपगम्यताम्।।७२।।
ब्रह्महत्यादिदुष्टानां प्रायश्चित्तमुपेयुषाम्।
त्याज्यत्वं स्याद् यथा लोके तथैवाब्धिविलङ्घिनः।।७३।।
धर्मज्ञसमयात् सिद्धं तस्मादब्धिविलङ्घनम्।
महापातककोटौ तद् गण्यते शास्त्रपण्डितैः।।७४।।
महापातकता तस्य दृष्टदोषं विनाऽपि वै।
धर्मज्ञसमयादेव कलौ ज्ञेया मनीषिभिः।।७५।।
एवमेव च शास्त्रेषु युक्तिरत्नान्यशेषतः।
दृश्यन्ते सततं सर्वैः सद्विद्यापालकै र्बुधैः।।७६।।
यद्यप्युदन्वतः पारे म्लेच्छानां बहुलत्वतः।
धर्माधर्मविवेकोऽपि शशशृङ्गायितोऽभवत्।।७७।।
तथाऽप्यमुत्र सामान्यधर्मा रूढा व्यवस्थिताः।
सन्त्येव वैदिकै र्येषामपलापो न युज्यते।।७८।।
म्लेच्छा अप्यात्मजामन्यपुरुषाय ददते सदा।
दयादाक्षिण्यवन्त स्ते दृश्यन्ते वैदिका इव।।७९।।
आत्मजायाप्रिया स्तेऽपि शीलरक्षणतत्पराः।
चौर्यादिगर्ह्यकृत्येभ्यो व्यावृत्ता अपि ते ध्रुवम्।।८०।।
तेषु केचित् परस्त्रीषु लम्पटाः शौचवर्जिताः।
स्त्रियश्च धर्मराहित्याद् नग्नप्राया गतह्रियः।।८१।।

विहरन्ति समुद्रादेस्तटेषु सुरतेहया।
नैतावता भवेद् दोषो भारतेऽपि तथात्वतः।।८२।।
गतलज्जत्वमत्रापि नारीणां दृश्यते क्वचित्।
पुरुषा श्च परस्त्रीषु लम्पटाः सन्ति नात्र किम्।।८३।।
अहो चिकित्सका अत्र स्त्रीयौनशोषणे रताः।
साधवोऽपि प्रजाता वै वनितासुरतस्पृहः।।८४।।
ननु गार्हस्थ्यमुक्तेषु काषायादिधरेषु ते।
नारायणप्रियाः सन्तः सन्त्येवात्र महाशयाः।।८५।।
येषामूषरभूतासु मनोभूमिषु सुभ्रुवाम्।
सुस्थितिद्वारतो नास्ति मन्मथाङ्कुरसम्भवः।।८६।।
यथाविधि च ते नूनं धर्मकार्यं प्रकुर्वते।
अपवर्गप्रधाना स्ते नोपालभ्याः कदाचन।।८७।।
यद्येवं तर्हि तत्रापि म्लेच्छेष्वच्छिन्नसंयमाः।
महात्मानो भवन्त्येव विशुद्धसमताजुषः।।८८।।
एवमेव गृहस्थेषु म्लेच्छाश्चारित्रशालिनः।
केचित् तत्र विलोक्यन्ते महापुरुषसंश्रयाः।।८९।।
यदि भौतिकताग्राहाद् ग्रस्ता भोगैकमानसाः।
दुष्कृत्यपरमा म्लेच्छा भवन्तीत्युच्यते त्वया।।९०।।
अत्रापि बहवो दुष्टा हीनसत्त्वा स्तथाविधाः।
अनार्या इव संजाताः कथं दृष्टौ न सन्ति ते।।९१।।
अहो विधिविधातारो नेतारो मतलिप्सया।
ग्रामकुक्कुटमद्यस्त्रीसमर्पणतया नरान्।।९२।।
पातयन्त्यन्धतामिस्त्रे स्वयमेव पतन्ति च।
नैतादृशं महापापं म्लेच्छाः कुर्वन्ति साम्प्रतम्।।९३।।

एतादृशो महादुष्टा द्रव्यद्वारा महात्मनाम्।
सन्न्यासिनां प्रिया जाता दीक्षिता स्तेभ्य एव च।।९४।।

अहो प्रव्राजका अत्र नेतु र्वृद्धेश्चिकीर्षकाः।
चण्डीपाठादिकं कर्म कारयन्ति मुहु र्मुहुः।।९५।।

एवम्भूतस्थितौ नूनं ते शठाः शठविग्रहाः।
ये वाय्वन्नजलैः साकं कुर्वन्त्यब्धिविलङ्घनम्।।९६।।

यदि विविधविकर्मव्यापृता दुष्टसत्त्वाः
पशव इव विमूढा भारतेऽपि प्लवन्ते।
पवनजलफलादीन्यात्मन स्तर्हि नीत्वा
जलधिमतिचरन्तो धृष्टधूर्तोत्तमा स्ते।।९७।।

इत्थं श्रौतपरम्पराप्रणयिभिस्त्रैवर्णिकैः सादरं
धर्मज्ञप्रथिततत्वतः स समयो मान्य स्तदीयो महान्।
तस्मादेव समुद्रलङ्घिन इह त्यागोऽपि सिद्धः कलौ
तत्पुत्राव्यवहार्यताऽपि च ततो न्यायादनुप्राणिता।।९८।।

एवं सत्यपि येऽबुधा हतधियो दुर्नीतिबद्धादरा
मूर्खेष्वेव वदन्ति हिन्दुषु कुतः पातित्यमस्तीति ते।
नूनं धर्मविदूषका निजलघुस्वार्थाय दुश्चेष्टया
सर्वामेव महीमिमां विदधते सन्मार्गशून्योदराम्।।९९।।

अत्र स्वच्छविधाऽनपायत इयं शिष्टैः समा सत्क्रिया
भ्रष्टस्यैव पितुः सुतस्य सदसि स्यात् पूर्वपक्षे तथा।
सिद्धान्तेऽपि च तस्य तद्विमुखता दोषान्वयाल्लभ्यते
नित्यं वा सहभागिता च सततं स्याद् नैर्ऋते कर्मणि।।१००।।

।। इतिपातित्यपेटिकायां सप्तदशं पतितापत्यैः साकं विवाहादिव्यवहाराणाम-कर्तव्यत्वाधिकरणम् ।।१७।।

●

अथाष्टादशं स्वकुटुम्बपोषणमात्रदृष्टिपुत्राणां शिष्टैरग्राह्यत्वाधिकरणम्

पूर्वाधिकरणे पतितानां कन्याया यथाशास्त्रं ग्राह्यत्वमुक्तं तत्पुत्राणामग्राह्यत्वञ्चेति। अन्यान्यपि पातित्यप्रयोजककर्माणि पातकोपपातकातिपातकप्रभृतीनि भवन्ति भूमिष्ठकल्पैरन्यैरपि वा क्रियमाणानि यदि तज्जनितदुरितक्षपणाय प्रायश्चित्तानि न क्रियन्ते। तथाविधान्यपि कानिचिद् भवन्ति मूलस्यैवोच्छदकानि यानि पापत्वेन नाकलयितुं सुशकानि भवन्ति गृहकर्मव्यापृतैकमानसैः पुरुषैः। तथाप्रकारकपापसंपृक्तानां तदीयान्नजलकुत्सितसंस्कारपरिपुष्टानां पुत्राणां निंजकन्याप्रदानेन शिष्टै र्ग्राह्यत्वमस्ति न वेति ग्रन्थोपसंहाररूपतया विचारयितुमवशिष्यते। ननु विप्रतिषिद्धमिदमुच्यते वंशमूलोच्छेदकान्यपि पापानि नाकलयितुं शक्यन्त इति। प्रायः पापेषु शिष्टैरपि क्रियमाणेष्वुत्संक्रान्तमानसानि पुरुषजातानि भवन्ति। कथं तानि नाकलयितुं शक्यन्ते मूढा अपि यदा तथाविधपापविदो भवन्ति? उच्यते—

स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन पापानामसंख्यता।
शास्त्रेषु दृश्यते तत्र केषाञ्चिद्विज्ञवेद्यता।।१।।

सुरताहारनिद्रासु मनुष्याः पशवस्तथा।
समाना एव सन्तीह धर्मस्तेषां विशेषकः।।२।।

अत एव सदा धर्माद् धीनाः पशुसमा इह।
मानवा अपि गण्यन्ते सूक्तयश्चात्र सन्ति हि।।३।।

मोहैकपरमा लोके कुटुम्बैकपरायणाः।
मैकालेशिक्षणोन्मार्गे बद्धरागा दुराशयाः।।४।।

अभावे जीवतां पुंसां दुःखावर्ते निमज्जताम्।
उपेक्षातः शिशून् नैजान् द्रव्यै भूयोभिरञ्जसा।।५।।
पालयन्तस्तथा शश्वत् पाठयन्तो मुहु र्मुहुः।
खादन्तः खादयन्तश्च भोज्यजातं गृहादिषु।।६।।
गङ्गादिपुण्यतीर्थेभ्यस्तथा दानादिधर्मतः।
पराङ्मुखाश्च वेदान्तचर्चास्वाहितबुद्धयः।।७।।
एकवृत्तावसन्तुष्टा वृत्त्यन्तरमुपागताः।
तथाप्युत्कोचमार्गेण धनसञ्चयतत्पराः।।८।।
प्रातरेव समुत्थाय क्लर्का म्लेच्छवचोविदः।
पुत्रानध्याप्य तान्येव भुक्त्वा तूर्णं व्रजन्ति च।।९।।
कार्यालयं तथागत्य कृत्वा तत्कार्यमादरात्।
रात्रौ स्वपन्ति भुक्त्वैव पयः पीत्वा सुनिर्वृताः।।१०।।
एवमादिक्रियाजाले कालक्षपणकारिणः।
व्ययीकुर्वन्ति पुत्राणामुच्चैः शिक्षासु सर्वतः।।११।।
दशलक्षाधिकं द्रव्यं निर्धनोपेक्षया द्रुतम्।
इत्येवंकरणे धर्ममन्तरायं वदन्ति ते।।१२।।
शास्त्रसंस्कारतः पूर्णभ्रष्टास्तेषां सुता यदा।
महाभृत्यपदारूढा जायन्ते द्रव्यहारिणः।।१३।।
तदीयां तत्तपश्चर्यां सिद्धां वीक्ष्य तदा नराः।
आश्चर्यसागरे मग्नाश्चर्यां कुर्वन्ति सर्वतः।।१४।।
तदुद्वाहविधौ ते च कन्यापक्षात् समागतैः।
सपत्नीका रहोवार्तां कुर्वन्ति द्रव्यलालसाः।।१५।।
भूयसोऽन्याँस्तिरस्कृत्य कञ्चिदेव धनाढ्यकम्।
अनुगृह्णन्ति पर्याप्तधनद्वारैव दुर्धियः।।१६।।

ते दीनाः पितरस्तासां कन्यकानां सुखेप्सया।
अन्यायादर्जितं द्रव्यं वर्धयन्ति पुनस्तथा।।१७।।
विवाहात् पूर्वमेवात्र सुतप्रेरणयैव ते।
अङ्गुलीयार्पणव्याजात् कुसंस्कारं वितन्वते।।१८।।
अहो सम्मेलनं पूर्वं कन्यकावरयोरिदम्।
अनर्थबहुलं लोके क्लर्कास्तन्वन्ति सादरम्।।१९।।
विवाहे पुरुषैः साकं महिला अपि कुबुद्धयः।
पुंश्चल्य इव गच्छन्ति धिक्! कष्टं किमतः परम्।।२०।।
एकस्मै दिवसायैव परिवारस्य भुक्तये।
मितं प्रतिगृहीतं स्वं पात्रतां तामपेक्षते।।२१।।
यस्याः सम्प्राप्तये पुंभि ब्राह्मणैरेव केवलम्।
नित्यनैमित्तिकादीनि विधीयन्ते निरन्तरम्।।२२।।
कुलीनता यथाकालं संस्काराणां व्यवस्थितिः।
स्वाध्यायाभ्यसनद्वारा धर्मानुष्ठानशालिता।।२३।।
ज्ञातिभ्यो बान्धवेभ्यश्च स्वाश्रितेभ्यस्तथा पुनः।
अन्येभ्यो निर्धनेभ्यो वा द्रव्यसम्पादनं मुदा।।२४।।
गर्हणीयक्रियात्यागो मितव्ययपुरःसरम्।
परिवारपालनञ्चैव शुभदृष्टिवितानता।।२५।।
न्यायप्रियत्वमित्यादिपदार्थपिण्डतैव सा।
सत्पात्रता द्विजातीनां शास्त्रेणैव निगद्यते।।२६।।
सत्पात्रतागुणोपेता ये तेऽपि कन्यकापितुः।
स्वेच्छयैव प्रदत्तं स्वं नेच्छन्ति तपसः क्षयात्।।२७।।
सर्वथा भोगतः पूर्णा भ्रष्टा भ्रष्टक्रियास्तथा।
ग्रहीतुमेव वाञ्छन्ति सर्वस्वं बद्धमुष्टयः।।२८।।

नूनमेतेऽभिवाञ्छन्ति लोकत्रयमपीह वै।
प्राणार्पणेन साहाय्यं तदीयं साधयत्विति।।२९।।
किन्तु सम्बन्धिनोऽप्येते क्षुद्रकार्ये समागते।
यत्किञ्चिदपि साहाय्यं कर्तुं नेच्छन्ति पामराः।।३०।।
अहोऽत्र पशवो मूढा लोकाय स्वोपयोगिताम्।
साधयन्तो यथाकालमुत्सृजन्ति कलेवरम्।।३१।।
ऐते नराधमा नूनं स्वार्थसंसाधनोत्सुकाः।
लोकं प्रबाध्य मुञ्चन्ति भोगभुक्ताः कलेवरम्।।३२।।
तथा च पशुभिस्तेषां तुलनां ये प्रकुर्वते।
अपमानं पशूनान्ते वराकाणां वितन्वते।।३३।।
एतेभ्यस्ते गरीयांसो महापातकिनो नराः।
प्रायश्चित्तादिना ये वै शुद्धां दृष्टिं विचिन्वते।।३४।।
सर्वेषां पातकानां वै प्रायश्चित्तं विधीयते।
किन्त्वमीषां कृते किञ्चित् प्रायश्चित्तं न विद्यते।।३५।।
'वत्सरत्रितयं कुर्याद् नरः कृच्छ्रं विशुद्धये।
आत्मतुल्यं सुवर्णञ्च दद्याद् वा विप्रतुष्टिकृत्।।
हिरण्यदानं गोदानं भूमिदानं तथैव च।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि'।। इति। क. ८.६।
इत्याहतु र्गाधिपुत्रः कश्यपश्च महामुनी।
महापातकिनां पापप्रायश्चित्तविधिं पुनः।।३६।।
विष्णो र्भव्यवचः पुंभि र्हृदि सर्वै र्निधीयताम्।
'अश्वमेधेन शुध्येयु र्महापातकिनस्त्विमे।
पृथिव्याः सर्वतीर्थानां तथानुसरणेन वा'।। इति।
(वि. ३५.६)

एवमेव मुनिः शङ्खः प्रायश्चित्तं ब्रवीति वै।।३७।।
'नित्यं त्रिषवणस्नायी कृत्वा पर्णकुटीं वने।
अधःशायी जटाधारी पर्णमूलफलाशनः।।
ग्रामे विशेद् वा भिक्षार्थी स्वकर्म परिकीर्तयेत्।
एककालं समश्नानो वर्षे द्वादशमे गते।।
रुक्मस्तेयी सुरापश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
व्रतेनैतेन शुध्यन्ति महापातकिनस्त्विमे'।। इति।
(श. १७.१.३)

ननु पातकिनामेतत्प्रायश्चित्तक्रियाविधिः।
विशुद्धये कथन्न स्यात् तेषां दुष्टधियामिह।।३८।।
विष्णो र्मायागृहीतत्वात् तमिस्रागह्वरस्थिताः।
यदि शाठ्यपरास्ते स्युस्तेषां दोषः कथं ततः।।३९।।
मैवं वोचः! यतस्तेऽत्र धर्मदृष्टिपराङ्मुखाः।
पश्यन्ति स्वास्थ्यहेतुत्वं नित्यसिद्धव्रतादिषु।।४०।।
अतो रोगसमाक्रान्तास्तत्र गच्छन्ति सादरम्।
मूढान् वञ्चयितुं यत्र योगाभासो वितन्यते।।४१।।
संसारव्याधिभीतानां भोगतो दूरचेतसाम्।
धार्मिकाणां कृते यद्वै मुनिना शास्त्रमीरितम्।।४२।।
योगशास्त्रं तदेवाद्याधारीकृत्य नराधमाः।
भोगदुष्टान् समाहृत्य शिक्षयन्ति कुपद्धतिम्।।४३।।
शुक्राकर्षक्रियाव्याजात् सेवन्ते सुन्दरीरपि।
ये खलास्तेऽपि जानीयुः कथं योगस्य सद्गतिम्।।४४।।
निगदन्ति त एवात्र योगो भोगश्च तावुभौ।
करस्थावेव विद्येते तेषामेवं य आसते।।४५।।

मा भूत् सा तत्त्वदृष्ट्याऽत्र योगसेवा कुयोगिनाम्।
स्वास्थ्यलाभफलत्वेऽस्या उपयोगो न दुष्यति।।४६।।
मैवं वादी र्यतस्तत्र शिबिरे योगशिक्षकः।
धर्मशास्त्रमतिक्रम्य ब्रूतेऽनर्थपरा गिरः।।४७।।
'नैव धर्मा भवेयुस्ते वर्णानाश्रित्य ये स्थिताः।
तानुन्मूलयितुं यूयं वर्णानेव निकृन्तत।।४८।।
प्रणवादि र्भवेद् वेदो गायत्री यत्र चोदिता।
प्राणायामेषु सैवास्ति योगस्तैरेव राजते।।४९।।
स योगः सर्ववर्णेषु समाविष्टः प्रदृश्यते।
तस्माद् वेदो भवत्येव पृथिव्यां सार्ववर्णिकः।।५०।।
एवं सत्यपि यैरेव वेदाच्छूद्रा बहिष्कृताः।
ते धूर्ता ब्राह्मणा ज्ञेया ऋषयोऽपि पुनः पुनः'।।५१।।
इत्येवमादयो दुष्टा वाचो मूर्खैः कुयोगिभिः।
शिविरेषु निगद्यन्ते हिरण्यादे र्बुभुक्षुभिः।।५२।।
निरीहाणामुपेक्षातः सुतेषु व्ययशालिनाम्।
पापमेव तदत्यन्तं विवाहे धनहारिणाम्।।५३।।
नयत्यपूर्णभोगानां सन्निधिं तान् कुयोगिनाम्।
येन ते पूर्णतो भ्रष्टाः पतन्ति निरयेऽशुचौ।।५४।।
वरं प्राणपरित्यागो रोगैः पापस्य पाचकैः।
न तु स्वास्थ्यस्य लाभाय सङ्गमो दुष्टयोगिनाम्।।५५।।
किन्तेन स्वास्थ्यलाभेन संस्कारोच्छेदकारिणा।
जीवनेनापि किन्तेन यत्र भोगप्रधानता।।५६।।
ते मयांऽद्याऽनुयुज्यन्ते वर्णधर्मप्रदूषकाः।
व्यायामस्यैव योगत्वं वदन्तः स्वार्थसाधकाः।।५७।।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
इत्येवं ये यमाः प्रोक्तास्तथा शौचं तपः पुनः।।५८।।
स्वाध्यायाभ्याससन्तोषौ तथेशप्रणिधायिता।
इति ये नियमाः प्रोक्ता मुनिना तत्त्वगामिना।।५९।।
तान् सर्वान् सेवमानस्य स्यादुत्तरेष्वधिक्रिया।
तेभ्योऽथवा विरक्तस्येत्यन्त्यः पक्षो न युज्यते।।६०।।
तदाम्नानस्य वैयर्थ्याद् योगशास्त्रे पतञ्जलेः।
आद्ये तु भवतामेव मर्यादोच्छेदशालिनाम्।।६१।।
त्वद्भक्तानां तथा भोगसंग्रहव्यवसायिनाम्।
अधिकारस्य विच्छेदो दुग्धे तक्रमिवापतेत्।।६२।।
त्वय्यहिंसा कथन्नु स्यात् पीडयेद् यो महात्मनः।
धर्मशास्त्रतिरस्कारैः सत्यसम्भावना कुतः।।६३।।
विद्वत्परम्पराद्वारा ब्राह्मणत्वे सतीह वै।
शास्त्राण्यधीत्य तथ्यं यो ब्रूते सत्यं वदेदसौ।।६४।।
अन्तरेणाधिकारं यः शास्त्रमप्यन्यथा वदेत्।
लोकान् वञ्चयितुं नूनं कथं स सत्यमाश्रयेत्।।६५।।
अस्तेयमपि नैवं स्याद् ब्रह्मवृत्तिहरस्य ते।
शूद्रत्वादेव योगिन्! ते ब्रह्मचर्यं कुतो भवेत्।।६६।।
कोटिमुद्रा हरेद् यो हि स चेत् स्यादपरिग्रही।
व्याघ्रोऽपि मांसमुत्सृज्य फलाहारी भवेत् ततः।।६७।।
नियमानां यमव्याप्ते स्तदभावे कुतः स्थितिः।
एवञ्चोभयशून्यत्वादुत्तराङ्गेषु शून्यता।।६८।।
निश्चीयते ततः सिद्धा लोकवञ्चनधूर्तता।
अहो धूर्ता निगद्यन्ते योगमार्गोपदेशकाः।।६९।।

धर्मान् वर्णाश्रमस्थान् तानुपेक्ष्य न प्रतिष्ठते।
योगोऽष्टावयवोपेतस्तस्मात् तान् दूषयन्नसौ।।७०।।
भोगिव्यायामशिक्षायां रतो द्रव्याभिलाषुकः।
योगं सन्दूषयेदेव यन्नाम्ना द्रव्यमीप्सति।।७१।।
नन्वत्रभवता कस्मादुच्यते योग आत्मनः।
सिद्धावपेक्षते वर्णाश्रमधर्मान् क्रमादिति।।७२।।
मूढबुद्धे! शृणुष्व त्वं ब्रह्मचर्यं यमेषु यद्।
वेदाध्ययननाम्ना तच्छास्त्रेणैवाभिधीयते।।७३।।
एवञ्च ब्रह्मचर्येऽस्मिन् त्रयो वर्णा द्विजातयः।
नियुज्यन्ते सदा वैदैरुपनीताधिकारतः।।७४।।
स्वाध्यायो नियमेष्वेवं गण्यते यो मनीषिभिः।
अधीतस्यैव वेदस्याभ्यासः सोऽत्र निगद्यते।।७५।।
स्वाध्यायाभ्यसनञ्चैवं संन्यासेष्वपि युज्यते।
पतेयुरन्यथा सर्वे परिव्राज इतीरितम्।।७६।।
एवञ्च शूद्रजातीनां स्वधर्मपरिशीलनम्।
योग इत्युच्यते प्राज्ञैस्तद्भ्रष्टास्तु पतन्त्यधः।।७७।।
ततश्च मूर्खतोपेतान् भोगिव्यामामशिक्षकान्।
सेवन्ते ये कुसंस्कारव्यामोहितधियोऽधमाः।।७८।।
तेषां वकैकवृत्तीनामुपकारापेतचेतसाम्।
संवेदनाविहीनानां पापराशेरसंक्षयात्।।७९।।
अधर्मे धर्मबुद्धित्वात् प्रपुष्टदुरितान्यहो।
कुलोच्छेदकराण्येव सन्तीति गम्यते बुधैः।।८०।।
एतान् गृहादिसंसक्तान् कूपमण्डूकधर्मणः।
दृष्ट्वा भूयिष्ठकल्पानां मतिः शुद्धैव दृश्यते।।८१।।

अहो सौभाग्यमेतेषां पुत्राद्युन्नतिकारिणाम्।
यत्तपस्याबलेनैव सुताः सर्वे व्यवस्थिताः।।८२।।

यद्येते निजकन्यानां विवाहे मुक्तपाणयः।
तदा पुत्रसमुद्वाहे लक्षाणां दशकं कियत्।।८३।।

लक्षाणां त्रिंशतापीह गृह्णीयुः कन्यका यदि।
कन्यासौभाग्यसम्पत्ते र्न्यूनतैव प्रतीयताम्।।८४।।

किं किं न साधितं त्वेतैः पुत्रवृद्ध्यै महात्मभिः।
संसाराद् दृष्टिमाकृष्य जीवनं स्वं तृणीकृतम्।।८५।।

धन्याः पुत्राश्च पुत्र्यश्च यत्पितरः सत्त्वमात्मनः।
तृणीकृत्य प्रवर्तन्ते तत्समृद्धिसमीहया।।८६।।

इत्येवंकल्पनामूढाः शिष्टा अपि कदाचन।
तत्सुतोद्वाहकर्मादौ प्रवर्तेरन्नत स्त्विह।।८७।।

तत्प्रवृत्तिव्युदासाय कन्यकोद्धरणाय वा।
विचारोऽयं मयाऽऽरब्धः शिष्टास्तुष्यन्तु साम्प्रतम्।।८८।।

येषां कुटुम्बदृष्टीनां हीनोपेक्षाविधायिनाम्।
देहत्यागे तदीयास्ते पुत्रा उद्यमशालिनः।।८९।।

कपोतादे र्निवासाय न्यासिनां भवनान्यहो।
विनिर्माय पितु र्नाम न्यस्य स्वस्था भवन्ति च।।९०।।

न दृष्टिं चालयन्त्यद्धा यत्र सन्ति सुदुःखिताः।
कार्यं तदेव कुर्वन्ति पितृभि र्यत् कृतं पुरा।।९१।।

तेषाममोघपापानां नराणां पुत्रहस्तयोः।
कन्यादानं भवेन् नूनं ग्राहवक्त्रे शशार्पणम्।।९२।।

अदत्ता सा भवेत् कन्या दरिद्रायाथवा पुनः।
दत्ता स्याद् न पुनस्तस्मै दुष्टपुत्राय दीयताम्।।९३।।

येषां संस्कारवान् पुत्रो दीनोपकृतिकारकः।
नित्यादिकर्मजातेषु लग्नो वा शीलरक्षकः।।९४।।
तेषामेव च पुत्राय दत्ता कन्या भवेदिह।
धर्मप्रजाप्रतानाय नान्येषान्तु कदाचन।।९५।।
ननु संस्कारहीनानां पुत्रेभ्यस्तादृशां नृणाम्।
कन्या चेद् दीयते सम्यक् तदा दोषो न विद्यते।।९६।।
ओमिति ब्रूमहे ब्रह्मन्! मा भूच् चिन्ताकुलो भवान्।
न्यायतो लभ्यते सर्वं यद् भवानाह निर्भरम्।।९७।।
नरास्तथाविधा अत्र कन्यानां पितरः सदा।
समानानेव सम्बन्धुं वाञ्छन्ति हतदैवताः।।९८।।
तथापि कृपया कश्चिद् धार्मिकस्ता यथाविधि।
अकिञ्चना विधायैव सत्पुत्रेभ्यः प्रयच्छतु।।९९।।
कन्यकानां स्वभावो हि स्वाश्रयं प्राप्य तिष्ठति।
दुष्टाश्रये भवेद् दुष्टः शिष्टे तु शिष्टतां व्रजेत्।।१००।।
'यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्रीः सम्बध्येत यथाविधि।
तादृग्गुणा भवेत् सा वै समुद्रेणेव निम्नगा'।।
आहैतत् स ऋषिश्रेष्ठो वशिष्ठोऽपि महामुनिः।
तस्मात् कन्या गुणोत्कर्षशालिने दीयतामिति।।१०१।।

प्रयोजनमत्र पूर्वाधिकरणोक्तमेव।

इति पातित्यपेटिकायामष्टादशमपेक्षितजनोपेक्षापूर्वक-
स्वकुटुम्बपरिपोषणमात्रदृष्टिपुत्राणामपि शिष्टैः
कन्याप्रदानेनाग्राह्यत्वाधिकरणम्।।१८।।

●

अथैकोनविंशं वैष्णवेष्वारूढपतितानां सम्प्रदायव्यवस्थापनाधिकरणम्

वैष्णवसमाजे समागत्यापि विकर्मव्यासक्त आरूढपतित इत्युच्यते। वैष्णवशिष्टविगर्हितास्त्याज्या भवन्त्यारुढपतिता इति प्रागेवावोचाम। एतेषामवस्थानं क्वेति विचारयितुमवशिष्यते। किमेतेऽत्र धिक्कृताः पुनस्त्रयीविरुद्धं पाखण्डप्रधानमेव पन्थानं विशेयुरुत भवति कश्चिदपरः पन्था यत्रैते सप्रतिष्ठमासीरन्निति? किन्तावदत्र प्राप्तम्? त्रयीविरुद्धं पाखण्डप्रधानमेव पन्थानमेते विशेयुरिति। कुतः?

सन्मार्गान्तरशून्यता जगति चेद् भ्रष्टा इमे वैष्णवा
भूमौ संस्थितिकाङ्क्षिणो हतधियः शिष्टैरहो न्यक्कृताः।
बुद्धाद्यान्तरकल्पितेषु गहनध्वान्तेषु नेयुः कथम्?
यत्रोद्भिन्नमनोरथाः करतले कुर्वन्त्यभीष्टानिव।।१।।

यन्मार्गेषु विगर्हितानि विकृतप्रायाणि कर्माण्यहो
बौद्धाद्यैरिह निर्विवेकमनसा धर्मत्वबुद्ध्या सदा।
सेव्यन्ते श्रुतिबद्धसाधुमतिभि र्दूरीकृता दुर्जना-
स्तान् सर्वानुपयान्तु सम्यगिति वै प्राप्ते वयं ब्रूमहे।।२।।

सिद्धान्तः

सर्वं तद् भवता प्रभाषितमिदं तथ्यं भवेद् भारते
यद्यर्शोरुजि पूरुषे विकलतावत् स्यान् न सत्पद्धतिः।
सन्त्येवात्र तथाविधा भगवतो भक्तिप्रधाना इव
मार्गा यत्र समानसत्कृतिधरो भ्रष्टोऽपि विभ्राजते।।३।।

नूनं तत्र च भोजनादिकविधौ सद्वद् विवेकस्तथा
वार्ता शिष्टतया शरीरशुचिताविप्रुट् च नो दृश्यते।
मल्लापूपसमृद्धभोज्यमुदरे गच्छत्यहो प्रायशो
यत्राभाति पलाण्डुकन्दलशुनोद्दीप्तं कटु व्यञ्जनम्।।४।।

दृश्यन्ते खलु धूमपानरसिका दीर्घोग्रकूर्चप्रिया
रक्ताक्षाः कटुभाषिणोऽपि सदयास्तत्रैव दिग्वाससः।
एवम्भूतविधा अपीह किल ते विष्णोः सपर्याशयाः
सोल्लासं विहरन्ति भूमिपटले बिभ्रद्विभाषा इव।।५।।

तेषामान्तरतोषपोषणविधौ सत्सङ्गमञ्चा इह
रच्यन्ते किल यत्र मूढजनता आयान्ति मुष्टा इव।
तत्रैते प्रियभाषिणो भगवतश्चर्चामिषेण ध्रुवं
स्वीयोत्कर्षमुदाहरन्ति वितरद्धासावलेहा इव।।६।।

सन्तः प्राक् तदनु स्थिति र्भगवतो भूलोक आभासते
यस्माद् गेहविरागभावरसिकाः सन्तो वयं सादरम्।
सत्तां तस्य विभावयाम इह वै तस्माद् भवन्तः सदा
सेवन्तामतुलान् सतः सत इति व्याख्यान्ति तत्रैव ते।।७।।

एवन्तेऽतिपवित्रतामुपगतान् गार्हस्थ्यभाजो जनान्
पृष्ठस्थान् प्रविधाय ताश्चटुगिरः संश्रावयन्तो मुदा।
अत्युच्चै र्विहसन्ति हास्यकणिकास्तन्वन्ति शास्त्राण्यपि
स्वेच्छाचारपरम्परापरतया जल्पन्ति गायन्ति च।।८।।

तेषां भव्यनिकेतने खलधियः प्रायः कुतर्कोन्नताः
पुष्टाः पुष्टिविधायिभि र्बहुविधै र्भोज्यै र्भ्रमद्मस्तकाः।
दृश्यन्ते दयनीयदूनमनसः सत्साधवोऽपि क्वचिद्
यत्सम्यक्-प्रभयैव धूर्तनिचयः क्षम्यापराधो भवेत्।।९।।

श्रीमद्भक्तिविधादरा अपि च ते यद्यप्यहो तन्वते
नानालोककथापरातिरसिका वाचो जनानां प्रियाः।
इत्थं वा धनसंग्रहव्यसनिनः शिष्टप्रयुक्ताः शिवा
वार्ता वीक्ष्य समुद्विजन्ति कृपणाः सूर्यादुलूका इव।।१०।।

तानेतान् परितस्त एव धिषणाशून्या निरस्तादरा
राजन्ते खलु ये सदैव बहुधा चाटूक्तिसिद्धान्तराः।
एवं सत्यपि ते त्रयीशुभपथद्विड्व्राततः श्रेष्ठता-
सूचावेव समाविशन्ति भगवद्भक्तौ हि तेषां मनः।।११।।

अस्मद्भारतराष्ट्र एव विततान्यन्तर्मुदः सिद्धये
तीर्थान्याशु चरन्ति भीरुमतयस्तेष्वेव केचिन् नरः।
केचिद् निर्झरिणीतटैकगतयः शुष्कं तपः कुर्वते
तत्सर्वं च निभाल्य मूढमनुजै र्भूयो धनं दीयते।।१२।।

एतेषामधमे मते कपटताभाजोऽपि भुग्ना अपि
काषायाम्बरधारितागुणजुषः सन्तो भवन्त्यञ्जसा।
सन्तोऽपीह विपश्चितोऽपि न तथा गार्हस्थ्यदोषेण वै
भक्तास्तेऽपि भवन्ति ये धनमदप्रोत्तुङ्गगर्वानलाः।।१३।।

एतत्सज्जनमानसेषु करुणाविन्दु र्वराको भिया
नैवायाति यतो गभीरविषयेऽप्येते हसन्त्युद्धताः।
तस्मादेव च कारणात् प्रभुकथाव्यासान् विचिन्वन्ति तान्
ये हास्येषु भवन्ति पूर्णकुशला होलासु मत्ता इव।।१४।।

एवम्भूता महान्तो मरुदिव चपला यत्र घूर्णन्त्यपूर्णाः
शिष्टानाप्ताँश्च यत्र स्फुरदमितजटाः स्फीतधूर्ता हसन्ति।
यत्राहो दीर्घपङ्क्तौ व्यभिचरितगुणाः सर्वभक्षा भवन्ति
तस्मिन् वै सम्प्रदाये पुनरपि पतिताः स्वेच्छया ते विशन्तु।।१५।।

प्रयोजनमत्र पूर्वपक्षे त्रयीमार्गद्वेषिणां शाश्वतिकी सत्ता सिद्धान्ते तु सा नेति।

इति पातित्यपेटिकायामेकोनविंशं वैष्णवेष्वारुढपतितानां सम्प्रदायव्यवस्थापनाधिकरणम्।।१९।।

श्रीमत्प्राप्तप्रतिष्ठश्रुतनिचयजुषां पूज्यपादाम्बुजानां
सम्यक्सेवासु तुष्टः समयमयमहो धर्मवित्सिद्धमत्र।
मीमांसान्यायतत्त्वाकलनमुदमपि प्राप्य पातित्यपेटीं
कृत्वा विद्वत्सपर्याञ्चरति स कमलाकान्तनामत्रिपाठी।।

इतिश्रीमद्भार्गवगोत्रोत्पन्नश्रीशिवगोविन्दत्रिपाठिपौत्रश्रीउमाशङ्करत्रिपाठितनूजन्म-पण्डितप्रवरश्रीपट्टाभिरामशास्त्रिलब्धमीमांसाविद्याचार्यपण्डितकमलाकान्तत्रिपाठि-प्रणीता समाप्तेयं पातित्यपेटिका।।इति।।

पातित्यपेटिका
भाषान्तर

पातित्यपेटिका

मंगलाचरण

हम उस आनन्दरूप ब्रह्म की उपासना करते हैं, जिसका विग्रह सत् और चित् के आकार वाला है और जो सारे जीवों का शेषी (स्वामी) है तथा अखण्ड और सहज भी है। यहाँ अखण्ड और सहज शब्दों को आनन्द से जोड़ने पर अखण्डानन्द और सहजानन्द का भी सन्निवेश हो जाता है। इस प्रकार परब्रह्मपरमात्मा के साथ-साथ दो अन्य महापुरुषों की स्तुति भी एक पद्य से कर दी गयी है।।१।।

प्रजापति से प्रारम्भ हुई तथा मीमांसाभाष्यकार श्रीशबरस्वामी के मध्य वाली उस गुरुपरम्परा को नमस्कार है जो हमारे आचार्य तक चली आ रही है।।२।।

जिस महापुरुष के विशुद्ध सदाचार से बुद्धादि के अनुगामियों के कुमार्ग लीन हो जाते हैं उस मीमांसावार्तिककार श्रीमत्कुमारिलभट्टपाद को नमस्कार है।।३।।

श्रीभूमानन्दतीर्थ जी महाराज के निर्मल चरणरज के प्रभाव से जिन्हे सिद्धिप्रकर्ष प्राप्त हुआ है और जो प्रत्यक् चैतन्यरूप ब्रह्मदृष्टि रूपी आरे से सम्पूर्ण मायिक प्रपञ्च को ध्वस्त कर दिये हैं तथा जो पूरी पृथ्वी को ही मर्यादा से परिपूर्ण करने के लिए आविर्भूत हैं वे कल्पवृक्ष की तरह अपरिमित गुणों वाले श्रीअच्युतान्दतीर्थजी महाराज हैं।।४।।

सर्वथा दोषों से शून्य वैदिक विधियों से प्रकट होने वाले अपूर्वकार्य से सम्बन्धित धर्मक्रियाओं के उन उन जागृत तीर्थों में सावधान मन से प्रयोगानुर्वतन से जो इस संसार में गतिमान् प्राणियों की भव्यता के लिए ही लोकोत्तर (अलौकिक) हो गये हैं वे श्रेष्ठ महापुरुष श्रीविश्वनाथावधूतजीमहाराज सहृदयों के हृदय में सुशोभित हो रहे हैं।।५।।

अपनी सारी विधाओं से हम लोगों को शास्त्रों का अनुमान कराने वाले, पशुपति भगवान् शिव की तरह लोक में दिव्य दृष्टि धारण करने वाले अपनी अतिशयोपेत तपःश्री से सच्चिदानन्दरूप से व्यवस्थित श्रीभवानीनन्दनयति जी महाराज पृथ्वी पर उत्कृष्ट महापुरुष हैं।।६।।

श्रीमद्रामानुजाचार्य कौशलेन्द्रप्रपन्नाचार्य जी महाराज भी विद्वानों के हृदय में विराजमान रहते हैं। ये श्रीविष्णु भगवान् के चरणकमलों में प्रेम और विलीनता गुणों से आच्छादित और पुष्ट प्रपत्ति (शरणागति) के द्वारा अपनी शत्रुभूत बाधाओं को ध्वस्त कर दिये हैं तथा नरक की ओर जाने वाले, अशिष्ट, दुष्ट, अरिष्टभूत और धर्म से ही उदासीन खलों को अपने अप्रतिम प्रभाव से इतस्ततः प्रक्षिप्त भी कर चुके है॥७॥

प्रसिद्ध गुणगणों के उत्कर्ष से सम्पन्न, विशेषरूप से सुशोभित पूर्वोक्त इन सारे महापुरुषों के प्रत्यक्चैतन्य से अनुप्राणित श्री से समुपेत निर्मल मानस में जो सम्यग् रूप से समा गये हैं तथा सद्विद्या को उद्भासित करने के कारण तीनों लोकों में जिनका नूतन 'श्रीविद्याभास्कर' यह उपनाम सुशोभित हो रहा है और जो अपनी अद्भुत काव्यक्रियाओं से सुकवियों को भी नीचे कर दिये हैं वे अनन्तश्रीविभूषितचरणकमलवाले त्रिदण्डिस्वामीजी के स्वच्छ प्रसादावली से समुद्भासित अपने ललित श्रीविग्रह से दिशाओं के अन्तरालों को विद्योतित करने वाले तथा चकासित हो रहा हो भाग्य जिनका, ऐसे हम लोगों को सफल करने के लिए ही भूमिभाग में अवभासित होने वाले जगद्गुरु श्रीमद्रामानुजाचार्य-श्रीवासुदेवाचार्यजीमहाराज हरि के चरणकमलों में ही प्रेम रखने वाले उल्लसित हो रहे हैं॥८-९॥

इन वन्दनीय महापुरुषों के कृपासिन्धु के विन्दु मात्र से लब्धमनोरथ लोक में आयी यह पातित्यपेटिका सुशोभित हो रही है॥१०॥

इसके बाद अपनी तपस्याओं से भारत की समृद्धि का सम्पादन करने वाले महापुरुषों और अपने गुरुओं की शुभ स्तुति करता हूँ॥११॥

जिनका विग्रह विद्या से अवदात (निर्मल) है और अद्भुत योगशक्ति से समुद्भूत सकल सिद्धियों ने जिनके चरणों की उपासना की है, ऐसे श्रीमद्हरिहरानन्दसरस्वती जी महाराज करपात्रस्वामीजी को नमस्कार करता हूँ जो सारे लोक को ही धर्मों की ओर उन्मुख करने के लिए अवतार ग्रहण किये हैं॥१२॥

जो पर्याप्त वैभव प्राप्त करके भी निर्द्वन्द्वतया पुनः उसे मल की तरह त्याग कर दिये थे। इस प्रकार जिन्होंने 'यतीन्द्र' पद को स्वयं में निबद्ध किया था ऐसे स्वामिकरपात्रचरणकमलों को नमस्कार है॥१३॥

ऐसे श्रीमत्स्वामी करपात्र जैसे गुरु के चरणकमलों के पराग से ही जिनके हृदय में सारे शास्त्रों के शुद्ध पदार्थव्रात स्फुरित हुए हैं वे अपने समुल्लासित,

उदार तथा महान् अनुभावों से उपलक्षित श्रीसीतारामकविराज जी काशी में सर्वोत्कर्ष को प्राप्त हों।।१४।।

गुर्जरप्रान्तान्तर्गत नडियादनामक स्थान में अखण्डज्योति का विधान करने वाली साधु महापुरुषों से सम्पन्न श्रीसन्तराम की परम्परा विभ्राजमान हो रही है।।१५।।

राष्ट्र के सम्वर्धन में जो निरन्तर ही प्रयासरत रहते हैं तथा श्रीयोगिराज सन्तराम जी महाराज के जो उन्नत (विशाल) मनोहर हास ही हैं और विद्वानों के मन में सन्तोषाधान के लिए जो आर्यभाषा (संस्कृतवाङ्मय) को धारण एवम् परिपोषित भी कर रहे हैं, ऐसे श्रीसन्तराममन्दिर के महान्त श्रीरामदासजी महाराज रामदास जैसे ही हैं। (यहाँ अनन्वय अलङ्कार से उनके अन्य उपमा का व्यवच्छेद किया गया है तथा समर्थगुरुरामदास से तुलना भी है। इस प्रकार अनन्वय और उपमा के सङ्कर का यह मनोहर उदाहरण भी होगा।।१६।।

इस काशी में जो दया से समृद्धमन के कारण ही अतिगहन, गम्भीर ग्रन्थों के चिन्तन में निमग्न रहते थे तथा हम विद्यार्थियों के प्रति जिनका हृदय विशाल था, ऐसे विस्तृत श्री से सम्पन्न श्रीमद्गुरु शशिधरमिश्र जी को मैं सादर नमस्कार करता हूँ।।१७।।

जो साहित्यशास्त्ररूपी निर्मल सागर को पार करने वाले हैं तथा वैसे ही जो इस संसार में पदशास्त्र व्याकरण के भी ज्ञाता हैं, ऐसे अध्यापनकार्य के रसिक और रसिक सहृदयों से सदा सेवित होने वाले पूज्यपाद श्रीवायुनन्दन गुरुजी को शिर से नमस्कार करता हूँ।।१८।।

न्यायशास्त्र में निष्णात जो छात्रों को विद्यादान करके ही आह्लादित रहते हैं ऐसे हमारे पूज्यपाद श्रीवशिष्ठत्रिपाठीजी यहाँ सर्वोत्कर्ष को प्राप्त हो रहे हैं।।१९।।

न्यायादिशास्त्रों एवम् सकल वेदान्त विद्या से जो अपने मनोरथों को प्राप्त किये हैं, ऐसे अपने गुरुवर्य श्रीवैद्यनाथझा मैथिल महोदय की मैं वन्दना करता हूँ।।२०।।

सारे वटुओं का परिपालन जो अपने पुत्रों के समान सादर करते थे, ऐसे श्रीराजवंशीद्विवेदी जी की मैं स्तुति करता हूँ।।२१।।

बाल्यकाल में तन्द्राविहीन होकर जिन्होंने मुझे कौमुदी पढ़ाया, ऐसे अपने पितामहश्री श्रीशिवगोविन्दत्रिपाठी को नमस्कार करता हूँ।।२२।।

मतिमान् जैमिनि ऋषि के समान ही जो विद्योतित रहते थे तथा शास्त्रों में जिनकी अबाध गति थी एवम् वृद्धावस्था में भी जो अध्यापनकार्य करते थे, ऐसे अपने गुरुश्रेष्ठ पूज्यपाद श्रीपट्टाभिरामशास्त्रीजी को मैं नमस्कार करता हूँ।।२३।।

अपना सर्वस्व अर्पित करके भी वेदादिशास्त्रों के लिए उद्यम करने वाले पण्डितप्रवर श्रीडाह्याभाई पञ्चोली जी यहाँ मेरे हृदय में विराजमान रहें॥२४॥

अपने सम्प्रदाय की उन्नतभूमिका में प्रयत्नशील यतीन्द्रवर्य जगद्गुरु श्रीमद्रामानन्दाचार्य स्वामिश्रीरामेश्वरानन्दाचार्य जी महाराज सर्वोत्कर्ष को प्राप्त हो रहे हैं॥२५॥

स्वामिश्री अखण्डानन्दसरस्वतीजी महाराज की चरणश्री की सम्यक् उपासना से परमाह्लादित होने वाले स्वामीश्री ओङ्कारानन्दसरस्वतीजी महाराज मेरे हृदय में सुशोभित रहें॥२६॥

इन सारे उदात्त पुरुषों ने मेरे प्रति जो कुछ भी किया है उन सभी को हृदय में स्थापित करके तथा तत्त्व का विचार करके लोक में आयी यह पेटिका विद्वानों के प्रमोद के लिए शुभदक्षिणा के समान हो॥२७॥

●

अथ प्रथमं वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थापनाधिकरणम्

निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए उपदेशों का अतिक्रमण न करते हुए अलौकिक कान्ति से विभूषित आस्तिक महापुरुष निरन्तर भारतभूमि में ही दिखायी देते हैं। यद्यपि अन्य देशों में भी किसी न किसी रूप में धर्मपद व्यवहार में आता है तथापि अन्य देश की जनता धर्मानुष्ठान ही करती है, यह हम निश्चय से नहीं कह सकते क्योंकि उनके आचार का कोई मूल नहीं है। निर्मूल वस्तु अप्रामाणिक होती है। वहाँ भी धर्मबुद्धि से अनुष्ठीयमान आचार हैं ही तथापि उन आचारों को धर्म के तत्त्वों के जानकार धर्म के रूप में स्वीकार नहीं करते। शास्त्रमूलक जो वास्तविक सनातन धर्म है वह तो आज कुछ लोगों की दृष्टि में घुसे हुए कङ्कण के समान हो गया है। जो पामरजन अपने तुच्छ स्वार्थ को परिपुष्ट करने में मात्र लगे हैं उनका वेदबोधित कल्याण के साधन कर्मों में द्वेष ही दिखायी देता है। उन्हीं दुष्टों की कुत्सित दृष्टि से धर्म सामाजिक सौहार्द में काँटे की तरह हो गया है। जो धर्म ही नहीं है वह गुणों की खान होकर उनके हृदयकमल में विराजमान है। इस प्रकार की आधुनिकी विचार धारा को देखते हुए ही इस विचार को प्रस्तुत किया जा रहा है।

क्या वेदमात्र से जिसका परिज्ञान होता है, ऐसे वर्णाश्रमयोग्य धर्म से लोक की उन्नति का विध्वंस होता है या सुखसमृद्धि का विस्तार होता है? इसके लिए यह भी विचारणीय है कि धर्म के मूल वेद के पूर्णरूप से विनाश के लिए तथा वैसे धर्म के व्यवस्थापक वर्ण विभाग के ध्वंस के लिए प्रयास करना चाहिये अथवा उसके संरक्षण के लिए जीवन को भी अर्पित कर देना चाहिये। इस प्रकार का सन्देह ही कैसे उपस्थित हो गया? ऐसी अपेक्षा होने पर यह कहना ही उचित है—

दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के दिखायी देने से सन्देह का सामने स्फुरित होना स्वाभाविक है। दिखायी ही देते हैं कुछ वेद के विदूषक, वेद से बोधित सकल पदार्थों के स्वाभाविक शत्रु, गन्दे नाले के समीप बस्ती के मार्ग में घूमने वाले सूअरों के समान भारत के ही अङ्क में वर्तमान अन्न, जल, पवन से परिपुष्ट कुछ जन। कोई स्वभाव से ही मधुर व्यवहार वाले भगवान् में रति से सम्पन्न गुरुओं की श्रेणी की उपासना जिन्होंने कर ली है, शोभन-भव्य-मति से अलंकृत, सुन्दरी के विकसित दोनों स्तनों से प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए वक्षःस्थल में विराजमान मौक्तिक माला के

समान वसुन्धरा के वक्षःस्थल में अमूल्य भूषणरूप प्राप्त होते ही हैं। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध मार्ग को स्वीकार करने वाले जनों का अपने मत के पोषण और दूसरे के मत के निराकरण में अत्यधिक प्रयास भारत में देखा ही जाता है। अतः तात्त्विक दृष्टि के लिए विचार आवश्यक है। यहाँ पर यह पूर्वपक्ष है.....

वेद और वर्णाश्रमाचार का ध्वंस ही कर देना चाहिये। क्यों? दलितों के त्रास का मूल होने से, प्रायः पारस्परिक द्वेष का हेतु होने से, विभेद-दृष्टि की प्रधानता के कारण, लोक की परिसमाप्ति प्रसक्त हो जाने से, राष्ट्र की एकता और अखण्डता के भङ्ग हो जाने के कारण तथा राष्ट्र की समृद्धि को बाधित करने से।

वेदबोधित मार्ग से विना वर्णविभाग को स्वीकार किए एक पद भी जाना सम्भव नहीं। वर्णविभाग जब तक भारत में रहेगा तब तक संभ्रान्त एवम् समुन्नत वर्ण में उत्पन्न व्यक्तियों की विलक्षण ही मनोदशा रहेगी। अपने उत्कर्ष में ही लगे रहने वाले वे दलितवर्ग के प्रति शुभ दृष्टि नहीं रखते। दलितवर्ग के उत्कर्ष के विघात में ही वे लगे रहते हैं। इस प्रकार इस भारत में अत्यधिक संख्या में वर्तमान दलितों का त्रास सहज ही प्रतिष्ठित हो रहा है। इन सबका मूल वर्णाश्रमधर्मव्यवस्था ही है। वर्णाश्रमधर्मव्यवस्था के मूल में वेद ही है जैसे कौरवों के मूल में धृतराष्ट्र। सवर्णों का दलित जनता के प्रति अत्यधिक अत्याचार वर्णाश्रमधर्मव्यवस्था का ही प्रसाद है। इसी बात को अम्बेडकर कहते ही हैं—

मन्दिर प्रवेश की वैदिक धर्म को मानने वाले अस्पृश्यों को अनुमति नहीं देते। अस्पृश्यों का मन्दिर के निर्माण में तथा वहाँ भगवान् की मूर्ति की स्थापना में अधिकार नहीं है, ऐसा वैदिक बोलते हैं। आगरा में कोई चमार किसी ब्राह्मण को अपने घर में भगवान् नारायण की पूजा करते हुए देखकर अपने घर में वैसा ही करने लगा। जब ब्राह्मण को मालूम हुआ कि चमार अपने घर में भगवान् की पूजा कर रहा है तो क्रोध से आग बबूला होकर ग्राम्य पुरुषों को लेकर उस चमार के पास गया और उसे पशु के समान मारा और बोला—'विष्णु की पूजा करने की तेरी हिम्मत कैसे हुई? बाद में उसके मुँह में कीचड़ पोतकर ही उसे छोड़ा गया। हताश बेचारा वह चमार वैदिक मार्ग को छोड़कर मूसलमानों के मार्ग को स्वीकार कर लिया।''

इस प्रकार दलितों के त्रास का मूल होने से सनातन धर्म से लोक की उन्नति का विघात ही परिलक्षित होता है। अत एव उसे जड़ से उखाड़ फेकने का ही प्रयास करना चाहिये।

(देखिए—डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्णवाङ्मय खण्ड ९, पृ. ६६)

यही एक भारतीय शासकों का भी कर्तव्य होना चाहिये।

अपनी-अपनी उन्नति के लिए स्पर्धा प्राणिमात्र का स्वभाव है। कोई भी सचेता मानव किसी को पीड़ित न करता हुआ किसी भी मार्ग से यदि अपनी उन्नति चाहता है तब वह संसार का क्या अनिष्ट करता है? यदि ब्राह्मण अग्निहोत्रादि धर्म के अनुष्ठान से अथवा भगवान् की पूजा से लोकोत्तर सुख की इच्छा करता है तो उसी सुख की कामना से यदि कोई शूद्र ब्राह्मण जैसा ही आचरण करता है तो वह बेचारा कैसे तिरस्करणीय हो सकता है? यदि सारे मनुष्यों की आकृति एक है भोजनशयनादि व्यापार एक है तो उनके आचारों की भिन्न प्रणाली धर्मनिरपेक्ष शक्तियों को कम्पित करती ही है। यह वेद निश्चय से ही लोक में विद्वेष पैदा करने वाला है जो अपने द्वारा ही बोधित धर्मों में नियोजन के लिए पुरुषों की जाति की अपेक्षा करता है। सारे अनर्थों की जड़ यह जातिपरम्परा वेदों के बिना सत्ता में नहीं आयी। जातिविशेष को ही लेकर वेदों की प्रवृत्ति होती है। वेद के लिए और वेदबोधित धर्म के अनुष्ठान के लिए मनुष्य, विशेषतः सवर्ण जाति को वैसे ही परिपुष्ट करते हैं जैसे प्रजातन्त्र में घूस। ये लोग वर्णसाङ्कर्य से वैसे ही डरते हैं जैसे चाण्डालस्पर्श से। जिनकी वृत्ति संकुचित है, ऐसे पशुवत् जीवन व्यतीत करने वाले दीन हीन मानवों को अपने से दूर रखते हैं और उन्हें अशुभ मानते हैं। एक ही मानवजाति में इतना बड़ा विभेद का पहाड़ पारस्परिक विद्वेष को बढ़ाने में वैसे ही समर्थ है जैसे आग में संस्कृत घी की आहुति ज्वाला को बढ़ाने में समर्थ होती है। इस प्रकार वर्णाश्रमधर्म और उसका मूल वेद जब तक अत्यन्त विनष्ट नहीं होता तब तक समतामूलक समाज की संरचना सम्भव नहीं। वेद और तन्मूल वर्णाश्रमधर्म के विद्यमान रहने पर प्रलयपर्यन्त पारस्परिक विद्वेषरूपी दावानल को शान्त नहीं किया जा सकता। धर्मनिरपेक्षतावादी बुद्धिजीवी महापुरुष लोक के विनाश को देखते ही हैं। कैसे? वेद में भेददर्शन की प्रधानता होने से। अहो, यह वेद हर तरह से योग्यताशक्ति से सम्पन्न ब्राह्मण को ही मानता है। क्योंकि वह याजन-अध्यापन-प्रतिग्रह में ब्राह्मणों को ही नियुक्त करता हुआ दिखायी देता है। यद्यपि स्वाध्याय (वेद की अपनी शाखा) के अध्ययनक्रम से क्षत्रिय और वैश्यों को भी अग्निहोत्रादि धर्मों में नियुक्त करता है तथापि वह महानुभाव वेद याजनादि कर्मों में उन दोनों को अयोग्य ही समझता है। ज्योतिष्टोम को ही पहले आप देखें। देवताओं और ब्राह्मणों के लिए सोमरस-पान की व्यवस्था है। क्षत्रिय तो विचारा बटोह के रस से ही सन्तोष कर लेता है। वह सोमरस का अधिकारी नहीं। क्षत्रिय और वैश्य भी जब धर्मसम्बन्धी विद्या से सम्पन्न हैं तथा विद्या ही

अध्यापन और याजन में निमित्त है तो उन दोनों को अपने अधिकार से बाहर कर दे, यह कहाँ का न्याय है? परस्पर की सहायता करने से यद्यपि त्रैवर्णिक एकजुट् होते हैं तथापि शूद्र और अन्त्यजों की दुर्दशा कोई भी उदारचित्तवाला व्यक्ति कैसे देख सकता है। वे विचारे पशुओं से भी हीन गिने जाते हैं। उनके समीप सवर्ण रहना-सोना-खाना-पीना भी पसन्द नहीं करते। उनके जलाशय से जल निकालने पर वे दण्डित होते हैं। इसीलिए वे समतामूलक बौद्धधर्म, मोहम्मदधर्म, इसाईधर्म स्वीकार कर लेते हैं तथा लोकविनाशक वैदिक धर्म का त्याग कर देते हैं। कर्म के अनुसार ही वर्णव्यवस्था है।

यदि शूद्र भी ब्राह्मण की तरह संस्कारसम्पन्न होकर स्वाध्याय का अध्ययन करता है और धर्म का अनुष्ठान करता है तो वह ब्राह्मण के रूप में ही स्वीकार्य होना चाहिये। ब्राह्मण भी यदि हीन कर्म करे तब वह शूद्र ही माना जाय। वस्तुतस्तु प्रत्यक्ष न होने के कारण भी ब्राह्मणत्वादि वर्णों का विभाग नहीं है। इस प्रकार वर्णविभाग ही जब सिद्ध नहीं हुआ तो उनके लिए धर्मों का आम्नान करने वाले वेद और तन्मूलक सारे ग्रन्थों का नाश ही कर देना चाहिये। डा. अम्बेडकर भी ऐसा ही कुछ चीत्कार करते हैं—वेदादि सकल हिन्दू-ग्रन्थों में डायनामाइट लगाकर नष्ट कर देना चाहिये।

राष्ट्र की एकता और अखण्डता, जो प्रजातन्त्र की प्राणभूता है, वह बेचारी कैसे स्थिर रह सकती है जब तक वेद और वर्णविभाग को जीवित रहने के लिए जूस मिलता रहेगा। सर्वथा राष्ट्र की एकता-अखण्डता का भङ्ग ही हो जायेगा। एकतामूलक ही राष्ट्र की समृद्धि है, ऐसा नीतिशास्त्र के पण्डित कहते हैं। एकता का भङ्ग वेद ही करता है, इस प्रकार निश्चय ही वेद विषवृक्ष ही है। अतः वेद और उससे उदीयमान वर्णाश्रमाचारों का ध्वंस ही कर देना चाहिये। ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया जा रहा है—

सिद्धान्त

इन सारे दोषों की प्रसक्ति हो सकती है यदि वेद दोषों से युक्त होता। ऐसी स्थिति उन्हीं ग्रन्थों में सम्भव है जो मात्सर्यरूपी ग्राह से ग्रस्त हैं। हमारा वेद तो अपौरुषेय होने से सर्वथा दोषशून्य है। धर्म-अधर्म की व्यवस्था भी वेद से ही सम्भव है। वेदों के बिना धर्म-अधर्म की चर्चा भी करना बेकार है। शाक्य (बौद्ध) आदि दुर्मार्ग के प्रवर्तक जो दुष्ट बुद्धि पुरुष हैं, वे धर्म के मूल कैसे हो सकते हैं? क्योंकि वे क्षुद्र स्वार्थ से युक्त होने के कारण अव्यवस्था पैदा करने वाले हैं। जो सत्यादि साधारण धर्म हैं उनमें भगवान् वेद सारे मनुष्यों को ही नियुक्त करता है

जिससे वे कल्याण प्राप्त कर सकें। जो धर्म ब्राह्मणादि तत्तद्वर्णों के लिए उपदिष्ट हैं उनमें नरकप्राप्ति के लिए अन्य पुरुष कैसे नियुक्त होगा?

धर्मक्रिया के अनुष्ठान में वैदिकलिङ् जिसे विधि कहते हैं, ऐसा शब्द ही यदि विद्वान्, शिष्ट, ब्राह्मणादि तीनों वर्णों को नियुक्त कर रहा हो तो धर्म की व्याख्या करने वाले महर्षि उस विषय में क्या कर सकते हैं। ब्राह्मणत्वादि जाति प्रत्यक्ष है ऐसा श्रीमत्कुमारिलभट्टपाद ने तन्त्रवार्तिक में प्रयत्नपूर्वक सिद्ध किया है, अतः वर्णसाङ्कर्य किसी भी प्रकार से स्वीकार्य नहीं है। यदि जातिप्रथा के विनाश के लिए व्यभिचार से उत्पन्न होने वाले वर्णसाङ्कर्य को आप स्वीकार करते हैं तो निश्चय ही आप अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए अपनी नीचता ही प्रकट कर रहे हैं क्योंकि कोई भी साधु पुरुष ऐसा आचरण नहीं कर सकता। असाधु पुरुष ही ऐसा कुकर्म करता है। यदि आप सनातनधर्मविदूषक वेदमात्र से अवगत होने वाले धर्म के आचरण और अधर्म के त्याग से लोक का विनाश होगा, ऐसा कहते हैं तो निश्चय ही आप खल, स्तब्ध और शठ हैं। आप को वेदों में बहुत बड़ा दोष दिखायी देता है तथा शाक्य-दिगम्बर-मोहम्मदादि के कुत्सित ग्रन्थों में महान् गुण दिखायी देता है, इसमें क्या कारण हो सकता है, यही नितान्त विचारणीय है। क्षुद्र सत्तासुख के आस्वाद में मग्न नेता की नीचताग्रन्थि से प्रेरित, वर्णों में विद्वेष बढ़ाना ही इसका बहुत बड़ा कारण है। ऐसा करने से स्वाभाविक जो वेद के विद्वेषी हैं उनके मन को सन्तोष मिलेगा। हाय, इससे बड़ा कष्ट इस आर्यों के ही देश में क्या हो सकता है कि अल्पसंख्यकतावादी वेदों के विनाश के लिए चेष्टा करता है तथा शाक्यादिवेदविरोधियों के ग्रन्थों में अनन्त दोष होते हुए भी वह धूर्त मौन स्वीकार कर लेता है। शाक्यादिकों के ग्रन्थों की आलोचना करने का साहस ही उसमें नहीं हैं। आज वेदानुमोदित शिष्टस्मृति से उपदिष्ट राजधर्म का तिरस्कार करके कुत्सित मार्गों का अनुसरण करने वाले लोलुप जन ही वेदवर्णाश्रमाचार के दूषण में लगे हुए हैं। इसमें जो कारण पहले कहा गया उससे कोई दूसरा कारण दिखायी नहीं देता।

जो यह पूर्वपक्षी ने कहा कि वर्णाश्रमगत वेदोपदिष्ट धर्मों से दलितों का अत्यधिक त्रास होता है, इस पर मैं यह कहूँगा—

राजा प्रजा से कर लेता है तथा अपराधियों से भी दण्ड के रूप में उसे कुछ प्राप्त होता है। किसलिए? सर्वतोभावेन प्रजा की रक्षा के लिए। बलिष्ठ के द्वारा यदि हीन का त्रास हो रहा है तो राजा का ही कर्तव्य है कि वह उसे रोके। प्रजा को निन्दित कार्य करने को प्रेरित कौन करता है? इसका एकमात्र उत्तर यही

है कि राजा की धर्म से च्युति। राजा के अधार्मिक हो जाने पर ही हीनों का त्रास सम्भव है।

इस समय न्यायभङ्ग के लिए ही प्रजातन्त्र का विस्तार हुआ है जहाँ सभी मन्त्री अपने विशाल दोषों को प्रजा की मूढ़ता देखकर अन्यत्र आरोपित करते हैं। राजतन्त्र में यह बात नहीं है क्योंकि उसमें हमारा राजा सारे शास्त्रों के पण्डित निःस्पृह सत्पुरुष मन्त्रियों के द्वारा धर्मतत्त्व में नियन्त्रित होता हुआ अधर्म से जायमान प्रजात्रास को शीघ्र ही नष्ट कर देता था। इसीलिए सन्मन्त्रियों से ही राजा मनुष्यों के द्वारा माननीय होता रहा है। प्रजातन्त्र की स्थिति इससे विपरीत है जिसमें अपने-अपने स्वार्थ के लिए क्षुद्र जन्तु, प्रजा को ठगकर निजस्वार्थ के समाधान में ही तत्पर रहते हुए पामर, छोटे लाभ के लिए भी नीचतापूर्ण कर्म करते हुए, वैदिक मार्ग में लगे आर्य जनों को अपनी विलक्षण वाणी से भ्रमित करते रहते हैं। इस प्रकार यह भेद की नीति उनकी कामनाओं की सिद्धि के लिए ही कल्पित है जो पूरे राष्ट्र को ही नष्ट करने के लिए उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दिखायी देती है।

'षट्कर्मा ब्राह्मणस्तस्य त्रीणि कर्माणि जीविका'।

अर्थात्—'अध्ययन, यजन, दान, अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह' इन षट् कर्मों को करने वाला ब्राह्मण होता है। अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह (दानलेना) ये तीन कर्म उसकी जीविका है। तात्पर्य यह है कि यदि ब्राह्मण धनार्जन करता है तो उक्त तीनों कर्मों से ही करे। यह वस्तु वैदिकलिङ्ग से निर्गत न्याय से सिद्ध है जिसे नीचबुद्धि वाले हेतुओं का जाल बिछाकर दूषित करते रहते हैं। वे पापी यह नहीं जानते कि धर्म अलौकिक है। हेतुओं को स्वीकार करके बुद्ध-इसा-मूसा आदि अपने इष्ट की सिद्धि के लिए धर्म का उपदेश करते हैं। वेद में हेतु दिखायी नहीं देता। तात्पर्य यह है कि हेतुमूलक होने से किसी भी आचार का धर्मत्व ही समाप्त हो जाता है अर्थात् वह धर्म नहीं है। उसे अपने स्वार्थ के लिए धर्म के रूप में बुद्धादि उपदेश किये हैं। वेद में अहैतुक उपदेश होने से ही उपदिश्यमान अर्थ धर्म कहा जाता है। इसीलिए तो जिस अर्थ में कहीं भी लोभादि हेतु लब्ध होता है, न्यायतत्त्व के जानकार मनीषी उसे धर्म ही नहीं मानते। किसी भी कार्य में अपना लाभ देखने वाले क्या इस प्रजातन्त्र को नहीं देखते? जहाँ पर ऊँचे पद की प्राप्ति के लिए जो सांसद बलवान् है, उसके लिए अन्य सांसद अधिक द्रव्य या कोई महत्त्वपूर्ण विभाग लेकर प्रधान पद को छोड़ देते हैं। इस प्रकार प्रधान पद से वंचित सांसदों की स्थिति वैसी ही हो जाती है जैसी सुन्दरी को प्राप्त करके भी सुरतस्वाद से वञ्चित कामार्तों की होती है। प्रधानमन्त्री कोई एक ही बनता

है तथा अन्य सारे असन्तुष्ट ही रहते हैं। महाशय! यह सब क्या है? अपनी इष्टसिद्धि के लिए प्रतियोगियों को मार दिया जाता है। यही आप की गौरव से परिपूर्ण समतामूलक व्यवस्था है? जीवनपर्यन्त दरिद्र होता हुआ भी तथा अपार सम्पत्ति प्राप्त करके कैसे कोई मन्त्री बार-बार आनन्दित होता है। निश्चय ही आप के सुकृत्य से प्रजा का सुख बढ़ता है। विचारा वेद ही केवल प्रजा के त्रास को बढ़ाता है। खल, नीच पुरुष भी बलपूर्वक लोगों के अधित मत को प्राप्त करके मन्त्रिपद के लाभ से प्रसन्न होता हुआ प्रजा के प्रति व्याल की भाँति आचरण करने लगता है। उन्हीं नीच पुरुषों में ही कोई श्रेष्ठ शठ प्रधान पद को प्राप्त करके प्रजाओं के मध्य में मञ्चस्थ होकर प्रिय वाणी बोलने लगता है—

'अहो, यह प्रजातन्त्र धन्य है जिसमें शोषित होता हुआ भी मैं राजाओं का पद प्राप्त कर लिया हूँ आप सभी महानुभावों की कृपा से। उस धूर्तराज की फूलों से सजी हुई कामिनी की वेणी के समान वाणी की श्रेणी सुनकर प्रजा यह भूल जाती है कि यह मन्त्री उन्हीं के धन का अपहरण करता है, और वह विस्मित होकर सुप्रसन्नतया ताली बजाने लगती है तथा यह कहती हुई सुनी जाती है कि धन्य है यह प्रजातन्त्र। इसी प्रकार सारे के सारे जितने नरकगामी निम्नस्तर के पुरुष हैं वे सभी इस राष्ट्र में वर्गों में द्वेष फैलाने के लिए ही वेदोक्त धर्ममार्ग का बार-बार खण्डन करते हैं।

वस्तुतः भगवान् वेद सारे मानवों के प्रति श्रेयःसम्पत्ति के लिए शुभ दृष्टि ही चाहता है। इस प्रकार वेदों के अत्यन्त शुद्ध होने से, मर्यादा की स्थापना करने से, भारत का प्राण होने से, अपनी क्रिया के प्रति दृढ़ होने से, धर्म का एक मात्र मूल होने से सारी ब्राह्मणादि चण्डालपर्यन्त आर्य जनता का कर्तव्य बनता है कि वह सौहार्दपूर्ण भावना को आगे करके प्राणों का संकट होने पर भी वेद की रक्षा करे और विरोधियों को मुहतोड़ जवाब दे। लोकसंग्रह, यशःप्राप्ति इत्यादि ही जिसका प्रयोजन है, ऐसे सुगतादि के द्वारा प्रकट किये जाने वाले दुर्ग्रन्थ की तरह वेद नहीं हैं। अनादि गुरुपरम्परा से प्राप्त, सारे ऋषिगणों और शिष्टगणों के आदर को प्राप्त वेद हैं जिनका प्रामाण्य अन्यसापेक्ष नहीं है, ऐसा तर्कपाद में आचार्यों ने ठीक से उपपादन कर ही दिया है। वाक्य का अप्रामाण्य पुरुषदोषों से दुष्ट होने के कारण होता है। वेदों में पुरुषों का अनुप्रवेश तीन प्रकार से सम्भव है। पदपदार्थसम्बन्ध द्वारा, वाक्यवाक्यार्थसम्बन्ध द्वारा, महाभारतादि की तरह वेद के ही पौरुषेय होने से। इन सबका निराकरण तर्कचरण में है। अतः पुरुषानुप्रवेश से शून्य होने के कारण वेद का अप्रामाण्य कैसे हो सकता है जिससे उसके प्रति

अनाश्वास (अविश्वास) हो। इसीलिए वह भगवान् वेद पुरुषों को क्रियाओं में जैसे नियुक्त करते हैं वैसे ही नियुज्यमान वे फल प्राप्त कर सकते हैं, विपरीतक्रम से कथमपि नहीं। (लोक में पुरुषनियुक्ति में अन्यथाकरण सम्भव है। पक्षपात प्रान्तवाद जनपदवाद भातृभातृव्यवाद से दूषित अधिकारी अधिकार का उल्लङ्घन करके अन्यथा नियुक्ति करते हैं। चपरासी-क्लर्क की योग्यता वाला रीडर, प्रोफेसर की लाइन में है तथैव अच्छी विद्या से सुशोभित बाबू बना बैठा है। मैं सम्पूर्णानन्दसंस्कृत विश्वविद्यालय की ही बात नहीं कर रहा हूँ। हर जगह, भले ही संख्या न्यून हो, ऐसा देखा जा रहा है। यहाँ पर भी अधिकार का उल्लङ्घन सह्य नहीं। जो जहाँ नियुक्त है वह उसी कुर्सी पर रहेगा।) वेद तो सर्वथा निर्दोष है। उससे प्रश्न करना सम्भव नहीं कि वेद ऐसा क्यों करता है। वह तो सत्य-दानादि साधारण धर्मों में सारे मानवों को नियुक्त करता है। यदि ज्योतिष्टोमादि के विषय में त्रैवर्णिक विद्वानों को ही नियुक्त कर रहा है तो इसमें शूद्रों को क्लेश नहीं होना चाहिये। शूद्र यदि उस कर्म का आचरण करता है तो अत्यन्त अनर्थ की प्राप्ति उसे होगी। जहाँ अनर्थ नहीं वहाँ ऋषिगण वेदार्थ के उपबृंहणप्रकारों वाले पुराणादि से उनका उपकार करते ही हैं। कहा भी गया है—

'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः'।

ब्राह्मण को आगे बैठाकर चारों वर्ण पुराण सुनें, यह अर्थ है। वर्णों का विभाग संस्कारादि के द्वारा ही हो गया है, ऐसा नहीं कह सकते। वर्णविभाग के अनादि होने से। अन्योन्याश्रयदोष के कारण भी वर्ण विभाग अनादि है, ऐसा वार्तिकार का कहना है। संस्कारों के कारण वर्णों का विभाग तथा ब्राह्मणत्वादिविभाग के कारण ब्राह्मणादि का संस्कार यह अन्योन्याश्रय दोष है। अतः संस्कारादि के कारण विभाग न मानकर उसे अनादि ही मान लेना उचित है। ब्राह्मणादिमातापिता से यह पैदा हुआ, ऐसा ज्ञान ही जिसमें सहायक है, ऐसा प्रत्यक्ष ही ब्राह्मणत्वादिजाति में प्रवृत्त होता हैं। वार्तिककारमिश्र ने अर्थवादाधिकरण के प्रथम सूत्र में ही यह व्यक्त कर दिया है।

इन सारे युक्तिकलापों से यही सिद्ध हुआ कि मुट्ठी भर धर्म-निरपेक्षशक्तियों के द्वारा वर्णप्रविभाग के नाश का प्रयास सफाचट्ट मुण्ड में रेड़ी के तेल से घुँघराले बाल उगाने के प्रयास जैसा ही है। उन दुर्बुद्धियों का प्रयास व्यर्थ ही है अथवा सार्थक ही है, ऐसा प्रतीत हो रहा है। अन्यथा राष्ट्र का विनाश कैसे होगा? सनातन वैदिक मर्यादा त्यागकर वर्णसाङ्कर्य से राष्ट्र की समृद्धि होगी, ऐसा कौन सचेता विश्वास करेगा? शास्त्रों का अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह ब्राह्मण की ही

कार्यताकोटि में आता है। अब्राह्मण यदि वैसा करता है तो वह कल्पपर्यन्त कुम्भीपाकनामक नरक में पकता है। शास्त्र के बल से ही यह निश्चित होता है। इसीलिए धर्म के विषय में जिसका जहाँ अधिकार है उसे वहाँ ही प्रयास करना चाहिये, यही वेद का तात्पर्य है। त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को शास्त्र का अतिक्रम न करते हुए ही प्रवृत्त होना चाहिये। यदि सोमपान में ब्राह्मण को ही वेद अधिकृत कर रहा है, क्षत्रिय वटोह के रसपान में ही अधिकृत है तथा वेदवत् स्मृतिग्रन्थ भी वैसा ही प्रतिपादन कर रहे हैं तो धर्मनिरपेक्ष जीवों का अनवसर में ही मन में खेद हो रहा है जैसे भैंस के गर्भत्याग में पड़वा को गुह्यव्यथा। कष्ट की बात है कि त्रैवर्णिकों के प्रति अकारण ही अल्पसंख्यकों के मत को चाहने वालों का वैर है। कलह तो एक माता से उत्पन्न भाइयों में भी देखा जाता है। यदि प्रजाओं में परस्पर हो रहा हो तो उसका निवारण दण्ड से करना चाहिये। यहाँ पर वेद और तद्बोधित वर्णाश्रमधर्म का कोई अपराध नहीं। वेद और तद्गम्य धर्म की आलोचना के लिए हीनों के प्रति त्रैवर्णिकप्रयुक्त अत्याचार का उद्भावन वैदिकतामूलकतया कुछ लोग कर रहे हैं। उनके प्रति कहा जा रहा है—

वेदमात्र से बोधित धर्मों के अतिक्रमण से जो कदाचार लोक में होता है, चाहे वह दलितत्रास ही क्यों न हो, उसमें पूरा का पूरा शासक का ही दोष है। शासक जब अत्यधिक प्रमादी हो जाता है तब प्रजाओं में कदाचार होता है जैसा कि आज हो रहा है। उस कदाचार का प्रतीकार शासक को ही करना चाहिये। पृथ्वीतल में दण्ड प्रजापति के रूप में ख्यात है तथा दण्ड के भय से ही सारे पुरुष नैतिकता के अनुगामी होते हैं। दण्ड के प्रयोग को जानने वाला राजा निश्चय ही माननीय होता है अन्यथा उसका निवास नरक में होता है, ऐसा मनु ने कहा है।

'अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकञ्चैव गच्छति'।।

अर्थात् अपराधियों को दण्डित न करने वाला तथा निरपराध को दण्ड देने वाला राजा बहुत बड़ी अपकीर्ति प्राप्त करता है और नरक में जाता है। इन्हीं कारणों से वह राजा सन्मन्त्रियों से युक्त होकर अपना यथाशास्त्र कर्म करता हुआ महान् यशस्वी हुआ करता था। वही राजा जब नीच, दुरात्मा चाटुकारों से घिरा जाने लगा तथा कदाचार को स्वीकार किया तभी भ्रष्टाचार का प्रादुर्भाव हुआ।

'स दोषः सचिवस्यैव यदसत् कुरूते नृपः।
यान्ति यन्तुः प्रमादेन गजा व्यालत्ववाच्यताम्'।।

अर्थात् राजा जो कुछ भी असत् कार्य करता है वह सारा का सारा मन्त्री का ही दोष है। क्योंकि महावत के प्रमाद से ही हाथी व्याल कहे जाते हैं। इस प्रसन्न, गम्भीर्य गुण से गुम्फित सूक्ति के द्वारा विद्वत्श्रेष्ठ श्रीविशाखदत्त ने भी अपने मुद्राराक्षक नाटक में इसी पूर्वोक्त तत्त्व को व्यक्त किया है। साधु पुरुषों की निन्दा करने वाले, चुगुलखोरी में मग्न ये हरामी चाटुकार सद्‌गुणों से विख्यात शासक को भी अन्धा, निरङ्कुश बना देते हैं। उसी के प्रभाव से दुष्ट, बलिष्ठ पुरुषों के द्वारा दुर्बलों का त्रास आधिक्येन होता है। दुर्बलत्रास में धर्म किसी भी प्रकार से हेतु नहीं है। ऐसी स्थिति में भी वास्तविकता का तिरस्कार करके जो कुमार्गी वेद और वैदिक वर्णाश्रमधर्म की आलोचना करते हैं उनकी निश्चय ही भारत राष्ट्र के ध्वंस के लिए वैदेशिकों से गूढ़ सन्धि ही दिखायी देती है। पहले भी जो वेदादि के विदूषक दुष्ट नास्तिक थे उन सभी पापियों का बुद्धिमान् हमारे शास्त्रकारों ने निराकरण करके वैदिक धर्म की पताका भारत में फहरायी थी। आज भी आवश्यकता है कि न्याययुक्ति को ग्रहण करके मानव मात्र की शान्ति के लिए हमारे वैदिक शास्त्रज्ञ उन कुमार्गियों का निराकरण करें। तुच्छ शासकीय पद की प्राप्ति के लिए ही जो दुष्ट वैदिक धर्म को प्रदूषित करते हैं निश्चय ही वे भारत राष्ट्र को ही प्रदूषित करते हैं। अथवा वे वैदिकमार्ग में संलग्न पुरुषों के अस्तित्व का ही अपलाप करते हैं। ऐसा कार्य वे ही करते हैं, जिनको वेद से ही राष्ट्र की समृद्धि है, इसका पता नहीं है।

'व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति'।।

अर्थात् जिस लोक में आर्यमर्यादा व्यवस्थित हो तथा वर्णाश्रमधर्म सुस्थापित हो ऐसा त्रयी (वेद) से रक्षित लोक प्रसन्न ही रहता है, कभी दुःखी नहीं होता।

इस प्रकार से परम विद्वान् महात्मा कौटिल्य ने भी वेद से ही लोक की प्रसन्नता का आधिक्य है, ऐसा कहा है। एवम् सिद्ध हुआ कि वेद-वर्णाश्रम-धर्म का विखण्डन तुच्छ स्वार्थ के लिए पापिष्ठ ही करते हैं।

प्रयोजन

पूर्वपक्ष में राष्ट्र का विनाश करना तथा सिद्धान्त में पूरे भूमण्डल में भारत की अक्षय्य समृद्धि का संवर्धन ही अधिकरण का प्रयोजन सिद्धान्त पक्ष के स्थापन से ही स्पष्ट है।

इति पातित्यपेटिकायां प्रथमं वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थापनाधिकरणम्।।१।।

अथ द्वितीयं समुद्रयात्रायाः पातित्यप्रयोजकत्वाधिकरणम्

धर्म और अधर्म में विधि ही स्वतन्त्र रूप से प्रमाण है, इस तथ्य का बोध जैमिनि के 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस धर्माधर्म के प्रामाण्य के प्रतिपादक सूत्र में दो अवधारण के दर्शन से होता है। चोदना (विधि) प्रमाण ही है न कि अप्रमाण, इस अवधारण से चोदना के द्वारा ज्ञेय अग्निहोत्रादि धर्म ही हैं, न कि नहीं हैं, यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है। चोदना ही प्रमाण है न कि प्रत्यक्षादि, ऐसा अवधारण होने पर चोदना से बोध्य अग्निहोत्रादि ही धर्म हैं न कि बौद्धादिकों के द्वारा किया जाने वाला चैत्यवन्दनादि, चोदना से बोध्य न होने के कारण, यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार प्रमाणविधि के रूप में जैमिनि के पूर्वोक्त सूत्र को स्वीकार करने पर अर्थात् धर्म का स्वरूप और उसका विशेष भी सिद्ध हो जाता है। वेद के विधिभाग का प्रामाण्य स्वतन्त्ररूप से सिद्ध हो जाने पर विधि के साथ एकवाक्यता होने से अर्थवादभाग का और उसी के अङ्ग होने से मन्त्रों का भी प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।

विधि के द्वारा सिद्ध हो जाने पर भी धर्म पुरुषों के सामर्थ्य को देखते हुए उन-उन अधिकारिजनों के प्रति व्यवस्थित होते हुए भी युगविशेष में वर्ज्य हो जाते हैं। इसीलिए कि उन विशेष धर्मों में पुरुषों का सामर्थ्य ही नहीं रहता। यह तथ्य भी 'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी' इस वचन से निश्चित होता है। विधियों की प्रवृत्ति शक्तिमान् पुरुषों के ऊपर ही होती है, यह उक्त वचन का भाव है। कुछ पदार्थ अभ्यनुज्ञाविधि के विषय होने पर भी कलियुग में वर्जित होते हैं जैसे ज्येष्ठभ्राता की विधवा पत्नी में देवर के द्वारा पुत्र की उत्पत्ति। आचारपरम्परा में वर्तमान होते हुए भी स्मृतिशास्त्र से प्रतिषिद्ध कर्म धर्म नहीं कहलाते जैसे मातुलकन्या से विवाह आदि। इन सारी बातों का परिज्ञान जैमिनि के—

'अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्'।

इस सूत्र से होता है। तन्त्रवार्तिक में इसका विस्तार से निरूपण हुआ है। जिस आचार में अन्वेषण करने पर भी लोभादि कारणों का दर्शन नहीं होता वह आचार धर्म ही होता है और जहाँ लोभादिकारण दिखलायी देते हैं वह आचार धर्म नहीं होता। मातुलकन्या विवाह के समान ही समुद्रलङ्घी द्विज का प्रायश्चित्त हो जाने पर

भी कलियुग में ज्ञातियों के द्वारा स्वीकार भी धर्म नहीं हो सकता क्योंकि उस स्वीकृति में व्यामोहरूप कारण विद्यमान है। समुद्रयात्रा लोभादि के रहने पर ही सम्भव है। मातुलकन्या के साथ विवाह में भी यही स्थिति है। आज वायुयान से म्लेच्छों के देश में जाने की प्रवृत्ति द्विजों की होती जा रही है। आने पर उनके ज्ञाति भी उनका परित्याग नहीं करते।

इसीलिए इस विषय को लेकर संसार के भ्रम को दूर करने के लिए विचार किया जा रहा है—क्या समुद्र का लङ्घन करके पाश्चात्त्य देश में गमन पातित्य का कारण है या नहीं? इसी विचार के लिए उसके धर्मत्व और अधर्मत्व का भी विचार किया जायेगा। यह संशय कैसे हुआ? शिष्टत्व का अभिमान रखने वाले भी समुद्रलङ्घन करते हैं अत: संशय होना स्वाभाविक है। यदि समुद्रलङ्घन अधर्म होता तो शिष्टों की उसमें प्रवृत्ति क्यों होती? समुद्रयात्रा करने वालों का श्राद्धभोजन में निषेध है, अत: उसके अमर्धत्व का भी भान होता है। इस प्रकार संशय उपस्थित होने पर क्या प्राप्त हुआ? उच्यते...... वेद से प्रतिषिद्ध न होने के कारण तथा पूरे भूमण्डल में शास्त्रमूलक चारित्र्य के उपपादन के लिए ब्राह्मणों के लिए यात्रा की अभ्यनुज्ञा होने से एवम् विमान से यात्रा करने पर किसी भी प्रकार का दोष न होने के कारण और विश्वबन्धुत्व की सिद्धि होने से त्रैवर्णिकों के लिए समुद्रयात्रा अधर्म नहीं होगी और न ही पातित्य की प्रयोजिका होगी।।१-२।।

द्विज त्रैवर्णिकों की समुद्रयात्रा न तो अधर्म है और न ही पातित्य की प्रयोजिका अर्थात् त्रैवर्णिक समुद्रयात्रा से पतित नहीं होता। क्यों? वेद से अप्रतिषिद्ध होने के कारण। वैसा कोई वेद आज उपलब्ध नहीं होता जहाँ समुद्रलङ्घनविषयक प्रतिषेध दृष्टिगोचर हो। ऐसी अवस्था में यही बात सिद्ध होगी कि समुद्रयात्रा प्रतिषिद्ध नहीं है। तथा च, विशेष प्रयोजन को लेकर समुद्रयात्रा की कर्तव्यता बिना प्रयास के वैसे ही सिद्ध हो जाती है जैसे चाटुकारिता से अथवा धन के माध्यम से इस समय पदप्रतिष्ठा सिद्ध होती है। और भी, सर्वज्ञकल्प भगवान् मनु ने पृथिवी में विद्यमान पुरुषों को अपने-अपने चरित्र की शिक्षा के लिए ब्राह्मणों को निर्देश दिया ही है कि वे समुद्रलङ्घन करें। जैसा कि वे भगवान् कहते हैं—

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः'।।

अर्थात् इस भारत देश में उत्पन्न ब्राह्मण से पृथिवी के सारे मानव अपने-अपने चरित्र की शिक्षा लें। यह सब समुद्रगमन के बिना सम्भव नहीं। पृथ्वी पर हर जगह केवल वेद से ही बोध्य धर्म का विस्तार हो, इसके लिए समुद्रयात्रा

करनी ही चाहिये विशेषतः वैदिक ब्राह्मणों को। दूसरी बात यह भी है कि कलिवर्ज्य-प्रकरण में नौका से समुद्रयात्रा का प्रतिषेध ध्वनित होता है न कि विमान से। विमान से यात्रा करने में कोई दोष नहीं। जैसा कि वचन है—

'द्विजस्याब्धौ तु नौयातुः शोधितस्यापि संग्रहः'।

कलियुग में नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि कोई द्विज यदि नौका से समुद्रयात्रा कर लिया है तो लौटने के बाद प्रायश्चित्त हो जाने पर भी उसे अपनी विरादरी में सम्मिलित नहीं करना चाहिये। लोकभाषा में उसे कुजात काढ़ देना चाहिये, ऐसा ही अर्थ होगा। यह सब नौका (जलयान) से यात्रा करने वालों के लिए ही है।

इस प्रकार समुद्र के नौकातरण के योग्य होने पर अर्थात् उसको नौका से पार करने पर नाना प्रकार के विघ्न होने के कारण अधिक समय व्यतीत हो जाता है, ततः नित्यनैमित्तिक कर्मों का लोप अवश्यम्भावी है। कर्मलोप होने से पतित होने की सम्भावना रहेगी ही। उस पातित्य को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त भी अन्य युगों में उपपन्न हो जायेगा। कलियुग में इससे विपरीत स्थिति है क्योंकि अधिक काल तक नित्यादि कर्मों का लोप हो जाने पर इतना पाप मस्तक पर सवार हो जायेगा कि वह प्रायश्चित्त से भी क्षीण नहीं होगा। फलतः ज्ञातियों के द्वारा उसका त्याग भी उपपन्न हो जायेगा।

इस समय तो विज्ञान के चमत्कार से परिपूर्ण संसार में विशेष विमान से थोड़े ही समय में समुद्रलङ्घन करके अमेरिकादि देशों में जाया जा सकता है। अपने कार्यविशेष के लिए या धर्मप्रसार के लिए इसमें कोई दोष भी नहीं है, अतः करना ही चाहिये। इसको राष्ट्रियसमृद्धिसम्पादन का उपलक्षण समझना चाहिये। वैदेशिक मुद्रा का संचय राष्ट्र की विभुता के सम्वर्धन का कारण निश्चय ही है। जो जायेगा वह वैदेशिक मुद्रा लायेगा ही। ऐसा होने पर राष्ट्र की समृद्धि सर्वतोभावेन बढ़ेगी ही। इससे विश्वबन्धु की भी सिद्धि होगी। जैसा कि कहा गया है—

'अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान् तु वसुधैव कुटुम्बकम्'।।

अर्थात् यह मेरा है, यह दूसरे का है, ऐसी गणना क्षुद्रबुद्धि वाले करते हैं। उदारचरित पुरुष तो सारी पृथ्वी को ही अपना कुटुम्ब मानते हैं।

पहले पूरी पृथ्वी के परिपालक सार्वभौम राजा होते थे। उस समय उसी के शासन में पूरी पृथ्वी थी। उन राजाओं के वंश में पैदा हुए पुरुषों का वहाँ-वहाँ विभाग कर दिया गया ताकि शासन में सौकर्य हो। यह तथ्य पुराणों में प्रसिद्ध

ही है। अतः संकुचित दृष्टि का परित्याग करके अत्यधिक गुणों से परिपूरित समुद्र की यात्रा करनी ही चाहिये। जैसा कि द्विज, यतिजन तथा तथाकथितपीठों पर आसीन वैष्णव भी म्लेच्छादि देशों में जाते ही हैं। स्वामिनारायणसम्प्रदाय के आचार्य एवम् उनके द्वारा दीक्षित उनके साधु तथा पङ्क्तिपावन ब्राह्मण भी यथावसर जाते हैं और मनोवाञ्छित धन प्राप्त करते हैं। वे वहाँ जाकर धर्मोपदेश भी करते हैं। ऐसा करते हुए समुद्रपार वे भारत की महनीयता का भी प्रसार करते हैं। ऐसे लोग अपने ज्ञातियों से पूजित हैं। इनके ज्ञाति स्वप्न में भी इनको नहीं त्यागते। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि समुद्रलङ्घन से द्वेष करने वाले बेचारे पाखण्डी हैं। ऐसा पूर्वपक्ष स्थिर होने पर कहते हैं—

सिद्धान्त

कलिवर्ज्यप्रकरण के अनुसन्धान से समुद्रयात्रा में महान् दोष का निश्चय होता है। तन्त्रवार्तिकग्रन्थ में भी समुद्रयात्रा के त्यागपक्ष का ही सम्यक् परिपोषण है। कहीं-कहीं आज भी समुद्रयात्राविषयकप्रतिषेध सुनायी देते हैं। इन सारे कारणों से समुद्रलङ्घन अधर्म और पातित्य का प्रयोजक (जनक) है, यह बात सिद्ध होती है॥२-३॥

समुद्र की यात्रा करने वाला व्यक्ति यदि प्रायश्चित्त भी कर ले तो भी उसका परित्याग कर देना चाहिये, ऐसा कलिवर्ज्य प्रकरण में वर्णित होने के कारण समुद्रयात्रा पातित्य की प्रयोजिका है। दोष की अधिकता के कारण ही यह तथ्य निर्धारित होता है। जैसा कि हेमाद्रि में शातातप का कहना है कि कर्म से पातित्य होता है—

'कृते संभाष्य पतति त्रेतायां स्पर्शनेन तु।
द्वापरे त्वन्नमादाय कलौ पतति कर्मणा'।।

सत्ययुग में भाषण (वार्ता) से, त्रेता में स्पर्श से, द्वापर में अन्नग्रहण से तथा कलि में कर्म करने से पुरुष पतित होता है।

तथा च—

'त्यजेद् देशं कृतयुगे त्रेतायां ग्राममुत्सृजेत्।
द्वापरे कुलमेक न्तु कर्तार न्तु कलौ युगे'।।

अर्थात् पतित जिस देश में रहे उस देश का ही त्याग सत्ययुग में करना चाहिये। इसी प्रकार त्रेता में पतित के ग्राम का त्याग, द्वापर में पतित के कुल का त्याग होता है। कलियुग में तो केवल कुकर्मी पतित का ही त्याग होता है।

यहाँ पर धर्मतत्त्व के जानकार श्रीमदनन्तदेव कहते हैं कि कर्ता के त्याग का विधान होने के कारण उसका साक्षात् संसर्ग यथाप्राप्त नरक का हेतु है, यही निश्चित होता है। इस प्रकार समुद्रलङ्घनपूर्वक म्लेच्छदेश में जाने वाले जिस पुरुष का संसर्ग भी नरकप्राप्ति का हेतु होता है उस पुरुष के पतित होने के विषय में शङ्का ही नहीं करनी चाहिये। सारे श्रौत-स्मार्त कर्मों के अनुष्ठान से बहिष्कृत वह विचारा पाश्चात्य देश में जाने वाला पतित ही हो जाता है जैसे काम के आविर्भाव से मूर्च्छित कामी पुरुष स्त्री के कुचकलशों में पतित होता है।

बृहन्नारदीय में कलिवर्ज्य पदार्थों का इस प्रकार संग्रह है—

समुद्रलङ्घी का ज्ञातियों के द्वारा स्वीकरण, कमण्डलु का धारण, द्विजों का अपने से भिन्न वर्ण की कन्याओं में विवाह, प्रदत्त और अक्षत कन्या का पुनर्दान, श्राद्ध में मांस का दान, वानप्रस्थ आश्रम, देवर से पुत्रोत्पत्ति, मधुपर्क में पशु का वध, दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य, नरमेध, अश्वमेध, महाप्रस्थानगमन अर्थात् मरण हेतु युधिष्ठिरादि की तरह तीर्थों में प्रस्थान, गोमेध यज्ञ। इन सारे कर्मों को कलियुग में मनीषियों ने वर्जित किया है।

तथा च—हेमाद्रि में आदित्यपुराण के वचन भी मिलते हैं—

विधवा में सन्तान के लिए देवर का नियोजन, क्षतयोनि बाला का अन्य वर के साथ संस्कार, भिन्न वर्ण की कन्याओं का त्रैवर्णिकों से विवाह, आततायी ब्राह्मणों की धर्मयुद्ध के माध्यम से हिंसा, समुद्रलङ्घी द्विज का प्रायश्चित्त कर लेने के बाद भी ज्ञातियों के द्वारा संग्रह (स्वीकार), सत्रयागों की दीक्षा, कमण्डलु का धारण करना, महाप्रस्थानगमन, गोमेधयाग, सौत्रामणिनामक यज्ञ में सुरा का ग्रहण और यज्ञ में उसका संग्रह, अग्निहोत्रहवणी को चाटना और उसका परिग्रहण, निष्पन्न स्वाध्याय की सापेक्षता से अघ का संकोच, (आशौच में अग्निवेद से युक्त ब्राह्मण की एक दिन में शुद्ध होती हैं, एवम् केवल वैदिक की तीन दिनों में, अवैदिक की दश दिनों में, यह स्मृति से विहित मरणादि आशौच का संकोच कलियुग में वर्जित है। इस प्रकार कलि में दशाह से ही सभी ब्राह्मण शुद्ध होंगे), विप्रों के लिए मरणपर्यन्त प्रायश्चित्त का विधान, संसर्गदोष (पतित के साथ संसर्ग होने पर यद्यपि पातित्यदोष की प्रसक्ति नहीं होती तथापि नरकनिवृत्ति नहीं ही होती। अतः कलि में संसर्गी के लिए नरकनिवृत्ति हेतु प्रायश्चित्तादि रूप कोई निष्कृति नहीं है। न्यायानुशीलन से यही तथ्य यहाँ फलित है।) चोरी से अन्य महापातकों की निष्कृति (अर्थात् कामना से किये गये महापातकों में नरक की निवृत्ति के लिए कलि में कोई भी प्रायश्चित्त नहीं है।)

इन सारे क्रियाकलापों को महात्मा मनीषिमहापुरुषों ने लोक की रक्षा के लिए कलि के आदि में ही रोक दिया है।

यहाँ पर वेद में प्रतिषेध न होने से कोई दोष नहीं है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। इसीलिए कि साधु-धर्मज्ञ पुरुषों का समय (मर्यादाबन्ध) भी वेद के समान ही प्रामाणिक माना जाता है—**'समयश्चापि साधूनां प्रमाणं वेदवद् भवेत्'**।

ऐसी बात भी नहीं है कि समुद्रलङ्घन का प्रतिषेधक वचन वेदों में आज उपलब्ध ही नहीं है। 'नान्तमियात्, न प्रत्यन्तमियात्' इत्यादि प्रतिषेध वैदिकों से सुना ही जाता है। यहाँ कलि में वर्जित और भी कर्म उपदिष्ट हैं। जिज्ञासुओं को इनकी जानकारी हेमाद्रि महाग्रन्थों से कर लेनी चाहिये। यहाँ अब हम प्राकरणिक विधा पर पुन: लौटते हैं।

पूर्वपक्षी का यह कहना कि विमानविशेष से यात्रा में कोई दोष नहीं है, पूर्णरूप से अनुचित है। साध्यकोटिक यात्रा का यह निषेध है न कि साधनकोटिक यात्रा का, ऐसा हमारे उपाध्याय श्रीमनुदेवभट्टाचार्यजी का कहना है। तात्पर्य यह है कि समुद्र को लाँघकर म्लेच्छदेश की प्राप्ति में ही दोष है। उसकी प्राप्ति चाहे किसी भी साधन से हो। ऐसा निश्चय कहाँ से हुआ? श्रूयताम्! 'समुद्रयात्रास्वीकार:' इस वचन से सामान्यतया ही समुद्रयात्रा के प्रतिषेध का निश्चय हो रहा है। यह तीर्थनिमित्तक यात्रा का निषेध है जो कि 'तीर्थयात्रातिदूरत:' इस श्रीमाधवाचार्यजी के उदाहृतवचन से मूलभूत एक श्रुति की ही कल्पना में लाघव होने से निश्चित है। स्मृति का प्रामाण्य मूलभूत श्रुति की कल्पना के बिना मान्य नहीं होता, अत: सर्वत्र श्रुति की कल्पना करनी ही पड़ती है। अनेक श्रुति की कल्पना की अपेक्षा एक ही श्रुति की कल्पना लघुकल्पना होगी। इस प्रकार से यही सिद्ध होता है कि तीर्थ में जाने की इच्छा होने पर भी अतिदूर अर्थात् समुद्र के पार नहीं जाना चाहिये, यह निषेध है तब फिर दृष्ट धनादि के लोभ के मूल में रहते यात्रा का सुतराम् निषेध क्यों नहीं होगा? दूसरी बात यह भी है कि भारत में ही जब तीर्थ की इच्छा से कहीं अङ्गादि देशों की यात्रा होती है तब पातित्य की प्रसक्ति नहीं होती। वही यात्रा यदि लोभादि के कारण होती है तब पुन:संस्कार का विधान होने से पातित्य का बोध होता है। ऐसी अवस्था में हर प्रकार से भ्रष्ट पुरुष जहाँ निवास करते हैं, ऐसे म्लेच्छदेश की यात्रा से व्यक्ति पतित नहीं होगा, यह सोचा भी नहीं जा सकता। जैसा कि कहा गया है—

'अङ्गबङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना यान: पुन: संस्कारमर्हति'।।

इस पर भी यह आशङ्का कथमपि उचित नहीं कि बिना तीर्थ की इच्छा के, चरणों से अथवा बैलगाड़ी से यात्रा दोषावह है न कि विमान से या हनुमान् जी की तरह मानस की इच्छा से। तत्-तत्-म्लेच्छप्रधान देशों की प्राप्ति में ही दोष के होने से। इतनी विशेषता समझनी चाहिये। बिना तीर्थ की इच्छा के अङ्ग-बङ्ग आदि देशों की यात्रा के कारण जायमान पातित्य के ध्वंस का हेतु प्रायश्चित्त के रूप में पुनःसंस्कार का विधान है और संस्कारित हो जाने पर ज्ञातियों के द्वारा स्वीकार कर लेने में भी कोई अड़चन नहीं है। समुद्र का लङ्घन करते हुए म्लेच्छों से परिपूर्ण पाश्चात्य देशों की यात्रा से ऐसे पातित्य की प्रसक्ति होती है जिस पातित्य को दूर करने के लिए न तो कोई संस्कार है और ज्ञातियों के द्वारा स्वीकार का भी कोई आधार नहीं है। इस प्रकार समुद्रलङ्घी के लिए पुनः संस्कार और ज्ञातियों के द्वारा स्वीकृति, इन दोनों का अभाव सिद्ध हुआ। 'शोधितस्यापि संग्रहः' इस वचन से ऐसा ही निश्चित होता है।

इससे धर्मोपदेश के लिए और वैदेशिक मुद्रा को लाने से राष्ट्र की समृद्धि बढ़ाने के लिए समुद्रयात्रा अवश्य करनी चाहिये, यह पूर्वपक्षी का वचन भी खण्डित हो जाता है। तत्तद् देशों में निवास करने वाले म्लेच्छादि भारत में ही आकर अपने-अपने चारित्र्य को सीख सकते हैं तथा शूद्रादि के माध्यम से वैदेशिक मुद्रा की प्राप्ति सम्भव है। इस प्रकार त्रैवर्णिक को समुद्रलङ्घन के लिए कोई विवशता नहीं है, यह बात सिद्ध हुई। दूसरी बात यह भी है कि श्राद्ध में ऐसे लोगों के अधिकार के अभाव का प्रतिपादन पुराणादि ग्रन्थों में है जो पातित्य को द्योतित करता है। जैसा कि महाभारत में दानधर्मप्रकरण में श्राद्ध में त्याज्य लोगों का परिगणन है—

धूर्त, भ्रूण हत्या करने वाले, क्षय के रोगी, पशु का व्यवसाय के लिए पालन करने वाले, शिष्टों के उपदेशों का निराकरण करने वाले, ग्राम्यप्रैष्य (सेवक), सूदखोर, गायक, सारी वस्तुओं का विक्रय करने वाले, समुद्रयात्री और हस्तादि रेखाओं से भविष्य कथन करने वाले, राजा के सेवक, तेल का व्यवसाय करने वाले, कूट कर्म करने वाले, पिता के साथ विवाद करने वाले, जिनके घर में उसकी पत्नी का सेवन करने वाला उपपति हो, नीच कृत्यों के आरोपी, चोर, शिल्प से अपनी जीविका चलाने वाले, पर्वकार अर्थात् पर्व आदि में पूजादि कृत्य कराने वाले, चुगलखोर, मित्रों से द्रोह करने वाले, परस्त्रीगामी, व्रतहीनों को वेदादिशास्त्र पढ़ाने वाले, काण्डपृष्ठ (अपनी शाखा को त्यागकर दूसरों की शाखा से उपनीत तथा उसका अध्ययन करने वाले अथवा क्षत्रिय और वैश्य की जीविका अपनाने वाले), कुत्तों के साथ रहने वाले, कुत्तों से काटे हुए, परवित्ति (बड़े भाई

के रहते जो विवाह कर ले वह परिवेत्ता कहा जाता है तथा पूर्वज को परिवित्ति कहते हैं), चर्मरोगी, गुरुपत्नीगामी, कुशीलव (कर्षण-छेदन से जीविका चलाने वाले), मन्दिरादि के पुजारी, नक्षत्रजीवी, इस प्रकार के ब्राह्मण पङ्क्ति में भोजन करने के योग्य नहीं होते। यहाँ 'अपाङ्क्तेयाः' का पङ्क्ति में व्यवहार के अयोग्य अर्थ है।

अपि च—तन्त्रवार्तिक ग्रन्थ में श्रीभट्टपाद ने समुद्रयात्रा के त्यागपक्ष को ही स्वीकार किया है। इससे समुद्रयात्रा का अधर्मत्व और पातित्यप्रयोजकत्व दोनों ही ध्वनित होता है। समुद्रलङ्घन से त्रैवर्णिक यदि पतित नहीं होता तो सम्पूर्ण शास्त्रों के तत्त्वार्थ का करतलामलकवत् दर्शन करने वाले वार्तिककार ऐसा उपपादन कैसे करते? तथा हि—

बौधायन ने दक्षिण से पाँच और उत्तर से भी पाँच प्रकार की विप्रपत्ति (विवाद) को दिखलाया है। तात्पर्य यह है कि दक्षिण में जो पाँच प्रकार के आचार हैं उसे उत्तर वाले स्वीकार नहीं करते और उत्तर के पाँचों आचारों को दक्षिणात्यबन्धु स्वीकार नहीं करते। दाक्षिणात्य अनुपनीत के साथ, पत्नी के साथ तथा बासी भोजन करते हैं। इन तीनों के अतिरिक्त पिता की भगिनी की कन्या से तथा मामा की कन्या से विवाह करते हैं। उत्तर के शिष्टगण ऊन का विक्रय, सीधुपान, दोनों तरफ दाँत वाले पशुओं से क्रय विक्रय-व्यवहार, आयुध-सम्बन्धी-व्यवहार और समुद्रयात्रा इन पाँचों क्रियाओं को करते हैं। उत्तर और दक्षिण के ये विरुद्ध शिष्टाचार हैं। इन विरुद्ध शिष्टाचारों को प्रस्तुत करके उन्होंने पहले आपस्तम्बाचार्य के मत को प्रदर्शित कियां है। आपस्तम्बाचार्य तत्तद्देशों के अनुसार धर्म की व्यवस्था स्वीकार करके अन्यत्र दूषित होने की बात करते हैं—

'इतर इतरस्मिन् कुर्वन् दुष्यति नेतरस्मिन् देशप्रामाण्यात्'।

दूसरा व्यक्ति अन्यत्र करता हुआ दूषित होता है अपने में नहीं। इसीलिए कि देश के अनुसार ही प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि दाक्षिणात्य के लिए मातुलकन्या से विवाह यदि धर्म है तो वह औदीच्य के लिए अधर्म ही होगा। एवमन्यत्र भी समझना चाहिये। आपस्तम्ब के इस मत को उपस्थापित करके गौतम के मत से उनका खण्डन किया है—

'मिथ्यैतदिति गौतमः शिष्टस्मृतिविरोधात्'।

आपस्तम्ब के मत की उपेक्षा होनी चाहिये क्योंकि उनका वचन शिष्टस्मृति से विरुद्ध है। तथ्य यह है कि होलाकाधिकरणन्याय से देशभेद से धर्माधर्म की

व्यवस्था स्वीकार नहीं की जाती। धर्म सर्वत्र धर्म ही होगा और अधर्म अधर्म ही कहा जायेगा। उत्तर और दक्षिण के पूर्वोक्त सारे आचार अधर्म ही होंगे। फलतः उन आचारों में परिगणित समुद्रलङ्घन भी अधर्म ही सिद्ध हुआ। इसीलिए श्रीवार्तिककार ने इन सारे आचारों को दुराचार ही कहा है। इस प्रकार मातुल की कन्या से विवाह जैसे अधर्म है वैसे ही समुद्रयात्रा भी पातित्य की प्रयोजिका और अधर्म होगी, यह बात श्रुतिस्मृति के प्रतिषेध के बल से अनायास ही सिद्ध हो जाती है। इतने मात्र से द्रव्यादि के लोभ से म्लेच्छ देशों को जो अपनी कृति का साध्य बना लिए हैं वे आधुनिक सन्यासी, तथाकथित पीठों पर अपना स्थान जमाये वैष्णव, पङ्क्तिपावन विप्र पारलौकिक सकल फलों से विमुख होकर पतित हो जाते हैं। फलतः इनकी समुद्रयात्रा भी गर्हणीयता की कोटि में आ जाती है।

इसके बाद क्या होना चाहिये? उच्यते—

यही निश्चय हुआ कि यदि समुद्रलङ्घी के साथ अज्ञानतः संसर्ग हो जाय तो प्रायश्चित्त करके ही अधिकृत जनों को पारलौकिक धर्म का अनुष्ठान करना चाहिये, ऐसा न करने पर किया गया वह धर्म फलदायक नहीं होगा। फलप्रद न होने से वह धर्म ही नहीं होगा क्योंकि फलवान् ही धर्म होता है।

यदि मोह की जड़ता के प्रभाव से कोई बुद्धिपूर्वक समुद्रलङ्घी से संसर्ग करता है तब उसकी प्रायश्चित्त से भी शुद्धि नहीं हो सकती, यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है। इस विषय में कुछ संग्रहश्लोक भी परिगणित हैं जिनका यह भाव है—धर्म के ज्ञाता बुद्धिमान् यदि अपना कल्याण चाहता है तो वह समुद्रलङ्घी के संसर्ग को वैसे ही त्याग दे जैसे वृद्धावस्था में मैथुन का त्याग हो जाता है। धर्मानुष्ठान में लगे किसी भी पुरुष के लिए यह परम आवश्यक है कि वह यह पूर्वोक्त कार्य प्रयत्नपूर्वक करे क्योंकि शिष्टजन पतितों के साथ सङ्ग नहीं करते। मनीषियों को चाहिये कि वे दैव, पित्र्य, नित्य, नैमित्तिक, धर्म में अपने अधिकार की सिद्धि के लिए भ्रष्टों का परित्याग कर दें। भूयोनुग्रहनीति भी यही कहती है—

'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामार्थे च कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्'।।

अर्थात् कुल यदि किसी पतित के संसर्ग से दूषित होता हो तो उस एक पतित को त्याग देना चाहिये। इसी प्रकार ग्राम के लिए कुल को, जनपद के लिए ग्राम को और आत्मा के लिए पृथ्वी का भी त्याग कर देना चाहिये। 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' का तात्पर्य यही है कि यदि समुद्रलङ्घनादि कुकर्मों से आत्मा दूषित होता हो तो उन कुकर्मों को करने से पहले मर जाना ही श्रेयस्कर है।

इस प्रकार की अधिकों पर अनुग्रह की नीति का परिग्रहण उन शिष्टों को सादर करना चाहिये जो कल्याणमार्ग में लगे हुए हैं।

कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष होगा जो काम से पीड़ित होता हुआ भी स्वास्थ्य को खराब कर देने वाली तथा समाप्तरजोधर्म वाली स्त्री की कामना करेगा भले ही वह वस्त्रालङ्कारों से अलङ्कृत ही क्यों न हो?

इस अधिकरण का प्रयोजन विशेषतः पूर्वोत्तरपक्षों के द्वारा प्रतिपादित समझना चाहिये।

इति पातित्यपेटिकायां द्वितीयं समुद्रयात्रायाः पातित्यप्रयोजकत्वाधिकरणम्।।२।।

अथ तृतीयं पतितानां सामान्यधर्माधिकारव्यवस्थापनाधिकरणम्

पूर्व के अधिकरण में कलियुग में सत्पुरुषों के द्वारा जो सर्वथा त्याज्य हैं, ऐसे समुद्रलङ्घी तथा ब्राह्मण का वध करने वाले, सुरा पीने वाले, ग्रामकुक्कुट और तदण्ड का भक्षण करने वाले अन्य भी जितने विकर्मस्थ हो गये हैं, उन सभी के परित्याग का प्रतिपादन किया गया। यहाँ पर पतितों के साथ संसर्ग करने वाले तथा प्रायश्चित्त न करने से पारलौकिक शुद्धि से भी शून्य एवम् प्रायश्चित्त कर लेने से पारलौकिक शुद्धि से सम्पन्न तथा लौकिक शुद्धि से शून्य जितने भी पतित हैं, उनके लिए धर्म में व्यवस्था के प्रतिपादन के लिए यह विचार किया जाता है कि वैसे पतितों का हर प्रकार से धर्म में अनधिकार है अथवा सामान्य मानवमात्र के द्वारा आचरणीय धर्म का अनुष्ठान वे कर सकते हैं? यहाँ सन्देह का अवसर कैसे उपस्थित हुआ? धर्म का बोध केवल चोदना (वैदिकविधि) से ही सम्भव है और वह चोदना भी त्रयी के ही अन्तर्गत है। एवञ्च पतितों के वैदिक कृत्यों से बहिष्कृत हो जाने के कारण अग्निहोत्र-सन्ध्यावन्दनादि कर्मों से जैसे बहिष्करणीयता है वैसे ही उनकी सत्यादि सामान्य धर्मों से भी बहिष्करणीयता प्रतीत होती है। अग्निहोत्रादि विशेष धर्मों में विशेषयोग्यता की अपेक्षा होने के कारण यद्यपि पतितों में वैसी योग्यता के न होने से वे विशेष धर्म के अधिकारी नहीं हो पायेंगे तथापि सामान्य सत्यादि धर्मों में उनके अधिकार का अपलाप नहीं किया जा सकता। इस प्रकार से सन्देह होना स्वाभाविक है। कौन सा पक्ष प्राप्त हुआ? हर प्रकार के धर्मों में पतितों का अधिकार नहीं है, यही पक्ष उचित है। कैसे? उच्यते—

धर्म में अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रत्येक पुरुषों को संस्कार की अपेक्षा अवश्यम्भावी है। संस्कारों के अभाव में किया गया धर्म कैसे फलदायक हो सकता है? संस्कारों से संस्कृत पुरुष भी यदि पतित हो जाते हैं तो उनका संस्कार निरर्थक हो जाता है। इसीलिए यथाशास्त्र पुरुषों को प्रायश्चित्त करना पड़ता है। प्रायश्चित्त से बड़े से बड़े पापों का नाश हो जाता है। सैंकड़ों प्रायश्चित्तों के बाद भी जिनकी शुद्धि नहीं हो पाती उनका इस लोक में धर्माधिकार कैसे सम्भव होगा? ऐसे लोग सत्यादि धर्मों का अनुष्ठान भी करें तो उनका वह अनुष्ठान निष्फल ही होगा।

इसीलिए पातित्यरूपी कीचड़ से जिनका मुख बदरूप हो गया है तथा उनके जो संसर्गी हैं, वे सभी सत्यदानादि धर्मों से दूर ही रहें। जो संस्कार, व्रत से पूर्ण हैं और जो सदाचार के परिपालन में तत्पर रहते हैं तथा धर्मज्ञसमय का लङ्घन नहीं करते उन्हें ही सत्यादि सामान्य धर्म शुभ गति देते हैं। जो केवल उदरपोषण में लगकर धर्मज्ञसमय का पदे पदे त्याग करते हैं उनके लिए धर्म में अधिकार कैसे सम्भव है?॥१-६॥

पतितों के संसर्ग का त्याग शास्त्रों में विहित है, अतः उनका साक्षात् संसर्ग यथोचित नरकप्राप्ति का हेतु है, इस विषय में यहाँ पर किसी भी प्रकार के विवाद का अवसर नहीं है। उस प्रकार के जो पतितसंसर्गी हैं उनके उस नरक को दूर करने के लिए कोई प्रायश्चित भी नहीं है जो संसर्ग के कारण प्राप्त होता है। यह तथ्य भी न्यायों से परिपुष्ट विद्वानों के व्याख्यानों के अनुशीलन से ज्ञात होता है। संसर्गी का संसर्ग सत्ययुग, त्रेता और द्वापर, इन तीनों युगों में दोषाधायक होता हुआ भी सम्भाषणादि रूप वह संसर्ग कलियुग में दोषोत्पादक नहीं होता तथापि शिष्टों के व्यवहार में विवाहादिव्यवहारों का संसर्गी में वर्जन किया जाता है, यह मानकर ही पतितों के लिए धर्म की व्यवस्था के प्रतिपादक इस अधिकरण में संसर्गियों को भी ले लिया गया है। इस विषय में विद्वानों को चाहिये कि वे अपनी नाक न सिकोड़ें।

गर्भाधानादि सारे अपेक्षित संस्कार जनों के लिए धर्माधिकार में योग्यता के सम्पादन के लिए वैसे ही होते हैं जैसे यज्ञों में व्रीहि आदि धान्य के संस्कार उत्पत्त्यपूर्व के सम्पादन के लिए होते हैं। यदि ऐसा स्वीकार नहीं करेंगे तो संस्कारों के विधायक सारे वचन निरर्थक हो जायेंगे। धर्माधिकार में संस्कारों की अपेक्षा निश्चित होती है तो अर्थात् यह भी सिद्ध हो जाता है कि संस्कारों के अभाव में धर्म अपने फलों को नहीं देते। तात्पर्य यही है कि संस्कारविहीन व्यक्ति के द्वारा किया जाने वाला धर्म धर्म ही नहीं होता क्योंकि संस्कृत पुरुष के द्वारा अनुष्ठीयमान धर्म को ही धर्म के रूप में स्वीकार किया जाता है। संस्कारों से संस्कृत होकर भी धर्मज्ञसमय के उल्लङ्घन से, दोषों से परिपूर्ण अत्यन्त निन्दित कर्मों को करने से पुरुष पतित हो जाता है। पतित हो जाने पर पहले किये गये संस्कार धर्म के विघातक होते हुए वैसे ही निष्फल हो जाते हैं जैसे नपुंसकता को प्राप्त हुए पुरुष सम्भोग के सम्पादन में अक्षम हो जाते हैं। उन संस्कारों को सफल बनाने के लिए ही नर यथाशास्त्र प्रायश्चित्त के योग्य होते हैं। प्रायश्चित्त महापापों का नाश करते हैं, ऐसी शास्त्रों में व्यवस्था है। सैकड़ों प्रायश्चित्तों से भी जिनकी शुद्धि न

वेदों में सुनी जाती है और न ही स्मृतियों में स्मृत है उनका इस लोक में धर्माधिकार कैसे सम्भव है?

श्रीमन्! सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र आदि विशेषधर्मों में संस्कारों की अपेक्षा होती है, अतः वहाँ अधिकार सम्भव न होने पर भी व्रत-उपवास-तीर्थस्नान-सत्यवदन-दान-अनसूया-धृति-दम आदि सामान्य धर्मों में संस्कारों की अपेक्षा न होने से पतितों का अधिकार क्यों नहीं सिद्ध होगा? अर्थात् सिद्ध होगा ही। ऐसी आशङ्का उचित नहीं। ऐसा मान लेने पर विशेषधर्माधिकार से शून्य शूद्रादि के मुण्डन-विवाह आदि संस्कार सिद्ध नहीं होंगे। शास्त्रों में शूद्रादिकों के लिए भी यथापेक्षित संस्कारों का श्रवण होता है जिससे यही सिद्ध होता है कि सामान्य धर्मों में भी संस्कारों की आवश्यकता पड़ती ही है। यहाँ यह आशङ्का नहीं करनी चाहिये कि शूद्रों के लिए भी कहीं विशेष धर्मों के सम्पादन के लिए ही संस्कारों का विधान है न कि सामान्य धर्मों के सम्पादन के लिए। ऐसा स्वीकार करने पर सर्वथा जो विशेषधर्मों में अधिकार से शून्य हैं, ऐसे चाण्डाल आदि के विवाहादि संस्कारों का अभाव होने लगेगा। इस प्रकार संस्कारों के सामान्य धर्मों के प्रति उपयोग का अपलाप नहीं किया जा सकता। तथा च, पातित्यपङ्क से दुर्मुख तथा उनके संसर्गी भी सत्यादि धर्मों से दूर ही रहें; क्योंकि ये धर्म इनके लिए निष्फल ही होते हैं। सत्यादि धर्म भी संस्कारव्रतों से पूर्ण, सदाचारनिष्ठ, धर्मज्ञ समय के परिपालक ब्राह्मणादि चाण्डालपर्यन्त वैदिकमार्गगामियों के लिए ही शुभकारक होते हैं। इनसे विपरीत जो लोग पदे पदे धर्मज्ञसमय का अतिक्रमण करते हैं ऐसे लोभी, उदरपोषी, अधोमार्गगामी पुरुषों के लिए वे शुभ नहीं होते। अतः पतितों का किसी भी प्रकार से धर्मसम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है—

सिद्धान्त

शास्त्रों में धर्मों की नित्य, नैमित्तिक और काम्य रूप से व्यवस्था देखने को मिलती है। तीन प्रकार से व्यवस्थित होते हुए भी ये धर्म दो प्रकार के सुने जाते हैं—सामान्यधर्म और विषेशधर्म। सामान्य काम्य धर्मों को न करने पर भी यद्यपि कोई दोष नहीं होता तथापि सामान्य नित्य और नैमित्तिक धर्मों का अनुष्ठान न होने से जो पाप लगेगा वह कैसे दूर होगा? इसीलिए पतितों को भी चाहिये कि वे पापों को दूर करने के लिए ही सही सत्यदानादि सामान्य धर्मों में लगें। प्रगाढ़ अन्धतमिस्रा में पुनः पात उचित नहीं। इस प्रकार वे पुनः विधर्मी न बनें। सत्य-सदाचार-व्रतों से उद्भासित भगवद्भक्ति का वैष्णवमार्ग प्रसिद्ध ही है, जिसमें सभी का अधिकार निरूपित है। पतितों के लिए भी वैष्णवमार्ग है, ऐसा यत्र तत्र

लिङ्गदर्शन से निश्चित होता है। इसीलिए भगवत्प्रपत्ति को स्वीकार करने वाला प्रपन्न अपने को सदा पतित ही मानता है। एवम् पतितों के वैष्णवमार्ग में अधिकार के बिना नित्य-नैमित्तिक धर्मों के अनुपपन्न होने से शिष्टों से बहिष्कृत पुरुषों का सत्यादि सामान्य धर्मों में अधिकार सिद्ध होता है।।७-१४।।

श्रुतियों और स्मृतियों में नित्य, नैमित्तिक और काम्य के भेद से धर्मों की तीन प्रकार की व्यवस्था है। नित्य, नैमित्तिक धर्मों का भेद ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय से स्वीकार किया जाता है। दोनों में निमित्त होते हैं। नित्य का निमित्त नियत होता है और नैमित्तिक का अनियत। वस्तुत स्तु दोनों का ही नित्यत्व रूप से ही शास्त्र में व्यवहार देखा जाता है। इसीलिए ही शास्त्रकार नित्य, काम्य धर्मों का ही प्रतिपादन अपनी-अपनी दृढ़ युक्तियों से करते हैं। नित्य कर्मों में यथाशक्ति न्याय और काम्य कर्मों में सर्वाङ्गोपसंहार (सारे अङ्गों के साथ ही कर्म की समाप्ति) स्वीकार किया जाता है। नित्य कर्मों में अङ्गों के सङ्कोच में श्रूयमाण निमित्त प्रधानतया हेतु है। 'अहरहःसन्ध्यामुपासीत, यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादि विशेष धर्मों के विधायक वाक्यों में वैसा न करने पर दोष का निश्चय होता है। महाशिवरात्रि, रामनवमी, कृष्णजन्माष्टमी, एकादशी, सत्य-दानादि सामान्य धर्मों के विधायक वाक्यों में 'यावत्' शब्द का सम्बन्ध होने के कारण उन-उन धर्मों का निमित्त जीवन ही है, ऐसा ज्ञात होता है। निमित्त का यही रूप होता है कि उसके होने पर नैमित्तिक कर्म अवश्य किया जाय। अर्थात् यह सिद्ध होता है कि नैमित्तिक कर्म निश्चय ही कर्ता को फल से सम्पन्न करता है। नित्य-नैमित्तिक धर्मों में पापों का परिहार (समाप्ति) ही फल स्वीकार किया जाता है। स्वर्ग की कल्पना वहाँ नहीं होती। स्वर्ग को मुमुक्षु स्वीकार नहीं करते। पापपरिहार तो सभी के लिए अभिलषित है। संसार का कोई भी पुरुष जीवनपर्यन्त सारे अङ्गों के साथ कर्मों को करने में समर्थ नहीं हो सकता, अतः कुछ अङ्गों का त्याग कर दिया जाता है जिनको करने की शक्ति नहीं होती। इस प्रकार नित्य कर्मों में यथाशक्तिन्याय चलता है। निमित्त के बल से ही यहाँ पर फलसाधनत्व का अवश्यम्भाव सिद्ध होता है, अतः यत्-किञ्चित् अङ्गों से युक्त प्रधान कर्म के अनुष्ठान से ही फल की सिद्धि हो जाती है, यह तात्पर्य है। इसीलिए विपश्चिद् मिश्र ने कहा है—

'अङ्गं हि नाम विधिसम्बन्धादुपादीयते, निमित्तानुरोधात् त्यज्यते वे'ति।

अङ्गों का ग्रहण विधि के सम्बन्ध के कारण होता है तथा निमित्त के अनुरोध से उनका त्याग भी होता है। काम्य कर्मों में निमित्त का अभाव होता है, अतः वहाँ यथाशक्तिन्याय लागू नहीं होता। अङ्गों के अनुष्ठान के साथ अनुष्ठीयमान

प्रधानकर्म से फल की सिद्धि होती है, अत: काम्यों में सर्वाङ्गोपसंहार सिद्ध होता है। धर्मों के ये तीनों प्रभेद सामान्य और विशेष दोनों रूप से श्रुत हैं। अग्निहोत्रादिरूप धर्मों में संस्कारविशेष की अपेक्षा होती है, अत: नित्य कर्मों के रूप में उपदिष्ट इन धर्मों में शिष्टपरम्परा से बहिष्कृत पतितों का अधिकार न होने पर भी मानवमात्र के लिए श्रुत या स्मृत सत्य-दान-विशेष-व्रतोपवासादि धर्मों में अधिकार न होने पर उनमें अत्यधिक अनर्थ की प्रसक्ति होने लगेगी। यद्यपि उस प्रकार के अत्यधिक अनर्थ से युक्त समुद्रलङ्घन, गुरुपत्नीगमन, अमेध्य पदार्थों का भक्षण आदि प्रतिषिद्ध और निन्दित कर्मों को करने वाले सामान्य काम्य धर्मों का अनुष्ठान नहीं करते तो भी उनके लिए कोई दोष नहीं है। केवल अपूर्वद्वारा उनकी इष्टसिद्धि नहीं होगी। यदि वे नित्य-नैमित्तिक कर्मों को भी नहीं करेंगे तो न करने का पाप उन्हें लगेगा ही। यदि करेंगे तो पापों की प्रसक्ति नहीं होगी। अत: पातित्य की प्रसक्ति होने पर भी पतित और उनके संसर्गी प्रायश्चित्त करके सत्यदानादि धर्मों का अनुष्ठान करें। यद्यपि वे अन्धतम में प्रविष्ट हैं तथापि उससे भी अधिक अन्धकार में उनका प्रवेश उचित नहीं है। ऐसा होने पर आगे वे धर्म में ही लगे रहेंगे, पुन: अधर्म नहीं करेंगे। अपि च, सत्य-सदाचार-व्रतों से उद्दीप्त, भगवद्भक्तिप्रधान, धर्मशास्त्रों के अन्दर आने वाले नारदपाञ्चरात्र-पाशुपतादि वामागम से भिन्न आगमों से उपदिष्ट वैष्णवादि मार्ग में सभी का अधिकार है, विशेषत: त्रयीभ्रष्टों का। यह अधिकार ही प्रतिपादित होता हुआ उनके सामान्य धर्मों में अधिकार के बिना सिद्ध नहीं होगा। जैसा कि धर्मज्ञ ऋषियों का वचन है—

'पाञ्चरात्र, भागवत, वैखानस तन्त्र को भगवान् नारायण ने वेदभ्रष्टों के लिए ही बनाया है। जो द्विज वेदमार्ग से अत्यन्त भ्रष्ट हो गये हैं उनके लिए पाञ्चरात्रादिमार्ग काल से ही उपकारक हैं। गौतमादि ऋषियों के शाप से तथा बड़े-बड़े पापों को करने से जो वेदबाह्य हो गये हैं और जो वर्णसाङ्कर्य, दोष से दूषित हैं, उनका और स्त्री शूद्रों का भी तन्त्रादि शास्त्रों में अधिकार है'। इन वचनों को मीमांसक शम्भुभट्ट ने अपने प्रभावलीग्रन्थ में विरोधाधिकरण में उदाहृत किया है।

पूर्वोक्त पुराण के वचनों से पाञ्चरात्रादि आगमों का प्रामाण्य अधिकारिविशेष के लिए ही स्वीकृत है। वैदिकों का भी उनमें अधिकार है, यह भूल नहीं करनी चाहिये। उन-उन लिङ्गों के द्वारा भी पतितों के लिए तन्त्रागमों से बोधित वैष्णवादि मार्ग में अधिकार निश्चित होता है। जैसा कि ब्रह्मपुराण में अगस्त्य के प्रति हयग्रीव का वचन है—'वर्णाश्रम से हीन, महापापी पुरुषों का पाप भी जिस भगवान् के रूप के ध्यानमार्ग से पुण्य हो जाता है'।

प्रायश्चित्त खण्ड में बृहस्पति का भी यही कथन है—'ज्ञानतः अथवा अज्ञानतः किये गये सारे पापों का प्रायश्चित्त भगवती परा शक्ति के चरणों का स्मरण ही है'।

प्रपत्तिमार्ग में भगवान् के प्रति प्रपन्नों का पतितरूप से स्वयम् को प्रस्तुत करना भी सामान्य धर्मों में उनके अधिकार को परिपुष्ट करता है। श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्र की फलस्तुति में भी पतितों का भी अधिकार किन्हीं धर्मों में प्रतिपादित है ताकि उनकी भी शुभ गति हो। वहाँ स्पष्ट ही कहा गया है—'स्त्री-शूद्र और पतितों के द्वारा भी एक बार के पाठ से ही सिद्ध हो जाने वाला यह सहस्रनाममन्त्र है जिसका जप शुभगति के लिए करना चाहिये'। यहाँ यह आशङ्का नहीं करनी चाहिये कि भक्तिप्रधान वैष्णव-पाशुपतादि मार्ग पतितों के ही विषय हैं, अतः उनमें वैदिकविषयता नहीं है। इसीलिए कि वेदों से ही ज्ञात होने वाली भक्ति सभी के लिए उपास्य है। अत एव विद्वान् भक्ति को भी धर्म के ही अन्तर्गत मानते हैं। भक्ति भी वेदबोधित इष्टसाधन है। कैसे भक्ति का केवल वेदबोधितत्व होगा? सुनो! महापुरुषों के नाम का संकीर्तन पापों का नाशक होता है, यह बात मन्त्रवर्णों से सिद्ध हो जाती है। जैसा कि मन्त्रवर्ण है—

'न युष्मे वाजबन्धवे निनित्सुश्च न मर्त्यः अवद्यमधिदीधरत्'।

'हे वाजबन्धवः—अन्नदान से सभी के बान्धव! आप का निन्दक भी आप का ध्यान कर लेने से निष्कल्मष होकर पापों को धारण नहीं करता'। यहाँ यह बात ध्वनित होती है कि निन्दा करता हुआ भी निष्पाप होता है, स्तुति करेगा तो क्या कहना। इस प्रकार से यही निश्चित होता है कि भगवान् के नाम का कीर्तन सारे पापों को नष्ट करने में समर्थ है। अपि च—

'तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
अस्य जानन्तो नामचिद् विविक्तन विष्णोः सुमतिं भजामहे'।।

इसका अर्थ है—हे विज्ञजन! सारे वेदों के प्रतिपाद्य, पुरातन नारायणरूप उस ईश्वर की स्तुति करो! जैसा आप को ज्ञान है वैसी ही स्तुति करो! इस प्रकार मुक्ति को प्राप्त करके अपने जन्म के बन्धन का समापन करो! तत्त्वज्ञान की आशा में विष्णु के नाम का सदा कीर्तन करो।

यहाँ लिङ्ग के बल से भगवद्भजन की विधि स्वीकार की जाती है। स्मृतियों और पुराणों में भी महापातकियों के वृत्तान्त के माध्यम से इस विषय का विस्तार किया गया है। जैसा कि अजामिलोपाख्यान में श्रीमद्भागवत में कहा गया है—'मरता हुआ पुत्र के उपचार से हरि का नाम लेता हुआ अजामिल जैसा महापतित

भी धाम में चला गया। यदि श्रद्धा से भगवान् का नाम लिया जाय तो मुक्ति में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता'।

सत्य-दानादि धर्मों के समान ही कुछ व्रतोपवास नित्य और काम्य दोनों प्रकार से स्मृतियों में व्यवस्थित हैं। नित्यों के त्याग में दोष का कीर्तन होने के कारण उन व्रतोपवासों के अधिकारी सकल मानव हैं, यह बात सूचित होती है। एवञ्च तथाविध नित्य धर्मों के अन्यथा सकलमानवाधिकार के विना अनुपपन्न होने से अर्थापत्तिप्रमाण के द्वारा ही पतितों के लिए सत्यादि सामान्य धर्मों में अधिकार अक्षुण्ण ही ठहरता है।

इस अधिकरण के प्रयोजन की गवेषणा यथायोग्य पूर्वोत्तरपक्षों के द्वारा ही कर लेनी चाहिये।

इति पातित्यपेटिकायां तृतीयं पतितानां सामान्यधर्माधिकारव्यवस्थापनाधिकरणम्।।३।।

अथ कृत्वाचिन्तायां चतुर्थं पतितानामावृत्त्या पातित्यप्रयोजककर्माननुष्ठानाधिकरणम्

पतित और उनके संसर्गियों के लिए सत्यादि सामान्य धर्मों में अधिकार नहीं है, इस पक्ष में पुनः विचार किया जाता है—फल की प्राप्ति न होने से प्रायश्चित्त न करने वाले पूर्वोक्त सारे पतित पुनः समुद्रलङ्घन, सुरापान, ग्राम्यकुक्कुटत-दण्डभक्षण, असवर्णजातीय कन्या से विवाह, विधवा-विवाह आदि प्रतिषिद्ध, पतित बना देने वाले, घृणित कर्मों को करें कि नहीं? ऐसा सन्देह उपस्थित होने पर पहले यह पूर्वपक्ष होगा—

यदि पतितों का सामान्य धर्मों में अधिकार माना जायेगा तब उनके लिए गर्हित कर्मों का त्याग भी आवश्यक होगा, अन्यथा उनके कल्याण का ही लोप हो जायेगा। यदि वे पतित सर्वथा धर्म कार्यों में अनर्ह ही माने जायेंगे तब अत्यन्त नीचता से पूर्ण कृत्य करने वालों की पुनः पतित हो जाने पर क्या हानि हो सकती है? जिनका मुख काजल से कालकूट जैसा हो गया हो उनके मुख में पुनः काजल का लेप कर देने पर क्या अधिक कालिमा हो जायेगी? अतितुच्छ फलों की प्राप्ति के लिए पतितगण जिन कुकर्मों को करते हैं उन्हीं फलों को प्राप्त करने के लिए पुनः पुनः उन्हीं कुकर्मों को करें। अधिकार का लोप हो जाने से जिनके लिए धर्म का फल बहुत दूर है ऐसे पतित अतितुच्छ कर्म से ही तुच्छ फल ही प्राप्त करें। इस प्रकार पतितों का पुनःपतन प्राप्त होने पर न्यायों से परिपूर्ण युक्तियों के द्वारा सम्यक् सिद्धान्तपक्ष का प्रतिपादन किया जाता है॥१-६॥

सिद्धान्त

आप के कथन से धर्माधर्म के प्रदर्शक वेद का ही बाध होने लगेगा। एवञ्च पतितों को चाहिये कि वे अपने तुच्छ लाभ के लिए उन कर्मों को न करें जिनकी शिष्टजन निन्दा करते हैं। जैसे श्रवण-मनन के अभ्यास से आत्मा का निश्चय ब्रह्मसूत्र में कहा गया है और अधिक फलों की लिप्सा के लिए जैसे दर्शपौर्णमास यागों के प्रयोगों की आवृत्ति इष्ट है वैसे ही पुनः-पुनः क्रियमाण कुत्सित कर्म यावत्कल्प महान् अनिष्ट फल के लिए ही होंगे॥७-१०॥

पतितों को सत्यादि सामान्य धर्मों में अधिकारशून्य मान लेने पर भी उन्हें पातित्य का जनक तुच्छ कर्म नहीं करना चाहिये। वेद के बाध की प्रसक्ति होने पर ऐसा ही निश्चय होता है। आप के पक्ष में 'असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योति र्गमय' इत्यादि वेदवचन बाधित होने लगेंगे। यह भार मानवों का ही है कि वे जीवन में अज्ञान के कारण परिवार के संवर्धन में तत्पर होते हुए भी निःश्रेयसार्थ कुछ प्रयास करें। यदि मानव अन्यथा आचरण करते हैं तो उनकी निन्दा भी वाजसनेयिशाखा में सुनी जाती है—

'असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
ताँस्तु प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः'।।

अन्धतम से आच्छादित, सूर्य से रहित वे लोक हैं जहाँ निःश्रेयस के मार्ग में न लगने वाले कुछ आत्महत्यारे इस लोक से मरने के बाद जाते हैं।

धर्मानुष्ठान का अभाव होने पर भी दुष्पार अन्धकार के मार्ग का अवरोध करना ही चाहिये जो लोग नरकफलक कुकृत्यसमुदाय से दूर रहते हैं। प्रबल संस्कारों के प्रभाव से न चाहते हुए भी जिन प्रतिषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान हो जाता है उनका भगवान् के नामों का उच्चारण कर लेने पर क्षय हो जाता है। अजामिलोपाख्यान से ही इस तथ्य का निश्चय होता है।

जिन कुकर्मों से दूर होना शक्य है उनसे दूर ही रहना चाहिये। पुनः पुनः कुत्सित कर्मों को करने से दोष नहीं होता, ऐसा भ्रम नहीं पालना चाहिये। इसीलिए कि आवृत्ति से फलाधिक्य का शास्त्रों में श्रवण है।

'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'।

इस सूत्र से भगवान् वादरायण आत्मनिश्चय की दृढ़ता के लिए श्रवण-मनन-निदिध्यासन की आवृत्ति का उपदेश कर रहे हैं। अत्यधिक फल के प्रदर्शन के लिए ही दर्शपूर्णमासादि यागों के आवृत्तिरूप गुण का विधान किया जाता है। कर्मान्तर की विधि नहीं स्वीकार की जाती। जैसा कि—

'दाक्षायणयज्ञेन स्वर्गकामो यजेत'। यहाँ पर दर्शपूर्णमास याग के आवृत्तिरूप गुण का ही विधान है न कि कर्मान्तर की विधि। इसका निरूपण मीमांसा के द्वितीय अध्याय (अ. २, पा. ३, अधि. ५) में किया गया है।

दक्ष अर्थात् यजमान के सम्बन्धी ऋत्विज ही दाक्ष हैं। इनके द्वारा किया जाने वाला अयन अर्थात् प्रयोगों की आवृत्ति ही दाक्षायण है। इस प्रकार 'दाक्षायण' पद

की व्युत्पत्ति भी आवृत्तिपरक ही की गयी है। कितनी आवृत्ति होनी चाहिये? ऐसी अपेक्षा होने पर विशेष विधान भी वेदों में है—

'द्वे पौर्णमास्यौ द्वे अमावास्ये यजेत'।

अर्थात् पन्द्रह वर्षों तक दर्शपूर्णमास याग की दो आवृत्ति ही होनी चाहिये। जिस प्रकार आवृत्ति के द्वारा धर्म के अनुष्ठान से अधिक फल की प्राप्ति होती है वैसे ही आवृत्ति से बार-बार किया जाने वाला कुत्सित कर्म निःश्रेयस का विरोधी होता हुआ अतिशय अनिष्ट का ही आपादक होता है, अतः पुनः पतित होने से बचना चाहिये।

इस अधिकरण का प्रयोजन पूर्वपक्ष में धर्मनिरपेक्ष विहिपादि संघटन में समावेश तथा सिद्धान्त में उसका अभाव ही है।

इति चतुर्थं पातित्यपेटिकायां कृत्वाचिन्तायां पतितानामावृत्त्या पातित्यप्रयोजककर्माननुष्ठानाधिकरम्।।४।।

●

अथ पञ्चमं त्रय्या अत्यन्तभ्रष्टानां बौद्धादीनां वैष्णवमार्गव्यवस्थापनाधिकरणम्

पतितों का सत्यादि धर्मों में अधिकार है, इस पक्ष में जो वेदत्रयी से अत्यन्त परिभ्रष्ट हैं, ऐसे पुरुषों के द्वारा कल्पित मार्गों को स्वीकार कर लेने वाले बुद्धार्हत इसामूसा के अनुयायी सत्यादि से उपलक्षित वैष्णवादिमार्ग को ग्रहण करें कि नहीं, यह विचार किया जाता है। अरे! पूर्वाधिकरण से ही यह सिद्ध है, फिर विचार का अवसर ही कहाँ है? है यहाँ भी विचार का अवसर। इसके पहले त्रयीमार्ग में वर्तमान, चतुर्दशविद्यास्थानों में आस्थावान् उन पुरुषों के लिए मार्गविशेष का विचार किया गया जो निन्दित और घृणित कर्मों को करने से शिष्टों के द्वारा त्याग दिये गये हैं। इस समय तो उन यवन-म्लेच्छादि के लिए धर्म में व्यवस्था का प्रतिपादन किया जा रहा है जो त्रयी से अत्यन्त भ्रष्ट हो चुके हैं और जो अकरणीय कर्मों का भी अनुष्ठान धर्मबुद्धि से करते हैं। कौन सा पक्ष प्राप्त हुआ? वैष्णवादि मार्ग में भी उनका अधिकार नहीं है, यही पक्ष सिद्ध होता है। कैसे? सुनो!

त्रयीमार्ग से विरुद्ध मार्ग में जिनका अत्यन्त आदर है और जो लोग हर प्रकार के सदाचारों से परिभ्रष्ट दिखायी देते हैं, वे प्रायः सभी एकादशी जैसी महापुण्य तिथि में मांस का भक्षण करते हैं तथा अन्यों के द्वारा परिभुक्त स्त्रियों का भी पत्नी के रूप में संग्रह कर लेते हैं। धर्म का चोंगा पहनकर क्षपणकादिगण अपने घर में ही तरुणीयोनिपूजा करते हैं। बौद्ध भी प्रायः तान्त्रिकी पूजा के नाम से ऐसा करते ही हैं। उनकी महापाखण्ड के आश्रित यह महापूजा और अन्य भी जितने दुराचार हैं वे सभी उनके यहाँ धर्म के रूप में व्यवस्थित हैं। परम्परा से प्राप्त इन सारे दुराचारों को करने वाले त्रयीभ्रष्टों की वैष्णवादिमार्ग में व्यवस्था कैसे सम्भव होगी? सारे प्रकार के दुराचारों में निमग्न ये अपने-अपने ग्रन्थों के अनुसार ईश्वर की भक्ति भी करते हैं। अतः विशेष रूप से किसी भी प्रकार का कृत्य इनके लिए न होने के कारण तथा सद्मार्ग में अरुचि होने से वह मार्ग भी सम्भव नहीं होगा जिस मार्ग का अनुशीलन बड़े-बड़े महापुरुषों ने किया है॥१-७॥

त्रयीमार्ग के विरोधी तथा सकलशिष्टाचार के शत्रु जिन मोहम्मदमत के अनुयायियों में महापुण्य एकादशी तिथि में ही उपस्थित बकरीद के दिन अनेक

प्रकार के पशुओं का छेदन और उनके मांस का भक्षण होता है तथा ईसा के अनुयायियों में भी अन्य के द्वारा भुक्त और बाद में त्यक्त महिलाओं का परिग्रह वैधत्वेन स्वीकृत दिखायी देता है तथा दिगम्बर-क्षपणक कहे जाने वाले बौद्धादि भिक्षुओं में धर्मबुद्धि से ही तरुणियों की योनिपूजा एवम् स्वकपोलकल्पित पाखण्डाश्रित अन्य महापूजा एवम् वेदादिशास्त्रों और उनके अनुयायियों का प्रदूषण आदि बहुत से दुराचार धर्म के रूप में व्यवस्थित और समादृत (प्रशंसित) हैं। इनकी उस वैष्णवादिमार्ग में व्यवस्था सम्भव नहीं हो सकती जिसका अनुवर्तन परमभागवत सकल संसार में पूजित महापुरुषों ने किया। इनकी धर्म में व्यवस्था वैसे ही सम्भव नहीं जैसे वाममार्ग में दक्षिणमार्ग की व्यवस्था। यद्यपि वामागम भी हमारे तन्त्रों के अन्तर्गत ही दिखायी देता है तथापि शिष्टाचार से विरुद्ध होने के कारण उसका धर्म में प्रामाण्य स्वीकृत नहीं है। विरोधाधिकरणन्याय से उसका अप्रामाण्य ही इष्ट है। उसका उपयोग भी हमारे यहाँ त्रयीमार्ग से परिभ्रष्ट बौद्धादि कुत्सितमार्गगामियों की बुद्धि में व्यामोह उत्पन्न करने के लिए ही किया जाता है।

यह तथ्य भी उन-उन आगमग्रन्थों के परिशीलन से निश्चित होता है। इन सारी बातों को श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीराघवानन्दतीर्थयोगीन्द्र के शिष्य श्रीरामानन्द ने अपने त्रिपुरोपनिषद् के भाष्य में कही है—

'दिगम्बर, क्षपणक आदि स्त्री को उत्तान करके ऊर्ध्वत्रिकोण की पूजा करते हैं, यह तथ्य है। यद्यपि यहाँ बहुत कुछ कहना है। अवैदिक मार्ग होने से यह स्मरण के भी योग्य नहीं है'।

सुभगोदयग्रन्थ के कौलशिक्षापटल में भी कहा गया है—

'वेदनिन्दक, पाखण्डी कुछ लोग केवल बाह्य पूजा में ही लगे रहते हैं। ऐसा कुकृत्य कौल, कापालिक आदि करते हैं। इनका सारा कार्य आगम (शास्त्र) से विहित नहीं होता। निषिद्ध वस्तु का आचरण करने से इनका पतन हो जाता है'।

सनत्कुमारसंहिता में भी कुछ ऐसा ही है—

'त्रयीबाह्य जातियाँ जिसे करती हैं ऐसी बाह्य पूजा शिष्टों को नहीं करनी चाहिये। बाह्य पूजा केवल ऐहिक फलों को देती है अतः वह क्षुद्र फल वाली ही होती है। दिगम्बर, ऐतिहासिक जो नाम के ही तान्त्रिक होते हैं वे ही बाह्य पूजा में निमग्न रहते हैं। कौल, क्षपणक और कापालिक भी उसी में आते हैं'।

क्षपणकमार्ग में वर्तमान तरुणीयोनिपूजा से प्रभावित होकर ही पहले 'रजनीश' और बाद में 'ओशो' नाम से कुख्यात कोई क्षपणकमार्ग का अनुयायी प्रत्यक्ष ही

लोक में कदाचार का प्रवर्तन किया है, इस बात को नहीं भूलना चाहिये। सर्वथा विगर्हित मार्ग को स्वीकार करने वाले ये अपने ग्रन्थों से ज्ञेय मार्ग में श्रद्धातिशय से सम्पन्न होकर प्रभु की भक्ति भी करते हैं। जैसा कि—बौद्धों का चैत्यवन्दन और अपने मन्दिरों में स्थापित बुद्ध का पूजन, जैनियों का अतिविशाल मन्दिरों में स्थापित नग्न पुरुष का पूजन, मूसलमानों का मस्जिद में सामूहिकतया गलगर्जनप्रणाली से नमाजपाठ, इसाइयों की भी वैसे ही विशिष्ट निकेतनों में प्रार्थना आदि होती ही है। प्रकारान्तर से ये सारी क्रियायें भक्तिविधायें ही हैं। वैष्णवादिमार्ग भी भगवद्भक्तिमार्ग ही है। इस प्रकार इन सारे त्रयीभ्रष्ट पतितों के लिए वैष्णवादिमार्ग में कोई कार्य न होने से तथा श्रद्धा का भी अभाव होने से अधिकार नहीं है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर यह सिद्धान्त कहा जाता है—

सिद्धान्त

प्याज-लहसुन से युक्त अभक्ष्य मांस के सेवन से, अन्यभुक्त ततः परित्यक्त नारियों के परिग्रह से, तरुणीयोनिपूजा एवम् अन्य कुकर्मों से जायमान पातित्य श्रेय का नाशक होता है। इन सारी बातों को आप ने जो कहा है वह तथ्य ही है। इसीलिए तो त्रयीमार्ग के विपरीत कार्य करने वालों के लिए प्रगाढ अन्धकार की श्रेणी श्रुत है अर्थात् वे घोर नरक में जाते हैं। इतना सब होने पर भी श्रुतिप्रोक्त इनके उद्धार की गवेषणा भी विद्वानों को करनी चाहिये; क्योंकि विद्वान् सारे लोगों के अनुग्रह की आकाङ्क्षा करते हैं। नित्य पाखण्ड करने वालों के लिए श्रीमद्नारायण के द्वारा उपदिष्ट वैष्णवमार्ग से अन्यत्र कहीं भी श्रेय सम्भव नहीं है। यह जो पूर्वपक्षी ने कहा है कि त्रयीभ्रष्ट भी प्रायः अपने-अपने मार्ग के अनुसार ईश्वर की भक्ति और व्रत आदि श्रद्धा से करते ही हैं। इस पर समाधान में मैं यही कहूँगा कि सद्मार्ग से विमुख कुबुद्धियों की वह भक्ति ही नहीं मानी जायेगी क्योंकि सारे शास्त्रों से विरुद्ध होती है। नित्य ही कुकर्म करने वालों की भक्ति श्रेष्ठ नहीं कही जा सकती; क्योंकि धर्म से सम्पृक्त महापुरुषों की भक्ति ही भक्ति मानी जाती है। ईश्वर के जो-जो नाम शास्त्रों में कहे गये हैं उन्हीं नामों के आलम्बन से श्रेय सम्भव है, अन्यथा नहीं। वेदों के निन्दक म्लेच्छ-यवनादि जिन नामों का उच्चारण करते हैं उनके आलम्बन से उनका उद्धार कैसे सम्भव है? इसीलिए भगवान् नारायण के द्वारा उपदिष्ट वैष्णवमार्ग में सद्गति की इच्छा से निश्चय ही धर्मभ्रष्ट बौद्धादि प्रवेश करें॥८-१८॥

विधि-प्रतिषेध रूप शास्त्र के विषय केवल मनुष्य ही होते हैं अतः धर्म और अधर्म दोनों से बहिर्भूत पशु-पिशाचादि ही हो सकते हैं, यह तथ्य जैमिनीय शास्त्र

के छठे अध्याय में प्रतिपादित है। उसी का ही—

'क्योंकि विधि और निषेध में मनुष्यों का ही अधिकार है, अतः पशु-पिशाचादि धर्म और अधर्म के बाहर होते हैं अर्थात् उनके लिए धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग आवश्यक नहीं है, यह पद्मपुराण का वचन अनुवाद करता है। नित्य धर्मों के त्याग से, पुरुषकपोलकल्पित मार्ग के अनुसरण से, अधर्म के सेवन से जन्तु अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों से च्युत हो जाता है। वैष्णवादिमार्ग त्रयीमूलक होने के कारण स्मृत्यधिकरणन्याय से धर्म ही है, इसमें किसी भी प्रकार का विवाद नहीं है। इसीलिए अत्यन्त अनर्थभूत, पाखण्डानर्थप्रधान बुद्धादिकों के द्वारा उपदिष्ट मार्गों से अलग होकर त्रयीविरुद्धों को चाहिये कि वे वैष्णवादिमार्ग को स्वीकार करें। यथाविधान उन्हें तीर्थस्नानव्रतादिपूर्वक श्रुतिसिद्ध सदाचारों को भी ग्रहण करना चाहिये। इस रहस्य के परिपोषक अनेक प्रकार के न्याय और तन्मूलक अन्यान्य वचन भी उपलब्ध हैं। भगवान् के उन्हीं नामों का भजन में ग्रहण करना चाहिये जो शास्त्रों से प्रतिपादित होते हैं। जिन्होंने वैष्णवादिमार्गों को स्वीकार कर लिया है उनके लिए वही (वैष्णवादिमार्ग) प्रायश्चित्त है अथवा गङ्गास्नान प्रायश्चित्त होगा। जैसा कि योगी याज्ञवल्क्य का कथन है—

'यहाँ ऐसा कोई पाप ही नहीं है जो हरि के नाम से दूर न होता हो। पापों की अधिकता के भय से ही अन्य प्रायश्चित्तों का विधान है। वस्तुतस्तु भगवान् नारायण के नामोच्चारण के आगे सारे प्रायश्चित्त व्यर्थ ही हैं'।

भार्गवश्रेष्ठ महामुनि च्यवन का भी यही कहना है—

'श्रुतियों, स्मृतियों और पुराणों में 'राम' नाम कहा गया है जो सारे पापों का प्रायश्चित्त है'।

श्रीमद्विष्णुपुराण में भी यही तथ्य उजागर है—

'अत्युग्र नरकों को देने वाला कलि का पाप भी जिस भगवान् के स्मरणमात्र से नष्ट हो जाता है वे सर्वज्ञ, सर्वस्वरूप, रूपवर्जित, सर्वभूत, सर्वात्मा भगवान् हरि नित्य कीर्तनीय हैं'।

यह सब अर्थवाद मात्र है, ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। इसीलिए कि इन सारे वचनों के अर्थवादत्व का प्रतिषेध किया गया है। जैसा कि पराशरसंहिता में कहा गया है—

'जो पुरुष हरि के नाम में अर्थवादत्व की सम्भावना करता है वह मनुष्यों में बहुत बड़ा पापी है तथा वह निश्चय ही नरक में जाता है'।

उक्त वचनों को अर्थवाद मान लेने पर भी भगवान् के नामसङ्कीर्तन की स्तुत्यता ही प्रतिपादित होगी जिससे कीर्तन की श्रेयस्कारिता का त्याग नहीं होगा। यहाँ अधिक पल्लवन की अब कोई आवश्यकता नहीं है। गङ्गास्नान से पवित्रता होती है, यह बात लिङ्गपुराण में है—

'ब्रह्महत्या करने वाला, गौओं को मारने वाला, स्वर्ण को चुराने वाला, गुरुपत्नी का समागमन करने वाला भी गङ्गाजल से पवित्र हो जाता है, इसमें किसी भी प्रकार का विचार नहीं करना चाहिये'।

निष्फल और अनर्थफलक कर्मों के अनुष्ठान की अपेक्षा सफल या अभ्युदयनिःश्रेयसफलक कर्मों का अनुष्ठान श्रेष्ठ होता है, यह लोकन्याय है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि कल्याण की कामना करने वाले त्रयीभ्रष्ट वैष्णवादिमहामार्ग में प्रवेश करें।

इस अधिकरण का प्रयोजन पूर्वपक्ष में सारे मनुष्यों का पारस्परिक प्रेम का अभाव तथा सिद्धान्त में उसका सद्भाव है। अन्य प्रयोजनों की भी वितर्कणा सुधीजन कर सकते हैं।

।। इति पात्यिपेटिकायां पञ्चममत्यन्तत्रयीमार्गभ्रष्ट-पुरुषकल्पितासद्मार्गसंपृक्तानां बुद्धार्हतादिमतानुयायिनामपि वैष्णवादिमार्गव्यवस्थापनाधिकरणम्।।५।।

●

अथ कृत्वाचिन्तायां षष्ठं त्रयीबाह्यानां वैष्णवादिमार्गाभावपक्षे महापातकादिवर्जनपुरः सरमेव निजमार्गतो भक्त्यनुष्ठानाधिकरणम्

कृत्वाचिन्ता। त्रयीमार्ग से अत्यन्त भ्रष्ट पुरुषों के लिए जिस पक्ष में वैष्णवादि महामार्ग है ही नहीं उस पक्ष में यह बात परिपुष्ट हो जाती है कि वे अपनी-अपनी परम्परा से प्राप्त इश्वरभक्ति करें। यहाँ केवल इतना विचार किया जाता है कि वे त्रयीमार्गविरोधी, धर्मभ्रष्ट अपने ईश्वर की भक्ति श्रुतिप्रतिषिद्ध, शिष्टविगर्हित, कुत्सित व्यवहारों के साथ ही करें या नहीं? श्रुतियों से प्रतिषिद्ध उनके गर्हित आचारों का सङ्कलन पहले ही कर दिया गया है। वहाँ पर उनके अन्य दो पाप कर्मों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। उनमें प्रथम स्थान में लोभादि दिखाकर त्रयीमार्ग में आदरबद्ध पुरुषों को अपने कुत्सित सम्प्रदाय में मिलाना तथा द्वितीय स्थान में उनके द्वारा की जाने वाली श्रुति तथा श्रुतिबोधित मार्ग की निन्दा आती है। कौन सा पक्ष प्राप्त होता है? वे अपने ईश की भक्ति शिष्टविगर्हित, प्रतिषिद्ध, कुत्सित व्यवहारों के साथ ही करें। कैसे? कहा जाता है—

मानवों की निन्द्य और जुगुप्सित क्रियायें अज्ञान से प्रचोदित ही हुआ करती हैं। उनमें भी यदि सद्धर्म की शिक्षा का समारोप हो जाय तो वे और दृढ हो जाती हैं। दुरदृष्ट के प्रभाव से जिन पापियों की अधर्म में धर्मबुद्धि हो गयी है उनको यदि उन कुत्सित क्रियाओं से हटाया जाय तो उनकी बुद्धि अपने भक्तिप्रकार से ही अलग हो जायेगी। वे समूहबद्ध होकर अपने-अपने उपासनास्थल में जाकर निरन्तर आर्तभाव से पुनः पुनः प्रार्थना करते हैं। उनके प्रार्थनाप्रकारों के जो देशिक व्यवस्थित हैं उनके द्वारा उपदिष्ट अधर्म (उनकी दृष्टि में धर्म) में यदि उनकी श्रद्धा को ही समाप्त कर दिया जाय तो उनकी भक्ति के प्रकार ही प्रभावित होने लगेंगे। इसी कारण से वे धर्मभ्रष्ट अपने निन्दनीय, अधर्ममिश्रित कृत्यों के साथ ही भक्ति करें ॥१-५॥

अधर्म में धर्मबुद्धि तामसी बुद्धि कही जाती है, ऐसा भगवान् वासुदेव कहते हैं—

'तमः अर्थात् अज्ञान से आच्छादित जो बुद्धि होती है वह अधर्म को ही धर्म मानने लगती है तथा उसको सारे अर्थ विपरीत दिखायी देने लगते हैं। हे अर्जुन! वह बुद्धि तामसी बुद्धि है'।।गीता १८-३२।।

तामसी बुद्धि से विपरीत अर्थ की प्राप्ति होती है, ऐसा शास्त्रों का निश्चय है। तामसी पुरुष भी भगवद्भक्ति करते हैं, ऐसा लोकव्यवहार से निश्चित होता है। यद्यपि मूसलमानों को छोड़कर बौद्धादि इसाईपर्यन्त सभी पुरुषकल्पित मार्गों के अनुयायी मूढ ही होते हैं और वे अपने-अपने उपासनास्थलविशेष में अपने-अपने सम्प्रदाय के मूल पुरुषों की आकृति को ही सामने करके भजन करते हैं। मूसलमान तो उन सारे आकार-प्रकारों को ईश्वर से भिन्न मानते हुए उस इन्द्रियमार्ग से अगम्य ईश्वर का भजन करते हैं जिसको खुदा, इलाही या अल्ला कहा जाता है और सृष्टि के नाशकाल में जो शुभाशुभ कर्मों के फल को देता है। यद्यपि वे आकृति का समर्थन नहीं करते तथापि आकृति के विना भजन के ही अनुपपन्न होने से आकृति आ ही जाती है। सारा का सारा यह उपासनाप्रकार शास्त्रविरुद्ध होने के कारण धर्म के अन्तर्गत नहीं आ सकता तथापि वह निष्प्रयोजन है, ऐसा नहीं स्वीकार किया जा सकता। वह ध्यानादि का उपाय है ही, अतः उसका अन्तःकरण की शुद्धि में उपयोग हो सकता है। यहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण के वचनों को प्रस्तुत करने वाले वेदान्ती भी अनुकूल हैं—'अज्ञानी तथा कर्मों में रुचि रखने वालों की बुद्धि में भेद पैदा नहीं करना चाहिये; किन्तु विद्वान् को चाहिये कि वह यथोचित धर्म करता हुआ उनको कर्मों के प्रति प्रेरित करे'।। गीता ३.२६।।

वे भगवान् अन्यत्र भी कहते हैं—

'जो जो भक्त मेरे जिस जिस शरीर की श्रद्धा से पूजा करना चाहते हैं उसकी उसी शरीर में मैं अचल श्रद्धा जगा देता हूँ। उस श्रद्धा से संपृक्त होकर वह मेरे उसी आकार की आराधना करता है और मेरे द्वारा ही सम्पादित उन-उन अभीष्ट फलों को प्राप्त करता है'।।गीता ७.२१-२२।।

त्रयीमार्ग के विरोधियों के द्वारा अनुष्ठीयमान भक्तिप्रकार पूर्वोक्त गर्हित कर्मों के साथ ही सम्भव है। उनकी जब उन नीच कर्मों में श्रद्धा होगी तभी उनके भक्तिप्रकार में उनकी श्रद्धा जगेगी। यदि उनकी श्रद्धा को नीच कर्मों से हटा दिया जायेगा तब उनकी अपने भक्तिप्रकार में भी अश्रद्धा हो जायेगी। यह उचित नहीं है। अतः वे शिष्टविगर्हित कृत्यों को करते हुए ही अपनी उपासना करें भले ही उनकी उपासना पुरुषकपोलकल्पित हो। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त का कथन इस प्रकार से होगा—

सिद्धान्त

मनुष्यों की पापक्रियायें यदि अज्ञान से प्रयुक्त होकर हो रही हैं तो ज्ञानोदय होने पर उनका न्यायत: त्याग होना चाहिये। जिन कृत्यों से त्रयीमार्ग तथा लौकिक मर्यादा दोनों क्षुब्ध हो रही हों तो लोक में उनका त्याग कर देना ही उचित है। श्रेय:प्रयोजनक कर्मों के लिए भी निन्दनीय कर्मों का परिग्रह गर्हित ही होता है। ऐसे में चैत्यवन्दनादि जैसे निष्फल कर्मों के लिए निन्दित और जुगुप्सित कर्मों का परिग्रह सर्वथा अनुचित ही होगा। पाखण्डियों की प्रार्थना चैत्य, मस्जिद, गिरिजाघर में मत हो क्योंकि वह वेद से बाह्य होने के कारण निष्फल और अनर्थ से सम्पृक्त ही रहती है। ऐसे में उसका पूर्णरूप से त्याग होना चाहिये यदि उसके अनुष्ठान से पातकों में प्रेम पुष्ट होता हो। उस कुमारीपूजा का त्याग ही होता है यदि पूजक के कुमारीभोग में प्रेम का उदय होता हो। इस प्रकार न्यायत: यही सिद्ध होता है कि त्रयीभ्रष्ट विकर्मस्थ महापातक कर्मों का त्याग करके ही अपनी पद्धति से अपने प्रार्थनादि कर्मों को करें॥६.११॥

सर्वत्र निन्द्य कर्म करने में अज्ञान ही हेतु होता है। यद्यपि उन पातकों के प्रायश्चित्त का विधान भी शास्त्रों में देखा जाता है जो ज्ञान और अज्ञान दोनों से प्रयुक्त होते हैं तथापि काम-क्रोध-असूया-मात्सर्य-विचिकित्सा प्रभृति विकार अज्ञान के ही विवर्त हैं अत: सारे निन्दित कर्म अज्ञानप्रयुक्त ही होते हैं, ऐसा स्वीकार किया जाता है। इसीलिए आप्तपुरुषों के माध्यम से शास्त्रीय ज्ञान हो जाने पर निन्द्य कर्मों का त्याग ही न्यायत: प्राप्त होता है। त्रयीमार्ग से विरुद्ध मार्ग में आदरबद्ध बौद्धादि के कृत्यों से यदि लौकिक मर्यादा का क्षोभ होता हो तो उन कृत्यों का त्याग ही श्रेयस्कर है। अत एव अनुपनीत बालकों के पापों का प्रायश्चित्त उनके पिता आदि को करना पड़ता है। जैसा कि कहा गया है—

'अनुपेत स्तु यो बालो मद्यं मोहाद् पिबेद् यदि।
कृच्छ्रत्रयं गुरुः कुर्यात् माता भ्राता तथा पिता'।।

कोई अनुपनीत बालक यदि मोह से मद्यपान कर लेता है तो उसके गुरु, माता, पिता या भ्राता को तीन कृच्छ्र प्रायश्चित्त करना चाहिये।

इसी न्याय से त्रयीमार्गविरुद्ध बौद्ध-यवन-म्लेच्छ आदि के द्वारा किये गये निन्द्य कर्मों का प्रायश्चित्त शिष्टों को ही कर लेना चाहिये पृथिवी की बाधा दूर करने के लिए ही। अत एव शिष्टों के कुछ कर्म विश्वकल्याण के लिए भी होते हैं। अपि च, धर्मबुद्धि से वे जिन कृत्यों को करते हैं उनसे अनिष्ट की प्राप्ति

होती है, ऐसा शिष्टों का स्मरण है—'धर्मशास्त्रों को दूषित करने वाले, हेतुवाद में कुशल अर्थात् धर्म में हेतु का कथन करने वाले सभी पापी विहङ्गमाख्य घोर नरक में पकते हैं। मर्यादा का लङ्घन करने वाले भी इसी तरह घोर नरक में जाते हैं। वानरों का वध करने वाले, गौवों के घातक आदि पापी 'कृमिभक्ष्य' नरक में जाते हैं'।

इस प्रकार हर मानवों का कर्तव्य है कि वे शास्त्रों में जिनकी निन्दा की गयी है, ऐसे कर्मों का परित्याग कर दें। यदि इन जुगुप्सित कृत्यों के विना पाखण्डियों की प्रार्थना चैत्यादि में सिद्ध न होती हो तो न हो। अपनी पद्धति से भी यदि वे प्रार्थना, दीनसेवा आदि करते हैं तो महापातकादि कर्मों का त्याग करते हुए ही करें, यही सिद्ध हुआ।

इस अधिकरण का प्रयोजन पूर्वपक्ष में निन्द्य कर्म करने पर भी प्रायश्चित्त का अभाव है तथा सिद्धान्त में प्रायश्चित्त की सिद्धि ही है जो पूर्वोत्तरपक्षों से ही सुस्पष्ट है।

इति पातित्यपेटिकायां कृत्वाचिन्तायां षष्ठं त्रयीबाह्यानां वैष्णवादिमार्गाभावपक्षे महापातकादिवर्जनपुरःसरमेव निजमार्गतो भक्त्यनुष्ठानाधिकरणम्।।६।।

●

अथ सप्तमं शुद्धचरितैरेव म्लेच्छादीनां वैष्णवादिदीक्षासंपादनाधिकरणम्

त्रयीमार्ग से अत्यन्त भ्रष्ट पुरुषों के लिए वैष्णवादि महामार्ग है, इस पक्ष में यह विचार किया जाता है कि उनकी वैष्णवादिदीक्षा समुद्रलङ्घियों के द्वारा ही हो या समुद्र का लङ्घन जो नहीं किये हैं, ऐसे वैष्णवों के द्वारा ही हो। यहाँ सन्देह कैसे हुआ? शिष्टों के द्वारा म्लेच्छ-यवनादिकों का त्याग होना चाहिये, यह बात शास्त्रों से ही बोधित होती है, अतः परिशेषतः उनकी दीक्षा उन समुद्रलङ्घी पतित वैष्णवों के द्वारा ही सम्पादित होनी चाहिये जो प्रायश्चित्त करके पारलौकिक शुद्धि कर लिये हैं तथा लौकिक अशुद्धि से सम्पृक्त हैं। एवमेव वैष्णवादि में भी धर्मज्ञसमय का उल्लङ्घन करने पर और निन्द्य कर्म करने पर त्याग का विधान होने से विशुद्ध चरित्र वाले वैष्णवों के द्वारा ही म्लेच्छादि दीक्षा होनी चाहिये, यह बात भी सामने आती है। इस प्रकार सन्देह होना स्वाभाविक है। एवञ्च सन्देह होने पर ब्रह्मचर्यभ्रष्ट, समुद्रलङ्घी ही दीक्षा दें, यही पक्ष उचित है। कैसे? श्रूयताम्!

वेदबोधित सदाचारों में आदरबद्ध मनीषियों के द्वारा उन सारे पतितों का त्याग होता है जो त्रयीमार्ग में वर्तमान हैं। एवञ्च, जो त्रयीमार्ग से अत्यन्त भ्रष्ट हैं तथा अपने जुगुप्सित कर्मों से निन्दित भी हैं ऐसे म्लेच्छादिगण सत्पुरुषों के द्वारा वैष्णवनामक दिव्य मार्ग में कैसे दीक्षित हो सकते हैं? इसीलिए इनकी दीक्षा धर्मज्ञसमयलङ्घी पतित वैष्णवों के द्वारा ही होनी चाहिये। शिष्टों के द्वारा इनकी दीक्षा कभी नहीं होनी चाहिये। ऐसा होने पर ही पतितों का पतितों से ही समागम होगा तथा सर्वतः शुद्ध पुरुषों का धर्म भी निर्बाध रूप से समृद्ध होगा।।१-४।।

पतितों का संसर्ग भी सद्यः पतित बनाने में कारण होता है, अतः जिन वैष्णवों का त्रयीमार्ग में अपार आदर है, वे पतितों का परित्याग करते हैं। पतितसंसर्ग सद्यःपात का हेतु होता है, ऐसा संस्कारमयूख में देवल का वचन है—

'पतित के साथ जो याजन, विवाहादिसम्बन्ध, अध्ययन और सहभोजन करते हैं वे शीघ्र ही पतित हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है'।

सुमन्तु और विष्णु के वचनों से भी पतित द्वारा दीक्षित होने पर सद्यःपातित्य की पुष्टि होती है। जैसा कि विष्णु का वचन है—

'विवाह-याजनादि-सम्बन्धों से शीघ्र पतित होते हैं'।

सुमन्तु भी कुछ ऐसा ही कहते हैं—

'जो पतितों के साथ विवाह-अध्ययन-याजनों में किसी एक भी सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं, उनके लिए भी यही प्रायश्चित्त है'।

इस प्रकार अपतित वैष्णव पातित्य से बचने के लिए ही म्लेच्छों को दीक्षा न दें, यही निश्चित होता है। तथा च, परिशेषतः यह सिद्ध होगा कि पतित वैष्णव ही म्लेच्छों को दीक्षा दें। ऐसा मान लेने पर अपतित वैष्णव अपने धर्मानुष्ठान में समृद्ध होंगे। ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर यह सिद्धान्त होगा—

सिद्धान्त

अपने आत्मा का संस्कार ही दीक्षा है जिसका उपयोग प्रपत्ति (भगवान् की शरणागति) में होता है। यदि वह संस्काररूपा दीक्षा पतितों के द्वारा होगी तो वह संस्कार कैसे होगी? जिनका संस्कार ही न हो वे वैष्णव भी नहीं हो सकते।

इसी कारण से निश्चय ही विशुद्धाचार से सम्पन्न शुभ वैष्णवों के द्वारा ही दीक्षा प्राप्त करके पाश्चात्य जन भक्तिमार्ग को स्वीकार करें। यहाँ पर पूर्वपक्षी ने जो यह कहा है कि वैष्णवश्रेष्ठ सारे पतितों का दूर से ही परिवर्जन करते हैं अतः म्लेच्छों को पतित ही दीक्षित करें, तो यहाँ इसका उत्तर भी सुन लीजिये। जिस तरह ब्राह्मण को आगे करके शूद्रजन धर्म के श्रवण में व्यवस्थित होते हैं वैसे ही म्लेच्छयवनादि भी ब्राह्मणों को आगे करके व्यवहित होते हुए विशुद्ध पुरुषों के द्वारा ही धर्मतः दीक्षा ग्रहण करें। इसी प्रकार निर्बाधरूप से सारी दिशाओं में प्रस्फुरित होता हुआ परमेश्वर नारायण से उपदिष्ट वैष्णवाचार वृद्धि को प्राप्त हो॥५-१०॥

आत्मा के संस्कार के लिए विहित दीक्षा शास्त्रीय विधान का अतिक्रमण नहीं कर सकती। यदि वह पतितों के द्वारा सम्पादित होगी तो शास्त्रीय विधान का अतिक्रम करेगी ही। वैसी अवस्था में वह दीक्षा दीक्षा ही नहीं होगी। वैष्णवदीक्षा वैष्णवों के द्वारा ही होनी चाहिये, यह न्यायतः प्राप्त है। वैष्णवों में भी धर्मज्ञसमय के उल्लङ्घन से या अन्य अकरणीय कार्य करने से पातित्य होता है, यह उनके शास्त्र से ही ज्ञात होता है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यजी ने वैष्णवमताब्जभास्कर में कहा है—

'नैष्ठिक धर्म से च्युत वैष्णव आत्मघाती भी कहा जाता है। मठाध्यक्ष एवम् दीक्षादि कार्यों से यत्नपूर्वक उसका बहिष्कार करना चाहिये। भगवान् व्यास ने भी

इसके ब्रह्मविद्या से बहिष्कार को सूचित किया है। शिष्ट भी वैसे पतित वैष्णव का यज्ञादिकार्यों में बहिष्कार करते हैं। इसीलिए विरक्त वैष्णवों को चाहिये कि वे आरुढपतितों को व्यवहार में न लगायें क्योंकि उनका संसर्ग भी पापकारी होता है'।।५-७-८-९।।

इससे यही निश्चित होता है कि वैष्णवमार्ग को स्वीकार कर लेने वाले भी समुद्रलङ्घनादि पापकर्मों से पतित हो जाते हैं तथा उनका संसर्ग भी महानरकपात का हेतु होता है। ऐसे लोग त्रयीमार्ग से अत्यन्त भ्रष्ट बौद्ध-यवनादि जनों को भी दीक्षापूर्वक मन्त्रोपदेश कैसे कर सकते हैं? दीक्षा और मन्त्रोपदेश के लिए आचारादि के द्वारा विशुद्धता की अपेक्षा होती है। जैसा कि हमारे श्रीरामानन्दाचार्य ही कहते हैं—'मन्त्रदीक्षा देने वाले देशिक को जितेन्द्रिय, पवित्र, शुद्धवेशधारी, कुलीन, सदाचारनिष्ठ, नम्र, शास्त्रों का ज्ञाता, अत्यन्तबुद्धिमान्, निग्रह और अनुग्रह में समर्थ होना चाहिये।

मुमुक्षु के मोक्षसाधन में हीन अङ्गों वाला, अधिक अङ्गों वाला, कपटी, काले दाँतों वाला, नेत्ररोगी, कुष्ठी, वाचाल, वामन, व्यसनी, अधिक सोने वाला, कुनखी, ज्यादा खाने वाला देशिक सर्वथा अयोग्य ही होता है'।।वैष्णवमताब्जभास्कर।।४३-४-५-६।।

एवञ्च, म्लेच्छयवनादि को दीक्षा वे ही दें जो अपने धर्म का अतिक्रम न करने से शुद्ध हैं और जिनका आचार-विचार भी अत्यन्त विशुद्ध है, यह बात सिद्ध हुई। शिष्टजन म्लेच्छादिकों का परिवर्जन करते हैं, फिर दीक्षा कैसे दे सकते हैं? यह जो पूर्वपक्षी ने तथ्य का आवेदन किया है वह साक्षात् दीक्षा को लेकर समाहित हो जायेगा। साक्षात् उनको दीक्षा न दी जाय, अपि तु ब्राह्मणों को आगे करके दी जाय।

'श्रावयेत् चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः'।

इस अनुशासन के बल से ब्राह्मण को बीच में करके व्यवधानपूर्वक जैसे पुराणादि के श्रवण में शूद्रों का भी अधिकार है वैसे ही वे पाश्चात्य भी ब्राह्मण को अपने आगे करके दीक्षा-ग्रहण कर सकते हैं। ऐसा स्वीकार कर लेने पर किसी प्रकार के अत्यल्प दोष की भी प्रसक्ति नहीं होगी। वैष्णवाचार का सारी दिशाओं में प्रसार हो, यह कथन भी आचार्यों के उक्त अभिप्राय को ही पुष्ट करता है। जैसा कि कहा गया है—

'सर्वदेशदिशाकालेष्वव्याहतपराक्रमा।
श्रीरामानुजदिव्याज्ञा वर्धतामभिवर्धताम्'।।

श्रीरामानुजाचार्यजी की दिव्य आज्ञा, जिसका पराक्रम हरदेश, हरदिशा और हरकाल में अप्रतिरुद्ध है, बढ़ती रहे।

इस वचन से किसी भी तरह समुद्रलङ्घन ध्वनित नहीं होता। विद्वद्गण इस तथ्य को समझें।

इस अधिकरण का प्रयोजन पूर्वपक्ष में पतित से दीक्षा को प्राप्त हुए म्लेच्छादि की प्रपत्तिमार्ग से समीहितसिद्धि है तथा सिद्धान्त में उसका अभाव है।

इति पातित्यपेटिकायां सप्तमं शुद्धचरितैरेव म्लेच्छादीनां वैष्णवादि-दीक्षासम्पादनाधिकरणम्।।७।।

अथाष्टमं स्वीकृतवैष्णवधर्माणां म्लेच्छयवनादीनां स्ववर्ग एव विवाहादिव्यवहाराधिकरणम्

इसके पश्चात् विचार किया जाता है कि जिन त्रयीभ्रष्टों ने वैष्णवादिमहामार्ग का परिग्रह कर लिया है उन बौद्धयवनादिकों का विवाहादिव्यवहार वैष्णवाविशिष्टतया अपने वर्ग के अतिरिक्त वैष्णवों में भी हो या पूर्वसिद्ध अपने वर्ग में ही हो? क्या प्राप्त हुआ? अपने वर्ग के अतिरिक्त वैष्णवों में भी हो। कैसे? श्रूयताम्— वैष्णव धर्म में दीक्षित मानव श्रीमन्नारायण से सुसङ्गत होकर भेदभाव से पृथग्भूत और परम समता को प्राप्त हो जाते हैं। अत एव वे मातृपक्ष से पाँचवीं और पितृपक्ष से सातवीं पीढ़ी के बाद कहीं भी सारा वैवाहिकादि व्यवहार सर्वदा करें। बौद्ध, जैन, मूसलमान तथा सारे इसाई भी जिस समय वैष्णव हो जाते हैं उसी समय सारे पातकों से भी मुक्त हो जाते हैं। विष्णु के सम्बन्ध से सर्वपातकविनिर्मुक्त वे उसी समय से ग्राह्य भी हो जाते हैं। इस विषय में वैष्णवाचार्यों की पद्धति में लिङ्ग भी दिखलायी देता है।।१-४।।

वैष्णवों के सम्प्रदाय में दो प्रकार की वैष्णवदीक्षा देखी जाती है। विरक्तदीक्षा और अविरक्तदीक्षा। विरक्तदीक्षा में भी सन्न्यासदीक्षा तथा तद्विभिन्न दीक्षा यथाधिकार दी जाती है। यहाँ पर अविरक्तदीक्षा को लेकर ही विचार का प्रसार है। इसीलिए कि विरक्तदीक्षा में विवाहादिव्यवहार की प्रसक्ति ही नहीं है। वैष्णवों के व्यवहार में पारस्परिक भेद का अभाव होने से साम्य ही दिखायी देता है। अतः सापिण्ड्य को छोड़कर पारस्परिक-विवाहादि व्यवहार में बाधक का अभाव होने के कारण बौद्धों से लेकर म्लेच्छपर्यन्त पुरुषों का त्रयीधर्म में वर्तमान वैष्णवों के साथ विवाहादि व्यवहार न्यायतः प्राप्त है। श्रीविष्णु के सम्बन्ध से सर्वतोभावेन परिशुद्ध बौद्धयवनादिकों की ग्राह्यता सिद्ध ही है। इसीलिए तो वैष्णवों में वर्णादि को लेकर उच्च-नीच के भेदाभिमान का परिवर्जन किया जाता है। जैसा कि आचार्य कहते हैं—'उत्कृष्टवर्ण के वैष्णव जन भी निकृष्टवर्ण के वैष्णवों की सेवा में वैसा ही अनुसरण करें जैसा कि वे करते हैं। विधिविषयक प्रकृष्ट शास्त्रों से विद्वानों को यह सब अभीष्ट है'। (वैष्णवमताब्जभास्कर ४-५६)

अपि च, आचार्य ने सामान्यरूप से ही वैष्णवों के माहात्म्य का प्रतिपादन किया है, जैसा कि वैष्णवमताब्जभास्कर में ही कहा गया है—

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री तथा अन्य भी पञ्च आयुधों से अङ्कित वैष्णव विष्णुरूप हो जाते हैं और सारे संसार को भी पवित्र कर देते हैं। वे महाभागवत वैष्णव, जिनका शरीर सारे तीर्थों का आश्रयभूत है, जिस देश में निवास करते हैं उस देश को अपने दर्शन और अवस्थान से सम्पूर्ण पापों से शून्य बना देते हैं'।।७.५-६।।

भगवत्परायण वैष्णव निष्पाप ही होते हैं जैसा कि वे ही आचार्य कहते हैं— 'भगवान् की पूजा से, उनके चरणोदक के पान से, उनकी संगति से, उनको प्रणाम करने से, उनके प्रसाद के भक्षण से मनुष्यों के करोड़ों जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं'।।७-७।।

इन सारे लिङ्गों से वैष्णवों का पारस्परिक विवाहादिसम्बन्ध उस प्रकार होना चाहिये जैसे वर्णप्रभेद का विगलन हो जाय। तात्पर्य यही है कि वर्णप्रभेद भुलाकर वे अपने से भिन्नवर्ग के वैष्णवों में भी विवाहादि कृत्य करें, न कि अपने वर्ग में ही। इस प्रकार से पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है—

सिद्धान्त

वैष्णवों का भी त्रयी में तथा तन्मूलक अन्य शास्त्रों में पर्याप्त आदर सभी को ही दिखायी देता है। वे भी वेद को सामने रखकर विशुद्ध आचारपरम्परा का विस्तार करते हैं। ऐसी अवस्था में वर्णसाङ्कर्य पैदा करने वाली, सारे संसार में निन्दित, त्रयीधर्म का ही नाश कर देने वाली व्यवस्था उचित नहीं ही है, ऐसा वैष्णवों के आचार से ही ज्ञात होता है। पूर्वपक्षी का जो यह कहना था कि वैष्णव साम्यधर्म में स्थित होते हैं अत: सर्वत्र उनका पारस्परिक सम्बन्ध होना चाहिये? इस पर यही कहा जायेगा कि यहाँ किसी भी प्रकार का दोष नहीं है; क्योंकि पण्डितों की यह अवस्था होती ही है कि वे विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण में, गो में, हाथी में, कुत्ते में, चाण्डाल में समदर्शी होते हैं। इन सारे तथ्यों को स्वयम्भू श्रीकृष्ण ने जीवों के ईशशेषत्वादि की अपेक्षा से निरूपित किया है। इतने मात्र से धर्मत: विद्यमान त्रयीसिद्ध व्यवस्था कथमपि इस लोक में साम्य की दृष्टि से दूषणीय नहीं हो सकती। इन सारे कारणों से त्रयीभ्रष्ट वैष्णवों की विवाहादिक्रिया अपने-अपने कुलधर्म के अनुसार ही अपने वर्ग में ही होनी चाहिये।।५-१२।।

एकादशी, श्रीकृष्णजन्माष्टमी आदि तिथिकाल को छोड़कर स्मार्ताचार में वैष्णव भी समान ही सर्वत्र दिखायी देते हैं। वे सारे महापुरुष श्रुतियों में और

श्रुतिमूलक रामायण, इतिहास, पुराण, संहिता आदि स्मृतिशास्त्रों तथा अन्य धर्मस्थानों में समान ही आदरभाव रखते हैं। जिन एकादशी-तिथि आदि में ऐकमत्य नहीं दिखायी देता वहाँ भी विकल्प स्वीकार कर लेने में कोई बाधा नहीं है। तन्मूलक श्रुतियों के सम्भव होने के कारण ही। बहुत सी व्रीहियवसाधनक याग की विधायिका तथा षोडशीग्रहणाग्रहणविषयक परस्परविरुद्ध श्रुतियाँ दिखायी ही देती हैं जहाँ विकल्पस्वीकार के बिना कोई गति नहीं है। इसी तरह अन्यत्र भी देखना चाहिये। भगवत्कल्प श्रीमद्रामानुज, रामानन्दाचार्य आदि प्रात:स्मरणीय आचार्य श्रुतिविरुद्ध पदार्थों का स्मरण कैसे कर सकते हैं? एवञ्च, वेदों के अनुकूल ही विशुद्ध आचार की परम्परा का निर्वाह करने वाले वैष्णवों में वर्णसाङ्कर्य को उत्पन्न करने वाली, त्रयीधर्म का ही नाश कर देने वाली, सारे लोकों में निन्दित विवाहादिव्यवस्था जो यत्र कुत्रचित् ही दिखायी देती है, कैसे वह उचित कही जा सकती है? अर्थात् वह दुष्ट व्यवस्था किसी भी प्रकार से उचित नहीं है, यह वैष्णवों के आचारों से ही निश्चित होता है। कोई भी वैष्णव अन्तर्जातीय विवाह को मन से भी स्वीकार नहीं करता। प्रत्युत ऐसे कुलधर्मविदारक विवाहों की निन्दा ही करता है। अपि च, अन्तर्जातीय विवाह में वर्णसाङ्कर्य के कारण सारे वर्णों का नाश हो जाने पर हमारे आचार्य वैष्णवों को यह उपदेश कैसे देते कि उन्हें अपने-अपने वर्णधर्म का पालन करना चाहिये। इस प्रकार तो उनका सारा उपदेश ही निरवकाश होने लगेगा। श्रीरामानन्दाचार्यजी कहते हैं—

'भगवत्सेवापरायण, भगवान् के ही शेषभूत वैष्णवजन लोकसंग्रह के लिए वेदबोधित धर्मों का अनुष्ठान करें'। (श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर, ४.५३)

यहाँ विना वर्णविभाग स्वीकार किये वेदबोधित कर्मों का अनुष्ठान सम्भव नहीं होगा। आत्मज्ञानियों का ज्ञान के एक आकार के कारण साम्यदर्शन सजातीयविवाह के नियम से अविरुद्ध ही है। कोई भी व्यवहार शरीरगत वैषम्य को लेकर ही हुआ करता है। शरीर के वैषम्य का प्रतिपादन वैष्णव ही करते हैं। जैसा कि महापुरुष श्रीद्वेदान्तदेशिकार्य का कथन है—'न शरीरगतं वैषम्यं प्रतिषिध्यते, किन्तु तदेवात्र प्रतिपाद्यते। (तात्पर्यचन्द्रिकायाम्, ५-१७)

अर्थात् श्रीकृष्ण के पूर्वोक्त वचन से शरीरगत विषमता का प्रतिषेध नहीं किया जाता, अपि तु उसी का प्रतिपादन होता है। इससे शरीरगत वैषम्य के प्रतिषेधक तथा धर्मनिरपेक्षता के पोषक विहिपादिकों को परास्त समझना चाहिये। आत्मदृष्टि से समत्व तथा शरीर की दृष्टि से वैषम्य को स्वीकार कर लेने पर ब्राह्मणादि में पूज्यत्वादिसाम्यबुद्धि की प्रसक्ति नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि जैसे ब्राह्मण पूज्य

है वैसे कुत्ते आदि पूज्य नहीं होंगे। ततश्च स्मृतियों में प्रतिपादित चाण्डालादि का अभोज्यान्नत्व दोष भी विरुद्ध नहीं होगा। भगवान् श्रीकृष्ण भी जीवों को श्रीमन्नारायण का शेष (सेवक) मानकर ही साम्य का कथन किये हैं। उन्होंने शरीरप्रयुक्त वैषम्य का तथा सकल लौकिक-वैदिक दोनों व्यवहारों का शास्त्रों का अतिक्रमण न करते हुए समर्थन ही किया है।

इस प्रकार आत्मदृष्टि से समता का प्रतिपादन होने पर भी धर्मतः और न्यायतः विद्यमान व्यवस्था का अपलाप करना सम्भव नहीं होगा। तथा च, त्रयीमार्ग से अत्यन्त भ्रष्ट जो म्लेच्छादि वैष्णवधर्म स्वीकार कर लिए हैं, वे शास्त्रों से अविरुद्ध अपने कुलधर्म के अनुसार ही वैसे विवाहादिव्यवहार करें जैसे लोक में व्यवस्थित वर्णाश्रमधर्म का विरोध न हो।

इस अधिकरण का प्रयोजन पूर्वपक्ष में धर्म का विलोप तथा सिद्धान्त में उसका अभाव ही है।

इति पातित्यपेटिकायामष्टमं स्वीकृतवैष्णवधर्माणां म्लेच्छयवनादीनां स्ववर्ग एव विवाहादिव्यवहाराधिकरणम्।।८।।

●

अथ कृत्वाचिन्तायां नवममार्यावर्तस्थितानामेव पतितानां म्लेच्छादिदीक्षाप्रदेयत्वाधिकरणम्

इसके पश्चात् तीन अधिकरण कृत्वाचिन्तान्याय से प्रस्तुत किये जाते हैं— म्लेच्छादिकों की दीक्षा पतितों के द्वारा ही सम्पादित हो, इस पक्ष में पतितगण म्लेच्छों को दीक्षा देने के लिए समुद्रलङ्घनपूर्वक म्लेच्छदेशों की यात्रा करें कि न करें? कौन सा पक्ष प्राप्त हुआ? दीक्षा देने के लिए पतितों को म्लेच्छदेशों में जाना ही चाहिये। क्यों? वैष्णवादिमहामार्ग में आदरसम्पन्न म्लेच्छादि यदि भारत आने में असमर्थ हैं तब शुद्ध पुरुषों के लिए म्लेच्छदेशों के अगम्य होने के कारण पतित ही आदरपूर्वक म्लेच्छों के देशों में जाकर प्रयत्नपूर्वक उनको वैष्णवी दीक्षा दें। यदि पतित किसी भी प्रकार से परोपकार में हेतु बनते हैं तो उनके लिए समुद्रलङ्घन की पुनः पुनः अनुज्ञा है ही। इस प्रकार पुनः पातित्य दोष की प्रसक्ति भी उनमें नहीं होगी तथा विहिपादि धर्मनिरपेक्ष दलों में उनकी स्थिति भी मजबूत हो जायेगी। पूरी पृथ्वी को वैष्णव बनाने के लिए पतितों को पुनः पुनः समुद्रलङ्घन करना ही चाहिये, ऐसा पूर्वपक्षप्राप्त होने पर इस प्रकार सिद्धान्त का कथन किया जाता है—

सिद्धान्त

लौकिक अशुद्धि के विद्यमान रहने पर भी प्रायश्चित्त से होने वाली पारलौकिकी शुद्धि तुम्हारी युक्ति से विरुद्ध होगी। जिसके लिए वैष्णवधर्म का भूतल में उपदेश है उसी का ध्वंस समुपस्थित होने पर मानवजन्म ही वृथा हो जायेगा। एवञ्च परोपकार के पिण्ड को माध्यम बनाकर भी सर्वथा पतितों का पुनः समुद्रलङ्घन नहीं होना चाहिये, यह बात सिद्ध हुई। इस सारी पृथ्वी को वैष्णवादिमहामार्गों से सम्पन्न वे ही पतित करें जो आर्यावर्त में ही स्थित हैं। विहिपादि दलों में समाविष्ट, अपने ही कर्तव्य से विमुख पुरुषों की इस लोक में सत्ता भी अशोभनीय है। कौन सचेता होगा जो अपने दोनों लोकों का नाश करने के लिए उसमें प्रविष्ट होगा? इस अधिकरण का प्रयोजन पूर्वपक्ष में स्वेच्छाचार का प्रवर्तन और सिद्धान्त में उसका अभाव ही है॥७-१०॥

इति पातित्यपेटिकायां कृत्वाचिन्तायां नवममार्यावर्तस्थितानामेव पतितानां म्लेच्छादिदीक्षाप्रदेयत्वाधिकरणम्॥९॥

अथ कृत्वाचिन्तायां दशमं म्लेच्छादीन् दीक्षयितुं विरक्तवैष्णवानामेव तद्देशगमनाधिकरणम्

रामानन्दीय वैष्णवों के लिए भारत में तीर्थों में ही निवास का स्मरण होने से समुद्रलङ्घन अप्राप्त ही है। श्रीमच्छङ्कराचार्य, दण्डी तथा दशनामी सन्न्यासी त्रयी का ही अनुशीलन करते हैं, अतः उनके लिए भी किसी भी प्रकार से समुद्रलङ्घन अनुमत नहीं हो सकता। जिन वैष्णवों को इस आचार्यदेश का अभिमान है कि समुद्रलङ्घन करना चाहिये, उन रामानुजीय वैष्णवों के लिए ही यह विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

कुछ रामानुजीय—

> 'सर्वदेशदिशाकालेष्वव्याहतपराक्रमा।
> श्रीरामानुजदिव्याज्ञा वर्धतामभिवर्धताम्।।
> माता तु कमला देवी पिता देवो जनार्दनः।
> बान्धवा विष्णुभक्ता श्च स्वदेशो भुवनत्रयम्'।।

इन दोनों श्लोकों के आलम्बन से समुद्रलङ्घन की अभ्यनुज्ञा स्वीकार करते हैं। प्रामाणिक विद्वान् इनको भ्रमग्रस्त मानते हैं। इसीलिए कि उक्त दोनों श्लोकों से समुद्रलङ्घन की अभ्यनुज्ञा की प्रतीति नहीं होती। सारे देशों में और सारी दिशाओं में श्रीमद्रामानुजाचार्य जी की श्रीमद्भगवद्नारायण के चरणकमलों की सेवा करने के लिए प्राप्त आज्ञा अन्यथा (विना समुद्रलङ्घन के) उपपन्न ही नहीं होगी, अतः समुद्रलङ्घन की कल्पना होगी ही? कथमपि नहीं होगी। लोकोत्तर प्रभावों से सम्पन्न महापुरुषों की वैसी दिव्याज्ञा समुद्रलङ्घन के विना भी उपपन्न हो सकती है। अन्यथा उनकी आज्ञा की दिव्यता कैसे सिद्ध होगी? श्लोक से भी पूरी पृथ्वी में वर्तमान जनों के लिए भगवद्भक्ति और उसके द्वारा भगवत्प्राप्ति की कामना करने वाले श्रीमदाचार्य की लोकोत्तर सदाशयता ही ध्वनित होती है। द्वितीय श्लोक के द्वारा भी भगवान् के भक्तों की श्रेष्ठता उनकी भावना की उदात्तता के प्रतिपादन के द्वारा प्रतिपादित होती है। यदि आचार्य की वेदादि सकल शास्त्रों से प्रतिषिद्ध वस्तु में उसके अतिक्रमण की अभ्यनुज्ञा होती भी है तो उसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इसीलिए कि उनकी अभ्यनुज्ञा का अन्य शास्त्र से विरोध होगा। तथा च,

त्रैवर्णिकों के लिए समुद्रलङ्घन कुत्ते के मुख में स्थित दुर्गन्धयुक्त मनुष्य के मांसखण्ड के समान अमेध्य ही सिद्ध होगा। ऐसा सिद्ध हो जाने पर भी जो लोग म्लेच्छों को वैष्णवी दीक्षा देने के लिए समुद्रलङ्घन की वैधता स्वीकार करते हैं उनके लिए ही यह विचार है, इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिये।

उस पक्ष में यह संशय होगा कि क्या ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और सन्यासी सभी को ही समुद्रलङ्घन करना चाहिये अथवा जिन्होंने गृहस्थाश्रम को स्वीकार नहीं किया है, ऐसे विरक्तों को ही? क्या प्राप्त हुआ? चतुराश्रमी सारे वैष्णवों को समुद्रलङ्घन करना चाहिये, यही पक्ष उचित है। कैसे?

संसार में समुद्रलङ्घन की अभ्यनुज्ञा यदि वैष्णवाचार्यों को अभीष्ट है तो सभी वैष्णव चतुराश्रमियों को समुद्रलङ्घन करना चाहिये। जिनका चित्त भगवत्प्रपत्ति में लीन है, ऐसे वैष्णवों के लिए धर्मज्ञसमय का उल्लङ्घन तथा अन्यान्य प्रतिषिद्ध कर्मों का आचरण भी पातक नहीं माना जायेगा। वैष्णवों के जिस एकमात्र समुद्रलङ्घन कर्म से वेदबाह्य म्लेच्छयवनादि भी अपने कुमार्गों का परित्याग करके अधोक्षज भगवान् नारायण का भजन करने लगें वह कर्म पातक कैसे हो सकता है? महनीय आचार्यों के द्वारा किया गया वह समुद्रलङ्घन पातक नहीं ही होगा। अत एव हमारी दृष्टि में उससे बड़ा कोई धर्म पृथ्वी पर न सुना जाता है और न ही देखा जाता है। अतः सारे उन महाशठ म्लेच्छादिकों को नारायणपरायण बनाने के लिए वैष्णवत्व से अविशिष्ट होने के कारण चारों आश्रम वाले वहाँ पर जाँय जहाँ म्लेच्छादिगण निवास करते हैं। यदि वहाँ जाने की इच्छा त्रिदण्डी विरक्त नहीं करते तो गृहस्थ वैष्णव सत्पुरुषों के धर्म का अनुस्मरण करते हुए सर्वथा गमन करें। म्लेच्छयवनादिकों को दीक्षा देने से गृहस्थ वैष्णवों की धनलाभ से जो समृद्धि होगी वही विशेषतः प्रयोजनवती होगी, अतः गृहस्थों को ही जाना चाहिये। नैष्ठिक व्रत को धारण कर लेने वाले जिन वैष्णवों की धनपिपासा शान्त नहीं हुई है वे भी विशेष धन की इच्छा से परोपकार करना चाहते हैं तो शीघ्र ही सादर म्लेच्छदेशों में गमन करें। सर्वथा गार्हस्थ्य धर्म में स्थित वैष्णवों के लिए समुद्र का विलङ्घन न्यायतः प्राप्त ही है, ऐसा पूर्वपक्ष खड़ा होने पर सिद्धान्तपक्ष का उपपादन इस प्रकार होगा—

सिद्धान्त

वैष्णवों के लिए समुद्रलङ्घन की अभ्यनुज्ञा होने पर भी गृहस्थ वैष्णवों को समुद्रलङ्घन नहीं करना चाहिये, ऐसा आप समझें। समुद्रलङ्घन करने पर त्याज्यत्वरूप अशुद्धि जो बनी रहती है वह गृहस्थों में भी व्यवस्थित होती हुई

दुष्टरोग के समान उनकी सन्तति में भी जाती है। विरक्त तो समाज से स्वत: ही बहिर्भूत होते हैं, अत: उनमें त्याज्यता आने पर भी उनकी किसी भी प्रकार की हानि नहीं है। वैष्णव हो जाने पर भी समुद्रलङ्घन या अन्य निषिद्ध कर्म करने से पातकता की प्रसक्ति उनमें होगी ही। पुरुषों के लिए धर्म सदा धर्म ही रहता है तथा पातक भी पातक ही रहता है। एवम् जो वस्तु वेदों से व्यवस्थित है वह विपरीत कैसे हो सकती है? श्रेय के लिए अथवा प्रेय के लिए ही जो मर्यादा शास्त्रों में उपदिष्ट है उस मर्यादा का आदर करते हुए विद्वज्जन वेदबाह्यों का परिग्रहण करें। एक अङ्ग में विद्यमान दोष यदि सारे अङ्गों में फैलता है तो हितकारियों को चाहिये कि वे उस दोष की प्रसक्ति को ही रोक दें। इसी प्रकार यदि कोई एक ही विरक्त दोषवान् हो जाता है तो उस दोष के एक में ही सीमित रहने से कदाचिद् वह क्षम्य भी हो जायेगा। तत: त्याज्यतादोष के विद्यमान रहने पर भी विरक्त ही म्लेच्छों को दीक्षित करने के लिए वहाँ जाँय जहाँ म्लेच्छ रहते हैं। विरक्तातिरिक्त कोई भी वहाँ न जाय। गृहस्थाश्रम के श्रेष्ठ होने के कारण उसमें न्यायत: द्रव्यसंग्रह से ही धर्मानुष्ठान की सिद्धि होती है। ऐसी अवस्था में गृहस्थ म्लेच्छों से धन लें, यह उचित नहीं। उस धन से भला कौन सा प्रयोजन सिद्ध होगा जो धर्म को ही बाधकर आता है तथा जिससे श्रेय का भी ध्वंस हो जाता है? वही धन धन होता है जो धर्म से दूर नहीं होता। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि वैष्णवाचारमर्यादा के परिपालन में स्पृहा रखने वाले विरक्त ही म्लेच्छों के देश में जाने के लिए अर्ह हैं॥१-२०॥

इस अधिकरण का प्रयोजन पूर्वपक्ष में वर्णाश्रमधर्म का ही लोप कर देना तथा सिद्धान्त में उसको बनाये रखना है। अथवा वर्णाश्रमधर्म की अधिकारिता का विलोप पूर्वपक्ष में प्रयोजन तथा सिद्धान्त में उसका अभाव ही होगा, ऐसा यथायोग्य स्वयं वितर्क कर लेना चाहिये।

इति पातित्यपेटिकायां कृत्वाचिन्तायां दशमं म्लेच्छादीन् दीक्षयितुं विरक्तवैष्णवानामेव तद्देशगमनाधिकरणम्।।१०।।

●

अथ कृत्वाचिन्तायामेकादशं म्लेच्छाधिगतधनस्य धनहीनेषु शूद्रेषु वितरणाधिकरणम्

इसके पश्चात् म्लेच्छयवनादि को दीक्षा प्रदान करने पर उनसे प्राप्त धन के उपयोग के विषय में विचार अवसरप्राप्त है। क्या विरक्त वैष्णव म्लेच्छादि से प्राप्त धन का उपयोग अपने आश्रम की समृद्धि को बढ़ाने में करें अथवा गृहस्थों को दे दें? उसमें भी उस धन को दान का पात्र होने से ब्राह्मण ही लें या क्षत्रियादि भी, किं वा शूद्र ही लें? यहाँ पर पूर्वपक्षी का अभिप्राय है—

म्लेच्छों को दीक्षा देने से उनसे जो कुछ भी धन विरक्त, सदाचारी वैष्णवों को प्राप्त होगा उसमें उनका ही स्वत्व प्रतीत होता है। मठाराम के विस्तार में, यानद्वारा तीर्थयात्राओं में तथा यागादिकार्यों में अत्यधिक धन की अपेक्षा होती है। विरक्त वैष्णवों में दान का अवसर न होने से वे अपने म्लेच्छप्राप्त धन का उपयोग अपनी समृद्धि के विस्तार में ही करें॥१-३॥

सिद्धान्त

पूर्वपक्षी का यह कथन सर्वथा सारहीन या तुच्छ है; क्योंकि उस धन से उनकी विरक्ति ही बाधित होने लगेगी। अत: म्लेच्छों से प्राप्त सकल धन को वे ब्राह्मणों को दे दें; क्योंकि दान का पात्र होने से वे सारे धन को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। दूसरा पक्ष यहाँ यह भी है कि उस धन से ब्राह्मणों का धर्म बाधित होगा, अत: वे नहीं ले सकते। क्षत्रिय और वैश्यों में उस धन का वितरण किया जायेगा तब भी उसी दोष की प्रसक्ति होगी; क्योंकि वे भी त्रैवर्णिक होने से अग्निहोत्रादि विशेष धर्मों के अधिकारी होते हैं। अत एव वह म्लेच्छों का सारा धन न्यायत: उन शूद्रों को प्राप्त होना चाहिये जो निर्धन हैं॥४-७॥

इस अधिकरण का भी प्रयोजन पूर्वाधिकरण की तरह ही पूर्वपक्ष में सनातनमर्यादा का विलोप और सिद्धान्तपक्ष में उसका अभाव ही होगा जो कि पूर्वोत्तरपक्षों से ही उक्तप्राय हैं।

इति पातित्यपेटिकायां कृत्वाचिन्तायामेकादशं म्लेच्छाधिगतधनस्य धनहीनेषु शूद्रेषु वितरणाधिकरणम्॥११॥

अथ द्वादशं व्यवस्थयाऽऽश्रमधर्मस्वीकरणाधिकरणम्

कृत्वाचिन्ता का यह प्रसङ्ग समाप्त हुआ। इसके बाद स्वीकृतवैष्णवमार्ग पतितों की तथा अन्य अपतितों की भी आश्रमव्यवस्था का विचार किया जाता है। यद्यपि कलियुग में वानप्रस्थाश्रम परिवर्जित है। ततः परिशेषतः वानप्रस्थाश्रम को छोड़कर तीन आश्रमों को लेकर ही विचार किया जाता है। क्या सभी को यथारुचि सारे आश्रमों को ग्रहण करना चाहिये अथवा यथाशास्त्र व्यवस्था से ग्रहण करना चाहिये? क्या प्राप्त हुआ? सभी को यथारुचि सारे आश्रमों को ग्रहपा कर लेना चाहिये। कैसे?

वेदाध्ययन कार्य के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम व्यवस्थित है। उसके बाद धर्म की सिद्धि के लिए गार्हस्थ्य की व्यवस्था है। उसके बाद कलियुग में वह सन्न्यासधर्म आता है जिसके माध्यम से मानव ब्रह्म में लीन हो जाता है। यदि वैराग्य हो जाय तो पूर्वोक्त क्रम का त्याग करके भी सन्न्यासाश्रम स्वीकार किया जा सकता है। वैष्णवादिविधा में भगवद्भक्ति की सिद्धि के लिए इस समय ब्रह्मचर्य और सन्न्यास को स्वीकार किया जाता है। प्रजातन्तु के विस्तार के लिए या रतिक्रिया की सिद्धि के लिए पिता के आदेश से पुरुष गार्हस्थ्य को भी स्वीकार करते हैं। गृहस्थाश्रम से जुड़े रहने पर भी कुछ महापुरुष निष्ठापूर्वक अधोक्षज नारायण का भजन करते हैं। प्रयत्न करने पर भी जिन्हें पत्नी का लाभ नहीं मिलता वे नैष्ठिक आश्रम को ही स्वीकार करके उस नारायण का ही भजन करते हैं। इस प्रकार से देखने पर आश्रमों की व्यवस्था स्वेच्छया प्रतीत होती है कि जो जैसा चाहे वैसा ही आश्रम ग्रहण कर ले। कोई नियम विशेष न होने के कारण व्यवस्था से आश्रमों की ग्राह्यता सिद्ध नहीं होती, अतः स्वेच्छा से ही आश्रमों को स्वीकार कर लेना चाहिये। सारे के सारे ब्राह्मणादि वर्ण या उनसे अतिरिक्त म्लेच्छादि भी स्वेच्छा से या अन्य की इच्छा से आश्रमों को स्वीकार करें। व्यवस्था (नियम) का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है॥१-८॥

धर्म के विषय मानव मात्र होते हैं, अतः गार्हस्थ्य में धर्मानुष्ठान की योग्यता के सम्पादन के लिए अधिकार का अतिक्रमण न करते हुए पहले ब्रह्मचर्य आवश्यक है। यद्यपि वेदाध्ययन में ही 'ब्रह्मचर्य' शब्द की मुख्यता है तथापि लोक

में वेदाध्ययन के निमित्त किये जाने वाले व्रत-इन्द्रियसंयम आदि अर्थों में गौणीवृत्ति से प्रयुज्यमान होता दिखायी देता है। एतदर्थ ही कहा गया है—

'वेदाध्ययनकार्यार्थं ब्रह्मचर्यं व्यवस्थितम्'।

जिसने वेदाध्ययन और वेदार्थविचार कर लिया वे उस गार्हस्थ्य आश्रम को स्वीकार करते हैं शास्त्रों में जिसकी 'दुष्कर' संज्ञा प्राप्त होती है। उस दुष्कर गृहस्थाश्रम में प्रतिषिद्ध कर्मों का परिवर्जन करते हुए नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान में व्यग्रचित्त पुरुष आवश्यक होने से तथा धर्म भी होने से प्रजातन्तु के विस्तार के साथ-साथ काम्य कर्मों का भी अनुष्ठान करता है। 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छैत्सी:' अर्थात् 'प्रजातन्तु का व्यवच्छेदन मत करो' ऐसा तैत्तिरीयों का आम्नान (उपदेश) भी है। इसीलिए सन्तान का विस्तार भी धर्म के ही अन्तर्गत आता है यदि वह यथाशास्त्र सम्पादित हो। अशेष गृह्य कृत्यों का परिसमापन करके मुनि के आचारों से सम्पन्न वानप्रस्थ-आश्रम कलिव्यतिरिक्त युगों में स्वीकार किया जाता है। उसके बाद चौथी अवस्था में चतुर्थ सन्न्यास-आश्रम स्वीकार करके अपने परिमित प्रमातृत्व का विगलन करके यथोपदेश ब्रह्म ही हो जाता है, ऐसा वेदान्तियों का कहना है। इस क्रम को स्वीकार करने पर ही नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है, ऐसा शास्त्रज्ञों का कथन है। इस क्रम का परित्याग करके ब्रह्मचर्य से ही जो सन्न्यास ले लेते हैं उनके सामने पदे-पदे विघ्न समुपस्थित होता है। भगवत्कृपा से इस प्रकार का कोई ही पुरुष सारे विघ्नों को पार करता हुआ 'कश्चिद् मां वेत्ति तत्त्वत:' इस न्याय से परमपदवी को प्राप्त करता है। अन्य प्राय: कीचड़ में गौवों की तरह थौंस जाते हैं प्रपञ्च का विस्तार करते हुए। सन्न्यास में ब्राह्मण ही अधिकृत होता है। ब्राह्मणों से अतिरिक्त क्षत्रियादि और स्त्रियाँ भी सन्न्यास को स्वीकार करके पतित हो जाती है, ऐसा सकल शास्त्रों का निष्कर्ष है। यह त्रयी की व्यवस्थापित विधा है। वैष्णवविधा में यह व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकती। वहाँ पर भगवद्भक्ति के परिपोषण के लिए ही ब्रह्मचर्य और संन्यास को स्वीकार किया जाता है। गृहस्थाश्रम में प्रजातन्तुविस्तार और रतिसिद्धि के साथ-साथ ही भगवद्भक्ति भी होती है। कुछ महानुभाव पत्नी का लाभ न होने पर नैष्ठिकव्रत और सन्न्यास को स्वीकार कर लेते हैं। अपि च, वैसे भी महापुरुष दिखलायी दते हैं जो केवल महन्त बनने के लिए ही संन्यास स्वीकार कर लेते हैं। वे धर्मनिरपेक्षता के परिपोषक ही होते हैं तथा सर्वधर्मसमभाव के सिद्धान्त को स्वीकार करके केवल सम्पत्ति का ही अर्जन करते हैं। तथा च, अन्य कोई इस समय की राजनीति में जनाधार के सम्पादन के लिए ही संन्यास लेते हैं और मन्त्रिपद भी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के सारे

लोग यथापेक्ष राजनैतिक दल में समाविष्ट हो जाते हैं। वैसे भी संन्यासी भारत में दिखायी देते है जो स्त्रीपरिग्रह को वैध मानकर प्रजातन्तु का विस्तार करते हैं। उन संन्यासियों के सत्पुत्र श्रीमद्भागवत के कथाप्रवचन में संलग्न दिखलायी देते ही हैं। वृन्दावनादि तीर्थों के अन्दर प्रमददभक्त्याश्रमादि में यह सब देखा जा सकता है। कुछ भद्रपुरुष अपने आचार्यत्व के ख्यापन के लिए असूया से ही त्रिदण्डादि को धारण कर लेते हैं। इसीलिए तो एक ही पीठ में विवादग्रस्त बहुत से आचार्यों का भूयोभूयः दर्शन होता है। यह विवाद केवल वैष्णव पीठों में ही नहीं है, अपि तु शङ्कराचार्य-पीठों में भी विद्वेष और लोभादि के कारण है, यह तथ्य सर्वलोक के लिए अविदित नहीं है। यहाँ पर विद्वत्समुदाय भी मौन स्वीकार करके प्रतिपक्षिगुह्यप्रवेशन्याय को अङ्गीकृत व्यवहार कर रहा है। सर्वथा इस प्रकार से आश्रमव्यवस्था की प्रतीति नहीं हो रही है। ऐसी स्थिति में कोई कहता है—

लोकव्यवहार को ही देखकर आप बोल रहे हैं। यह युक्तिसंगत नहीं लग रहा है। आप को शास्त्रदृष्टि होना चाहिये। शास्त्र का अतिक्रमण न करते हुए बोलना ही चाहिये। शास्त्र तो व्यवस्था का ही प्रतिपादन करता है। यदि ऐसी बात है तो आप को अव्यवस्थाप्रतिपादन का व्यसन त्याग देना चाहिये। ऐसा तुम मत बोलो! हमारा न्यायानुगत ही विचार है न कि न्याय से बाहर। वैष्णवमार्ग में श्रीमन्नारायण की प्रपत्तिसिद्धि ही परमप्रयोजन के रूप में व्यवस्थित है। वह प्रपत्ति जिस किसी भी विधा से प्राप्त हो उसी विधा से प्राप्त होनी चाहिये। यदि वह प्रपत्ति गृहस्थाश्रम से सिद्ध होती हो तो गृहस्थाश्रम ही ग्राह्य है। दूसरे आश्रमों में प्रपत्ति की सिद्धि होने पर उन आश्रमों की ही ग्राह्यता होनी चाहिये। प्रपत्ति के अधिकारी सारे मानव होते हैं, यह बात वैष्णवागम और वैष्णवाचार्यों के वचनों से ही निश्चित होती है। जैसा कि भरद्वाजसंहिता में है—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ तथा अन्त्यज, ये सारे मानव चराचर के विधाता अच्युत की प्रपत्ति करें। बाल, मूक, जड़, अन्धे, लँगड़े, बहरे भी आचार्य से आदेशित होकर परम गति को प्राप्त करते हैं।

अगस्त्यसंहिता में भी कहा गया है—

'पतिव्रता स्त्रियाँ तथा अन्य अनुलोमज, प्रतिलोमज चाण्डालपर्यन्त सभी यहाँ प्रपत्ति के अधिकारी हैं'।

वृद्धहारीतस्मृति में भी वचन है—

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्रियाँ, शूद्र तथा अन्य म्लेच्छादि भी यदि सत्त्वशील गुणों से सम्पन्न हैं तो भगवत्प्रपत्ति के अधिकारी होते हैं'।

इन सकल आगम के वचनों को हृदय में धारण करके ही आचार्यपाद ने कहा है—

'सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणः सदा शक्ता अशक्ताः पदयोः जगत्प्रभोः।
अपेक्ष्यते तत्र कुलं बलञ्च नो न चापि कालो न च शुद्धतापि वै'।।

इस प्रकार भगवान् की प्रपत्ति के उपाय के रूप में स्थित आश्रमों की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती। तथा च, ब्राह्मणों से लेकर म्लेच्छपर्यन्त सभी मानव यथारुचि आश्रमों को स्वीकार करें, ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर यह सिद्धान्त कहा जाता है—

सिद्धान्त

इस पृथ्वी पर इच्छाप्रयुक्त आश्रमों की स्थिति नहीं है। वैष्णवों के समाज में भी श्रुतिप्रतिपादित ही धर्म ग्राह्य है। इस कलियुग में ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रम में क्षत्रिय-वैश्यों की संस्थिति क्रमशः कही गयी है। संन्यास में कभी भी इनका अवस्थान सम्भव नहीं है। संन्यास-आश्रम विद्यावैराग्यशाली ब्राह्मणों के लिए ही श्रुतियों में दृष्ट है। शूद्र केवल गृहस्थाश्रम के ही भागीदार होते हैं। एवञ्च, जो त्रयीभ्रष्ट मनुष्य हैं वे निष्ठापूर्वक एक मात्र गृहस्थाश्रम को स्वीकार करके पुरुषोत्तम का भजन करें। यदि वे दैवयोग से गृहस्थाश्रम में नहीं आ पाते तब कण्ठी स्वीकार करके यथारुचि जीवन व्यतीत करें। जो नर गृहस्थाश्रम को स्वीकार करके भी पत्नी को छोड़ सन्न्यास स्वीकार कर लेते हैं वे सभी घोर नरक में जाते हैं, ऐसा श्रुतियों में कहा गया है। गार्हस्थ्य आश्रम का लङ्घन करके भी जो संन्यास में जाते हैं वे विष्णु की माया से गृहीत होकर परम पद को प्राप्त नहीं कर पाते। अतः पूर्वाश्रम से ही वे संन्यास को ग्रहण करें जो तीनों एषणाओं से मुक्त होकर अपनी तपःश्री से समुपेत रहते हैं। गार्हस्थ्य को प्राप्त करके भी जो एक मात्र प्रपञ्च के विस्तार में लगे रहते हैं तथा गृह्य कृत्यों से अलग होते हुए दानादि धर्मों से भी वञ्चित हैं और जिनका हृदय भी भगवद्भक्ति से शून्य है, वे सारे वैभव में व्यस्त रहने वाले नरक में ही गिरते हैं। इस प्रकार व्यवस्था से जो सनातन आश्रम सिद्ध हैं उन्हें ही यथाशास्त्र स्वीकार करके आदरपूर्वक भगवान् की भक्ति करनी चाहिये। भगवद्भक्ति की इच्छा से विद्याविशारद उन ब्राह्मणों को ही समय पर संन्यास लेना चाहिये जिन्होंने नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान कर लिया है। कहीं पर वह संन्यास ब्रह्मचर्य से ही या गृहस्थाश्रम से उन ब्राह्मणों के द्वारा ग्राह्य होता है जिनके पास वैराग्य वैभव होता है और जिनका कषाय परिपक्व हो जाता है। यदि अपने धर्म से विमुख होकर कहीं क्षत्रिय,

वैश्य, शूद्र तथा स्त्रियाँ भी संन्यास लेती हैं तब वे सारे स्वधर्म से ही परिभ्रष्ट होकर घोर रौरवनरक में पुनः पुनः गिरते हैं। यह सिद्धान्त का निष्कर्ष है जिसे शास्त्रदृष्टि से मैंने यहाँ प्रस्तुत किया है। उन क्षत्रियादि महानुभावों को ठीक से गार्हस्थ्य धर्म का ही परिपालन करना चाहिये, ऐसा श्रुतियों में लिङ्ग दिखायी देता है और स्मृतियों में भी कहा गया है। इस प्रकार गृहीतवैष्णवधर्म बौद्धम्लेच्छादिकों को चाहिये कि वे स्वप्न में भी भिक्षुधर्म का परिग्रह न करें यदि वे अपना कल्याण चाहते हैं।।१-२५।।

वैष्णवों के लिए या अन्यों के लिए भी श्रुति से बाह्य कोई धर्म नहीं है जिससे कि अव्यवस्थापूर्वक ही कोई कार्य हो। सारी वैदिक व्यवस्था वैष्णवों के समाज में भी है, यह बात उक्तप्राय है। यद्यपि इस समय क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचर्यापरनामधेय वेदाध्ययन करके गृहस्थाश्रम को स्वीकार नहीं करते। ब्राह्मण भी प्रायः वैसे ही देखे जाते हैं। ये सारे लोग आधुनिक शिक्षा के व्यामोहग्राह से ग्रस्त हैं जो येन केनापि प्रकारेण जीविका प्राप्त करके रति-सन्तान तथा धन के विस्तार के लिए स्त्रीपरिग्रह करते हैं। वेदाध्यन की परिपाटी ब्राह्मणों में ही जहाँ कहीं प्रचलित है। जैसा अन्यत्र वेदाध्ययन प्रचलित है वैसा वैष्णवों में भी विशेषतः रामानुजीय सम्प्रदाय में है। इस प्रकार क्षत्रिय और वैश्यों में ब्रह्मचर्यग्रहण अकिञ्चित्कर ही है तथापि वे यथासंस्कार रहते हुए वेदाध्ययन कर सकते हैं। गृहस्थाश्रम में भी कुछ लोग ही सारे धर्मों का पालन करते हैं। गृहस्थाश्रम में प्रायः धनसंग्रह तथा जिस किसी मार्ग से परिवार का पोषणादि ही धर्म के रूप में सुशोभित है। ऐसी परिस्थिति में संन्यास की चर्चा ही बहुत दूर है। आश्चर्य है कि आज सन्न्यासनामक भिक्षुमार्ग को स्वीकार करके सारे वर्ण अपने अपने धर्म से पराङ्मुख दिखायी देते हैं। स्त्रियाँ भी आज पुरुषों की तरह सन्न्यासिनी तथा सांख्ययोगिनी बन रही हैं। इन सारी विधाओं में अनधिकृत चेष्टा ही मूल है न कि शास्त्र। इसी प्रकार उन बौद्ध और म्लेच्छादि वर्गों में भी, जो वैष्णवादिधर्म स्वीकार नहीं किये हैं, भिक्षुमार्ग में वर्तमानता देखी जा सकती है जो केवल नरकतमिस्रा में परिपतन का कारण है। जिस संन्यास में ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य धर्म से सम्पन्न, विद्या-वैराग्य तथा तपस्या से परिपूर्ण ब्राह्मणों का ही अधिकार है उसमें ब्राह्मणेतरों की प्रवृत्ति अनर्थभूत ही है, इस विषय में शास्त्र ही प्रमाण है। कलियुग में वानप्रस्थ को छोड़कर तीनों आश्रमों में अधिकार ब्राह्मणों का ही है। शूद्रादि केवल गृहस्थाश्रम के ही अधिकारी हैं जो—

'विवाहमात्रसंस्कारं शूद्रोऽपि लभतां सदा'।

इस वचन से निश्चित होता है। 'शूद्रोऽपि' में 'अपि' शब्द से गृहीतवैष्णवधर्म म्लेच्छादि का भी ग्रहण हो जाता है। मध्य में भी संन्यास का परिग्रह उन ब्राह्मणों के लिए ही है जिनके पास गुरुओं के अनुग्रहादि से उत्कट वैराग्य की सम्पत्ति है। ब्राह्मणभिन्न क्षत्रियादि का संन्यासपरिग्रह नरकपात का ही हेतु है, इत्यादिप्रकारक कारिका के श्लोक व्याख्यातप्राय ही हैं। अनधिकारचेष्टा पातित्य की प्रयोजिका होती है, इस बात को ध्वनित करने के लिए ही पेटिकाग्रन्थ में इस विचार का अवसर है।

इन सारे सिद्धान्तों के दृढ़ होने पर भी कुचोद्य करने वाले इस प्रकार से कुचोद्य करते हैं—अधिकार की सिद्धि में लोकव्यवहार ही कारण है। लोक में तो स्वेच्छा से ही संन्यास का परिग्रह देखा जाता है, अतः सभी के अधिकार का ही निश्चय होना चाहिये। श्रुति भी—

'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'।

ऐसा कहती हुई संन्यास में केवल ब्राह्मण को ही निर्देशित नहीं करती। वह तो केवल वैराग्य को ही संन्यास में कारण मान रही है। पूर्वजन्म के अभ्यास तथा तपःक्रियाओं से मानवमात्र को वैराग्य हो सकता है, अतः ब्राह्मणों का ही केवल संन्यास में अधिकार है, आप का यह कथन विद्वेषमूलक ही है। मत हो शूद्रों का तथा वैष्णवी दीक्षा को स्वीकार कर लेने वाले बौद्ध-जैन-यवन-म्लेच्छों का संन्यास में अधिकार क्योंकि इनका वेदाध्ययन में अधिकार नहीं है, यदि ऐसा आप मानते हैं तो द्विजोपाधिधारी त्रैवर्णिकों का वह सिद्ध होता ही है। इस पक्ष में शास्त्रानुकूलता भी है। जैसा कि याज्ञवल्क्य कहते हैं—'वेदाध्ययन कर लेने वाले, मन्त्रों का जप करने वाले, पुत्रवान्, अग्निकार्यों से सम्पन्न तथा अपने सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ-दान करने वाले लोग ही मोक्ष या तत्साधन संन्यास में मन लगायें, अन्यथा नहीं'।

यम का भी कुछ ऐसा ही स्मरण है—

'पुत्रवान् या गृहस्थ, अपने मन को काबू में रखने वाले, जितेन्द्रिय, निःस्पृह तथा सारी कामनाओं से कृतकृत्य लोग ही संन्यास लें'।

इसी प्रकार शङ्ख और लिखित ऋषियों का कहना है—

'विषयों से दूरतः अपनी इन्द्रियों को समेटने वाले, मन से अपने अन्दर के शत्रुओं का निरास करके आत्मा में ही रमण करने वाले, योगाभ्यास से प्राप्तस्वरूप, बन्धनों से मुक्त, निःसङ्ग, ब्रह्मचारी, व्रतों को धारण करने वाले तथा इन सारे गुणों

से युक्त गृहस्थ भी संन्यास के पहले अपना सारा धन दान करके यज्ञ का सम्पादन करें। इसके बाद ही द्विज अपने अग्नियों को आत्मा में आरोपित करके ब्रह्माश्रमी अर्थात् संन्यासी बनें। वे द्विज वेदतत्त्वों का अध्ययन करने के बाद यदि गृहवास में समर्थ नहीं हैं तब विना विवाह किये ही वनों में तपस्या करके संन्यास लें'।

यहाँ पर अधीतवेदत्व, अन्नदत्व, अग्निमत्त्व, सर्वकामकृतकृत्यत्व, जितेन्द्रियत्व, आत्मैकरामत्व, सर्वसङ्गविवर्जितत्व, द्विजत्व आदि संन्यास के अधिकारियों के विशेषण कहे गये हैं जो क्षत्रिय-वैश्यों में भी अविरुद्ध हैं। इसीलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये तीनों वर्ण संन्यास के योग्य हैं, ऐसा निश्चित होता है। इन सारे लोक-शास्त्र दोनों के व्यवहारों का आलोडन करके ही श्रीमद्रामानन्दाचार्य रामेश्वरानन्दाचार्य भी अपने श्रीवैष्णवसंन्यासमीमांसानामक ग्रन्थ में कहते हैं—

'द्विज का ही संन्यास में अधिकार प्राप्त होता है। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों द्विज ब्रह्मचर्याश्रम से या गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थाश्रम से किसी प्रकार संन्यास के अर्ह हैं। शूद्रों को वेदाध्ययन में अधिकार नहीं है, अत: इन वचनों से इनके लिए संन्यासाधिकार सिद्ध नहीं होता। फिर इस विषय में स्त्रियों की चर्चा ही बेकार है'।

श्रीमद्रामेश्वरानन्दाचार्यजी ने वैष्णवभिन्न मत से यह सब कहा है, यह बात उनके अग्रिमग्रन्थ के अवलोकन से निश्चित होती है। उनके मत में तो उन सभी का संन्यास में अधिकार है जिनको भगवान् की प्रपत्ति प्राप्त हो गयी है। प्रपत्ति की प्राप्ति स्त्री, शूद्र, पङ्गु, अन्ध, वधिर आदि तथा पशुपक्षी भी कर सकते है यदि इन पर भगवान् का अनुग्रह हो जाय। इस प्रकार म्लेच्छपर्यन्त सारे मानव वैष्णवधर्म स्वीकार करके संन्यास के अधिकारी हो सकते हैं। जैसा कि उन्होंने श्रीवैष्णवसंन्यासमीमांसा में कहा है—

'भगवत्प्रपन्न सर्वतोभावेन विशुद्ध होते हैं तथा उनके सारे पाप भी क्षीण हो जाते हैं, अत: सभी का ही संन्यासाश्रम में प्रवेशाधिकार तथा दीक्षाग्रहण का अधिकार सिद्ध हो जाता है; किन्तु सभी के लिए संन्यासग्रहण के पहले प्रपत्ति और पाँचों संस्कार परम आवश्यक हैं। वहीं पर हमारे ये आचार्य त्रिदण्डधारण में शास्त्रवचनों का विरोध स्वीकार कर पूर्वोक्त नियम का अपलाप भी करते हैं। जैसा कि वहीं पर उन्होंने कहा है—

'किन्तु त्रिदण्ड के धारण में यह नियम नहीं है। शास्त्रवचनों से विरोध होने के कारण। संन्यास की दीक्षा प्राप्त करके भी स्त्री-शूद्र आदि कभी भी त्रिदण्ड धारण न करें।

'अर्के चेन् मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्'।

(घर के पास ही आक में यदि मधु की प्राप्ति हो रही हो तो पर्वत पर जाने की क्या आवश्यकता है?)

तात्पर्य यह है कि त्रिदण्डधारण के विना भी यदि इष्ट फल की प्राप्ति हो रही हो तो उसे क्यों धारण किया जाय? सम्प्रदायाचार्य तथा शास्त्रों के वचनों का सर्वथा परिपालन भी होना चाहिये। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों का तथा ब्रह्मचारियों का दण्डनियम दिखायी देता है। स्त्रीशूद्रों के लिए दण्डनियम नहीं है। एवञ्च स्त्रीशूद्रों के लिए संन्यास का विधान होने पर उन्हें त्रिदण्डधारण नहीं करना चाहिये। द्विजसंन्यासियों को ही त्रिदण्ड धारण करना चाहिये, अन्यों को नहीं, यह शास्त्रों का नियम है'।

ऐसा सब होने पर भी आप का यह कहना कि ब्राह्मणों का ही संन्यास में अधिकार है, बहुत बड़ा साहस करना है। यदि ऐसा मैं कहूँ तो? न। अर्थात् ऐसा आप अनर्गल प्रलाप नहीं कर सकते। शूद्रों से लेकर म्लेच्छ पर्यन्त सभी मनुष्यों का संन्यास में अधिकार है, यह श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यजी का कथन जाबालश्रुति के अनुरोध से खण्डितप्राय है।

'ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदाध्ययन को समाप्त करके गृहस्थाश्रमी बनना चाहिये, गृही होकर वानप्रस्थी होना चाहिये। वानप्रस्थी होकर संन्यासी होना चाहिये। अथवा अन्य प्रकार भी सम्भव है। ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ले ले अथवा गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थाश्रम से। (जाबालोपनिषद् ४)

यह जाबालश्रुति उनके संन्यासग्रहण का अर्थात् प्रतिषेध करती है जो वेदाध्ययनरूप ब्रह्मचर्य के आश्रम को स्वीकार नहीं किये हैं। शूद्रादि के ब्रह्मचर्य का अपशूद्राधिकरणन्याय से निरास होने के कारण उनके संन्यास का भी निरास सिद्ध हो जाता है। यहाँ यह आशङ्का नहीं करनी चाहिये कि—'व्रती अथवा अव्रती, स्नातक अथवा अस्नातक, समाप्ताग्नि अर्थात् अग्निकार्यशून्य भी संन्यास ग्रहण करें। इसके आगे की जाबालश्रुति के अनुरोध से सभी का अधिकार सिद्ध होता है'। इसीलिये कि यह श्रुति गार्हस्थ्यधर्म में अनधिकृत लोगों के लिए है। इतने मात्र से वेदाध्ययनाधिकार से शून्य स्त्री, शूद्रों का भी अधिकार नहीं सिद्ध होता। अपि च—'प्रव्रजिष्यन् वैतस्मादाश्रमादस्मीति' इस वाजसनेयिब्राह्मण ग्रन्थ में याज्ञवल्क्य के द्वारा किया जाने वाला कात्यायनी और मैत्रेयी के धन के विभाग का प्रतिपादन भी संन्यास में स्त्रियों के अनधिकार को सूचित कर रहा है। अन्यथा पति के साथ ही उन दोनों का भी संन्यास हो जाता। सारे कर्मों का संन्यास ही जाने पर भी

वेदों के प्रति असंन्यास का प्रतिपादन करते हुए भगवान् मनु भी वेदों से सन्यास ले लेने वालों की शूद्रों से समानता को बतलाते हुए शूद्रादिकों की संन्यास में अनधिकारिता का स्पष्ट कथन कर रहे हैं। जैसा कि वे भगवान् कहते ही हैं—

'संन्यसेत् सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्।
वेदसंन्यासतः शूद्र स्तस्माद् वेदं न संन्यसेत्'।।

(मनुस्मृति ६.९६)

अर्थात् सारे कर्मों से संन्यास ले लेना चाहिये। किन्तु केवल वेद से संन्यास नहीं लेना चाहिये; क्योंकि वेदों को त्याग देने पर शूद्रों के समान हो जाता है अतः वेदों का त्याग नहीं करना चाहिये'। एवञ्च, स्त्रीशूद्रादि का संन्यास में अधिकार न होने पर भी श्रीरामेश्वरानन्दाचार्यजी हर तरह से मान्य जैसा प्रतीत हो रहे हैं। उनके प्रभाव से ही इस समय सारे वेदान्त श्रीमद्भगवद्रामानन्दीयभाष्य से युक्त होकर सुशोभित हो रहे हैं। यह जो आचार्यश्री ने कहा है कि संन्यासदीक्षा प्राप्त करके भी स्त्रीशूद्रादि त्रिदण्ड-धारण न करें, त्रिदण्ड को त्रैवर्णिक ही धारण करें; क्योंकि शूद्रादि के धारण करने पर शास्त्रवचनों से विरोध होगा। उनका यह कथन भी पूर्वोक्त खण्डन से ही खण्डित हो जाता है। त्रिदण्डधारण त्रैवर्णिकों को ही करना चाहिये, यह कथन परम्परा से विरोध होने के कारण निरस्त है। इसीलिए कि वैष्णवों की परम्परा में क्षत्रिय अथवा वैश्य त्रिदण्डधारी नहीं दिखायी देते और न ही त्रिदण्डी के रूप में वे लोक में मान्य हैं। त्रिदण्डित्व ब्राह्मणों में ही दिखायी देता है। त्रिदण्डियों के अतिरिक्त भी वैष्णवसम्प्रदाय में संन्यासी होते हैं, ऐसा उनके वचन से प्रतीत होता है। उनका यह अभिप्राय भी योग्य अनुपलब्धि से ही निरस्त हो जाता है। 'विप्र' शब्द लोक में ब्राह्मणों में ही प्रवृत्त है।

तथा च—

'चतुर्धा भिक्षवो विप्राः सर्वे चैव त्रिदण्डिनः'।

(चार प्रकार के संन्यासी विप्र ही होते हैं और सभी त्रिदण्डी होते हैं)। इस वचन से ब्राह्मण का ही संन्यास से सम्बन्ध और त्रिदण्डित्व सिद्ध होता है।

'वाग्दण्ड, मनोदण्ड और कर्मदण्ड, ये तीनों जिसकी बुद्धि में होते हैं वहीं त्रिदण्डी कहा जाता है'। इस मनु के कथन से त्रिदण्डित्व के विषय वाग्दण्डादि हैं जो कि सारे वर्णों में अविरुद्ध हैं, आचार्य श्री की यह आशङ्का भी उचित नहीं है। ऐसा मानने पर त्रैवर्णिकों को ही त्रिदण्ड धारण करना चाहिये, यह उनका अभीष्ट सिद्ध नहीं होगा। आप के मते से विपरीत वस्तु की सिद्धि हो जायेगी; क्योंकि

वाग्दण्डादि का योग ब्राह्मणों में ही होगा। क्षत्रियादि में भी योग स्वीकार करने पर अपने-अपने धर्म का अतिक्रमण प्रसक्त हो जायेगा। अपि च—

'त्रिदण्डरूपधारी विप्र साक्षात् नारायण का रूप होता है अतः उसकी पूजा से विष्णु ही पूजित होते हैं'।

इस दत्तात्रेय की स्मृति को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके स्वयम् श्रीरामेश्वरानन्दाचार्य जी भी यह स्वीकार कर ले रहे हैं कि ब्राह्मणों को ही त्रिदण्ड धारण करना चाहिये।

इस पर भी यदि वे आशङ्का करें कि उक्त वचन की गतिकल्पना पूजा को विषय बनाकर कर ली जायेगी—ब्राह्मण ही त्रिदण्डी पूज्य है, तदन्य क्षत्रियादि नहीं। इतने से क्षत्रिय, वैश्यों में त्रिदण्डधारण का विरोध नहीं होगा। अत एव—

'त्रिदण्डरूप वेणु (बांस) का लिङ्ग द्विजों के लिए मुक्ति का साधन है तथा सारे धर्मों का निर्वाण है, यही वेदानुशासन है'।

यह जमदग्नि का वचन भी उपपन्न होगा। इस वचन में 'द्विजानाम्' यह साधारण लिङ्ग त्रैवर्णिकों के अभिप्राय से है अर्थात् त्रैवर्णिक त्रिदण्डी हो सकते हैं, यह उक्त 'द्विजत्व' लिङ्ग से ध्वनित होता है।

मान लिया भगवन्! कि आप जैसा कह रहे हैं वैसा ही है। किन्तु—

'चीर्णवेदव्रतो विद्वान् ब्राह्मणो मोक्षमाश्रयेत्।
निःस्पृहः सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च'।।

इस यमवचन का आप क्या करेंगे जिसे आप ही श्रीवैष्णवसंन्यासमीमांसाग्रन्थ में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर दिये हैं। उक्त वचन में उस ब्राह्मण के लिए ही संन्यास लेने का निर्देश है जो वेदव्रत को समाप्त कर लिया है और जो चराचर सारे प्राणियों में स्पृहा से परिशून्य हो गया है।

अपि च, आप ही भगवन्! संन्यासविधि के प्रकरण में—

'इस प्रकार जो विद्वान् ब्रह्मरात्रि में उपवास करके ब्राह्मण अग्नियों का समारोप अपनी आत्मा में करता है वह सारे पापों से तर जाता है। ब्रह्महत्या जैसे पापों से भी वह मुक्त हो जाता है'। इस बौधायन के वचन को तथा—'द्विजोत्तम (ब्राह्मण) पौर्णमासी के दिन अपने विधानानुसार प्रातः हवन करके ब्रह्मरात्रि का दान दें'।

इस दत्तात्रेय के वचन को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके—

'विप्र (ब्राह्मण) भक्ति पूर्वक जलाञ्जलि देकर भगवान् हरि से प्रार्थना करे कि हे नारायण! सर्वदेव रूप इस जल में मैं जल की ही आहुति दे रहा हूँ। जलाहुति देने के बाद सारी एषणाओं का परित्याग करके मैं आप की शरण में आ गया हूँ। हे सारे लोकों के स्वामी! आप मेरी रक्षा करें! आप के अतिरिक्त कोई दूसरा मेरी गति नहीं है। हे जगन्नाथ! हे मधुसूदन! हे सर्वदेवेश! हे रघुनाथ! हे सनातन पुरुष! मैंने संन्यास ले लिया है। आप मेरी रक्षा करें। हे संसार के कारण! पुण्डरीकाक्ष! मोक्ष के दाता! परमेश्वर! मैं सारे प्राणियों को अभयदान करके संन्यास ले लिया हूँ और हे पुरुषोत्तम! मैं आप की शरण में आ गया हूँ। आप मेरी रक्षा करें'।

इन यम के वचनों को भी अपने ग्रन्थ में उदाहरण बनाया है। ये सारे आप के द्वारा ही उदाहृत वचन जो ब्राह्मणों के ही संन्यासग्रहण में लिङ्ग हैं, आप के ही उस सिद्धान्त से विरुद्ध होने लगेंगे ज़िसमें मानव मात्र के लिए संन्यासाधिकार का प्रतिपादन किया गया है। आप को अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए इन वचनों का भी ध्यान रखना चाहिये था। अपनी ही करतूतों से आप उपेक्षित हो रहे हैं।

शान्त हो जाइये आप! मैं भी यह स्वीकार करता हूँ कि संन्यासविधि केवल द्विजोत्तम ब्राह्मणों के लिये ही है। तथापि तुष्टीकरण की नीति से वैष्णवसमाज की वृद्धि के लिये, श्रीमदाचार्यपाद की अपेक्षा अधिक अपनी उदारता को प्रकट करने के लिये तथा रामानुजीय ग्राहों (मगरमच्छों) के फैले मुखोदर में ग्रास बनने वाले श्रीमद्रामानन्दीय सम्प्रदाय के संरक्षण के लिये आपद्धर्म को स्वीकार करके ही सारे स्त्री, शूद्र, म्लेच्छादि के लिए भी संन्यासविधि है, ऐसा कह दिया हूँ। तथा च—

'एक दण्ड लेकर बहुत से द्विज जी रहे हैं। उन संन्यासिवेशधारियों के लिए मोक्ष है ही नहीं। जो संन्यासी एक ही दण्ड को स्वीकार करके ब्राह्म कर्म का परित्याग करता है वह महापापी चाण्डाल होकर रौरव नरक में जाता है'। इन विष्णु और वृद्धपराशर के वचनों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके मैं तथ्य जानता हुआ भी वैष्णवों में ही दृष्ट त्रिदण्डधारण के निश्चय के लिए एक दण्ड के धारण की निन्दा भी किया हूँ। यदि ऐसा ही हो तो?

आप का कथन सत्य है। तथापि आप जैसे जगद्गुरु को ऐसा आचरण नहीं करना चाहिये। अणु मात्र भी विपरीत होता हुआ वाक्यार्थ लोक को ही निःश्रेयस से च्युत कर देता है और अनर्थसमुदाय का सम्पादन भी करता है। सारे के सारे

अनधिकारी संन्यासविधि को स्वीकार करके अपने अपने धर्म से पराङ्मुख होकर संन्यास से भी निष्प्रयोजन होते हुए श्रुति-स्मृति और पुराणों में प्रसिद्ध अन्धतामिस्त्र, रौरव आदि नरकों में सादर प्रवेश करें, जिसमें निमित्तभूत आप जैसे जगद्गुरु ही हों, यह कथमपि उचित नहीं है। इसीलिए तो धर्म और अधर्म के विचारप्रसङ्ग में विहिप से समर्थित धर्मसंसद् के समान निर्णय नहीं देते हमारे सकलशास्त्रार्थतत्त्व के मनीषी विद्वान्।

तब फिर क्या करते हैं मनीषी विद्वान्? सुनो! वे मनीषी श्रुति, स्मृति और पुराणादि चौदहों विद्याओं का तथा तत्प्रसूत न्यायों का ठीक से आकलन करके देशकाल के अनुसार ही व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं। श्रुतियों और स्मृतियों में संन्यासाधिकार ब्राह्मणों के लिए प्रतिपादित है। जैसा कि जाबालश्रुति संन्यास में विप्र को ही निर्देशित करती है—

'शतं कुलानां पुरतो बभूव तथा पराणां त्रिशतं समग्रम्।
एते भवन्ति सुकृतस्य लोके येषां कुले संन्यसतीति विप्रः'।।

संन्यासविधि में भी 'ब्राह्मणो निर्वेदमायन्' से स्पष्ट ब्राह्मण का ही ग्रहण है। एवमेव—

'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति'। (जाबालोपनिषद्)

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनञ्च निर्विद्याथ ब्राह्मणः'।

(बृहदारण्यक ३.५.१)

'तं वैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति' इस प्रकार की बहुत सी श्रुतियाँ संन्यास में अधिकारी के रूप में ब्राह्मण को ही निर्देशित कर रही हैं। इसी प्रकार बहुत से स्मृतियों और पुराणों के वचन हैं जो कि पहले ही उदाहरण में प्रस्तुत कर दिये गये हैं। भगवान् मनु भी इस तथ्य को प्रकट करते हैं—

'अपने सारे धन को दक्षिणा के रूप में देकर प्राजापत्य याग करके गार्हपत्यादि तीनों वैदिक अग्नियों को आत्मा में आरोपित करके ब्राह्मण संन्यास ग्रहण करे। जो ब्रह्मवादी अर्थात् वेदों का प्रवचन करने वाला ब्राह्मण सारे प्राणियों को अभय का दान करके संन्यास लेता है उसके लोक तेजोमय होते हैं। (मनु. ६.३८.३९)

यहाँ ब्रह्मवादित्व=वेदप्रवचनकारित्व क्षत्रियादि के लिए सम्भव ही नहीं है। मनुस्मृति के ही छठे अध्याय में—

'एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत'।।

इस उपसंहार वाक्य में चारों प्रकार के आश्रमधर्म का ब्राह्मणों के लिए प्रतिपादन का निर्देश करके सातवें अध्याय में क्षत्रियधर्म के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा 'क्षत्रियों के लिए संन्यास नहीं है' इस भगवान् मनु के अभिप्राय को ध्वनित करती है। इन सारे वचनों का आकलन करके ही वृद्धयाज्ञवल्क्य ने भी मदुक्त पक्ष को ही परिपुष्ट किया है—

'ब्राह्मणों के लिए चार आश्रम श्रुतियों में उपदिष्ट हैं। इसी प्रकार क्षत्रियों के लिए तीन तथा वैश्यों के लिए दो और शूद्रों के लिए एक आश्रम कहे गये हैं। इन सारे श्रौतस्मार्त प्रमाणों से—

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इन तीनों वर्णों के लिए चार आश्रम हैं'।

इस कठसूत्र के अनुरोध से तथा—

'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृह से निकलकर संन्यास ले'। इस कूर्मपुराण की उक्ति के अनुरोध से वेदों में ब्राह्मणनिर्देश को उपलक्षण मानकर तीनों वर्णों में संन्यासाधिकार के समर्थक पराजित हो गये हैं, ऐसा समझना चाहिये। इसीलिए कि श्रुतियों में विद्यमान सारी संन्यास-विधियों में ब्राह्मणग्रहण को थोड़ी सी स्मृतियों के अनुरोध से उपलक्षण स्वीकार करना अनुचित है तथा उसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्ष श्रुतियों से विरुद्ध स्मृतियों का 'विरोधेऽत्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्', इस विरोधाधिकरणन्याय से अप्रामाण्य ही सिद्ध होगा। विरोधाधिकरण को 'धर्मशुद्धि' में ही विस्तार से प्रतिपादित कर दिया गया है। प्रमाण के अभाव में तथा अन्य प्रक्रिया से विरोध होने पर उपलक्षणत्व स्वीकार नहीं किया जाता। उपलक्षणत्व भी कहीं पर स्वार्थ का त्याग करके अन्य अर्थ को स्वीकार करने से तथा कहीं स्वार्थ को विना त्यागे ही स्वीकार किया जाता है। 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि लौकिक प्रयोग में स्वार्थ को त्याग करके ही उपलक्षणत्व स्वीकार किया जाता है। तथा च—

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन', इस विविदिषावाक्य में 'ब्राह्मणः' इसका उपलक्षणत्व स्वार्थ को विना त्यागे ही स्वीकार किया जाता है। यहाँ पर उपलक्षणत्वस्वीकार करने में प्रमाण विद्यमान है। यहाँ 'वेदो

मन्त्रब्राह्मणात्मक अनूच्यते गुरूच्चारणानन्तरं पठ्यते' इस व्युत्पत्ति से वेदानुवचन वेदाध्ययन ही कहा जाता है। वह त्रैवर्णिकसाधारणतया ही स्वीकृत है। क्यों? वेदाध्ययन में उपनीत का अधिकार होने से! उपनयन में त्रैवर्णिक का ही अधिकार है, यह सिद्धान्त मीमांसा के षष्ठ अध्याय में अपशूद्राधिकरण में प्रतिपादित है। इन सभी की उपपत्ति विना उपलक्षणत्व को स्वीकारे नहीं हो सकती। इसीलिए यहाँ 'ब्राह्मणा:' इस पद का उपलक्षत्व स्वीकार किया जाता है। पारलौकिक फल वाले कर्मों में अधिकार की सिद्धि के लिए ही आत्मज्ञान की आवश्यकता पड़ती है क्षत्रिय-वैश्यों के लिए भी। जहाँ दान, तीर्थस्नान, एकादशी, महाशिवरात्रि आदि व्रतों में यदि शूद्रों के लिए भी आत्मज्ञान की आवश्यकता होती है तो वे भी पुराणादिश्रवण के माध्यम से यथाधिकार आत्मज्ञान का सम्पादन करें। शारीरकभाष्य में उदाहृत पाठ को स्वीकार करके यह सब कहा गया।

'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनि र्भवति, एतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तो प्रव्रजन्ति'। (बृह. ४.२.२५)

यहाँ पर 'ब्राह्मण' पद दिखायी ही नहीं देता तथापि आचार्यों ने न्यायानुसारिणी व्यवस्था का उपपादन किया है। तथा हि—

यहाँ पर 'विविदिषा (ज्ञान की इच्छा) का सम्बन्ध पूर्वोक्त न्याय से तीनों वर्णों के लिए ही है। मुनित्व और प्रव्रज्या में ब्राह्मण ही सम्बन्धित होगा, न कि क्षत्रिय और वैश्य भी। यह अवधारणा लिङ्ग के द्वारा ही है। ऐसा न मानने पर अन्य श्रुतियों से विरोध होगा ही। जैसा कि वहीं पर वासुदेवप्रकाशिका टीका में कहा गया है—

'अविद्या से जायमान कर्मों के त्यागी संन्यासियों में ही मुनित्व सम्भव है'।

इस प्रकार उक्तोक्ति में उपलक्षणत्व का उदाहरण असम्भाव्य होने के कारण उसका यह उदाहरण होगा—

'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभि र्ऋणै र्ऋणवान् जायते, यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः'।

यहाँ पर यज्ञ, प्रजा और स्वाध्याय में क्षत्रिय और वैश्यों का भी अधिकार होने से ब्राह्मणशब्द क्षत्रिय-वैश्य के उपलक्षणार्थ ही है। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये। जहाँ उपलक्षणत्व के अस्वीकार करने पर न तो अन्य प्रमाणों से या न्यायों से विरोध नहीं होता वहाँ वह स्वीकार ही नहीं किया जाता है। प्रत्युत

वहाँ उपलक्षणत्व के स्वीकार में ही अन्य प्रमाणों और न्यायों से विरोध होने लगेगा। जैसा कि वाजसनेयिब्राह्मण में ही—

'जनको ह वै वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेन ईजे। तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवु स्तस्य जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कःस्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति'। (बृह. ३.१.१)

यहाँ 'ब्राह्मणाः' में उपलक्षणत्व के स्वीकार करने पर अनूचानविरोध स्पष्ट है। इसी प्रकार पूर्व में उदाहृत संन्यासविधायक श्रुतिवचनों में ब्राह्मणनिर्देश का उपलक्षणत्व नहीं है, यह बात सिद्ध हुई।

पुनः कुचोद्य करने वाला कहता है—

मत हो ब्राह्मणशब्द उपलक्षण। योगव्युत्पत्ति के द्वारा मुख्य वृत्ति से ही शास्त्रज्ञानसम्पन्न तीनों वर्णों में ब्राह्मणशब्द की वर्तमानता हो जाय। अर्थात् ब्राह्मणशब्द त्रैवर्णिक का वाचक हो। 'ब्रह्म अणति अवच्छतीति ब्राह्मणः। अर्थात् जो ब्रह्म (वेद) को जाने वह ब्राह्मण है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर त्रैवर्णिकों का संन्यासाधिकार में कोई विरोध नहीं होगा। यदि ऐसा कहूँ तो?

आप ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि 'योगाद् रुढि र्बलीयसी' इस न्याय से योग के द्वारा रुढि का बाध उचित नहीं है। योग की प्रवृत्ति वहीं होती है जहाँ रूढि को आत्मलाभ नहीं मिलता। उसको वहीं आत्मलाभ नहीं मिलता जहाँ वह सम्भव ही नहीं होती। शास्त्रों में स्थित पुरुषों के द्वारा या अन्य किसी के द्वारा भी ब्राह्मणशब्द का प्रयोग जाति को छोड़कर अन्यत्र नहीं होता। एवञ्च, ब्राह्मण मातापिता से उत्पन्न सन्तति में ही ब्राह्मणशब्द का प्रयोग होने से अपने स्वरूप को प्राप्त हुई रूढि (प्रसिद्धि) योग से बलवान् होती है। तथा च, योग भी यदि सम्भव होगा तो उसका संगमन ब्राह्मणजाति में ही करना चाहिये, अन्यत्र नहीं। रूढि के असम्भव होने पर योग का ही आदर होता है, इस तथ्य को— 'प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात्', (मीमांसा १.४.९)

यहाँ सिद्धान्तित किया गया है। अतः ब्राह्मणशब्द की ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्णों में वृत्ति नहीं है। इस प्रकार संन्यास में ब्राह्मण का ही अधिकार निश्चित होता है। अत एव भगवान् वासुदेव का—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'। (गीता ३.२०)

इस श्लोक से क्षत्रियभूत जनकादि के लिए संन्यास से अतिरिक्त कर्म के द्वारा ही संसिद्धि का प्रतिपादन उपपन्न होता है।

इसी प्रकार ही कहीं निन्दा के दर्शन से एकदण्डियों का एक-दण्डधारण अशास्त्रीय ही है, यह आप का प्रतिपादन ही शास्त्रों का सम्यक् अनुशीलन न करने के कारण है; क्योंकि शास्त्रों में बहुत प्रकार की निन्दा दिखलायी देती है। सभी जगह निन्दा से निषेध का उन्नयन नहीं होता। कहीं पर ही निन्दा निषेध की कल्पना करती है जहाँ उसका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं होता। जैसे शूद्रादि की वेदश्रवणनिन्दा। अन्य प्रयोजन के अभिप्राय से किं वा विधेय की स्तुति के अभिप्राय से प्रयुक्त निन्दा निषेध की कल्पना नहीं करती।

'अयज्ञिया वै जार्तिला गवीधुका श्च'।

यह जर्तिल-गवीधुक नामक धान्य की निन्दा 'पयसाऽग्निहोत्रं जुहोति' से विहित पय (दूध) की प्रशंसा के लिए ही है। एवमेव:—

'अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्य: पशवो गो अश्वा:' यहाँ पर गो-अश्वों से अन्य पशुओं के लिए अपशुत्व के प्रतिपादन के द्वारा जो निन्दा है वह गो-अश्व से अन्य जातियों के प्रतिषेध के लिए नहीं है; क्यों? इसीलिए कि अजादि पशुओं के विहित होने से पशुकार्य में प्रतिषेध सम्भव ही नहीं होगा। किन्तु 'पशु' शब्द की गवाश्व शब्दों से एकवाक्यता के बल से सम्बद्ध गो-अश्वों में विद्यमान प्राशस्त्य में लक्षणा स्वीकार करके नञ् के द्वारा पर्युदास माना जाता है। गो-अश्वों में विद्यमान प्राशस्त्य तद्भिन्नों में नहीं है, अत: उनके अप्राशस्त्य का प्रतिपादन करके गो-अश्वों में वर्तमान प्राशस्त्य का ही प्रतिपादन किया जाता है। इसीप्रकार पूर्वोक्त प्रकारों वाली एक दण्ड के धारण की निन्दा भी एकदण्डधारण के प्रतिषेध के लिए नहीं होगी; क्योंकि परमहंसादि के लिए शास्त्रों में उसका विधान है अत: उसका प्रतिषेध सम्भव ही नहीं होगा। उसका विधान विष्णुस्मृति में है—

'त्रिदण्ड, कुण्डिका, सूत्र, कपालिका, जन्तुओं की वारणा, वस्त्र आदि का संन्यासी परित्याग करे। इसी प्रकार परमहंस कौपीनाच्छादन के लिए वस्त्र और अर्थ का परिग्रह करे तथा एक ही दण्ड धारण करे'।

परमहंसों के लिए त्रिदण्ड का त्याग महर्षि काण्वायन ने भी कहा है—

'उनमें परमहंस संन्यासी त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिक्य (सिकहर), जल, पवित्र, पादुका, अशन, शिखा, यज्ञोपवीत तथा कपालों का त्याग कर देने वाले होते हैं। उनके लिए धर्माधर्म, सत्य, अनृत का बन्धन नहीं रहता। वे सब कुछ सहन करने वाले, ढेले और पत्थरों में समान दृष्टि वाले, यथाप्राप्त आहार लेने वाले, चारों वर्णों में भिक्षाग्रहण करने वाले अपनी आत्मा को बन्धन से मुक्त कराते हैं'।

ये दोनों स्मृतियाँ शिष्टों से परिगृहीत हैं, अतः इनके अप्रामाण्य की आशङ्का के लेश के लिए भी स्थान नहीं है।

इसीलिए श्रीमच्छतसाहस्री संहिता में भी—

'एकदण्डी त्रिदण्डी वा शिखी मुण्डित एव वा।
काषायमात्रसारोऽपि यतिः पूज्यो युधिष्ठिर!'।।

श्रीमद्भगवद्व्यास का एकदण्डित्वादिरूप यति के प्रकारों का प्रतिपादन भी उपपन्न होता है। यदि एक दण्ड का धारण अशास्त्रीय होता तो भगवान् व्यास का तथारूप से प्रतिपादन भी असंगत होता।

उक्त वचन से यह भी निश्चित होता है कि दण्डशून्य संन्यासी भी परमहंस होते हैं। अन्यथा 'काषायमात्रसारोऽपि' यह वचन निरवकाश होने लगेगा। ऐसा मानेंगे तो त्रिदण्डादिधारण निर्विषय होने लगेगा? नहीं होगा। हंस और परमहंस से भिन्न कुटीचक-बहूदक सन्यासी ही उनके विषय हो जायेंगे। यह अभिप्राय है—

'चतुर्धा भिक्षवः प्रोक्ताः सर्वे चैव त्रिदण्डिनः'।

इस प्रतिपादनप्रकार से संन्यास के चार भेदों का ही निरूपण समझना चाहिये न कि न्यूनता या अधिक्य। वे चारों प्रकार के संन्यासी कौन हैं? ऐसी अपेक्षा होने पर हारीत का कहना है—

'कुटीचक, बहूदक तथा तृतीय हंस और चतुर्थ परमहंस जिनमें उत्तरोत्तर उत्तम माने जाते हैं'। यहाँ अत्यन्त अशक्त, पुत्रादि के द्वारा निर्मित कुटी में रहने वाला अथवा घर में निवास करने वाला काषाय-त्रिदण्डधारी, घर में या बान्धवों के यहाँ भोजन करने वाला, शिखासूत्रधारी कुटीचक कहा जाता है। बहूदक भी कुटीचक जैसां ही होता है जो केवल सात घरों में भिक्षा ग्रहण करता है। केवल भिक्षा के भेद से दोनों में भेद होता है। हंस और परमहंस—

'एकं च वैणवं दण्डं धारयेत् नित्यमादरात्'।

इस वचन से काषाय को धारण करने वाले एकदण्ड होते हैं। त्रिदण्डी भी यदि परम साम्यावस्था को प्राप्त हो जाते हैं तो वे त्रिदण्ड का त्याग करके हंस और परमहंस हो जाते हैं। ऐसा पूर्वोक्त वचन से निश्चित होता है। ब्रह्मविज्ञान हो जाने पर दण्ड का भी त्याग कर दिया जाता है, ऐसा—

'न दण्डं न शिखां नाच्छादनं चरति परमहंसः'।

इस महोपनिषद् के वचन से और 'ज्ञानमेवास्य दण्डः' इस वाक्यशेष से निश्चित होता है।

त्रिदण्ड का त्याग और एकदण्ड का ग्रहण स्कन्दपुराण में कहा गया है—

'परमहंस संन्यासी कौपीनाच्छादन, वस्त्र, शीत को दूर करने हेतु कन्था, अक्षमाला और अच्छिन बांस का दण्ड धारण करे तथा त्रिदण्ड, गोवाल से निर्मित रस्सी, शिखा, यज्ञोपवीत और नित्य कर्मों का त्याग कर दे'।

इस तथ्य के प्रतिपादक बहुत से वचन हैं जिनका परिज्ञान आकर ग्रन्थों से कर लेना चाहिये। इस प्रकार हंस और परमहंस के एकदण्ड या न्यस्तदण्ड होने से कहीं पर दृश्यमान त्रिदण्ड का वचन पूर्वोक्त वाग्दण्डादि को लेकर ही समझना चाहिये। इस प्रकार से त्रिदण्ड और एकदण्ड के धारण के व्यवस्थित होने से कहीं पर एकदण्डधारण की निन्दा और कहीं पर संन्यास की ही निन्दा अधिकारी की अपेक्षा से दिखायी देती है, ऐसा समझना चाहिये। संन्यास के अनधिकारी क्षत्रियादिकों को लेकर संन्यासनिन्दा और परमहंस के अनधिकारियों को लेकर एकदण्डधारण की निन्दा का होना उपपन्न ही हो जाता है। इतने मात्र से एकदण्ड को धारण करना अशास्त्रीय है, यह नहीं सिद्ध होता। तथा च, महाभारत में कर्णादि स्वजनों के वध से खिन्न मन वाले युधिष्ठिर के संन्यास में तत्पर होने पर उनके भाइयों के द्वारा तथा द्रोपदी, ऋषिगण और भगवान् वासुदेव के द्वारा संन्यास की निन्दा के बहुत से वचन मिलते हैं—

'काषायधारणं मौण्ड्यं त्रिविष्टब्धं कमण्डलुम्।
लिङ्गान्यन्नार्थमेतानि न मोक्षायेति मे मतिः'।।

अर्थात् काषायधारण आदि अन्नप्राप्ति के लिङ्ग है न कि ये सभी मोक्ष के लिए हैं। ये सारे संन्यासनिन्दा के वचन क्षत्रियधर्म की प्रशंसा के लिए ही हैं जो कि युधिष्ठिर को उनके अधिकार से बहिर्भूत संन्यास से पृथक् करते हैं तथा उन्हें अपने धर्म में व्यवस्थापित करते हैं। कैसे? इसीलिए कि संन्यासाश्रम ब्राह्मणों के लिए ही विहित है, अतः उसके निषेध का अनुमान हो ही नहीं सकता। संन्यास की पूर्वोक्त प्रकार से की जाने वाली निन्दा निर्मूल भी नहीं है; क्योंकि बहुत से भद्रपुरुष अर्थ के लिए ही काषाय (गेरुआ) लिङ्ग को धारण करके निवास करते हैं। यह भी कहा गया है—

'जटा, मृगचर्म को धारण करने वाले, पङ्क में लिप्त, जितेन्द्रिय, मुण्ड तथा शिखासूत्रों के त्यागी बहुत से पुरुष धन के लिए मठादि में निवास करते हैं'।

महाकवि श्रीभास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक में—

'नाहं काषायं वृत्तिहेतोः प्रपन्नः'।

अर्थात् मैंने गेरुआ वस्त्र को जीविका के लिए धारण नहीं किया है, यह यौगन्धरायण का वचन भी पूर्वोक्त तथ्य को ही परिपुष्ट कर रहा है। संन्यासियों की नीचता का कथन अन्यत्र (गीताश्रीधरीटीका में उदाहृत) भी है—

'प्रमादी, बहिर्मुख, पिशुन (चुगलखोर) कलह करने में तत्पर, ऐसे बहुत से संन्यासी दिखायी देते हैं जिनका चित्तादि दुरदृष्ट से दूषित हो गया है'। इससे इतिहास में रावण के लिए त्रिदण्डधारण का निर्देश और अर्जुन के द्वारा भी त्रिदण्ड के धारण का निर्देश, त्रिदण्डधारण ही परम्परा से प्राप्त है तथा शास्त्रीय भी है, इस तथ्य को ध्वनित करता है, ऐसा कुछ लोगों का विवल्गन खण्डित समझना चाहिये। धनञ्जय के संन्यासिवेशस्वीकार में यज्ञोपवीत का सद्भाव जो महाभारत में प्रतिपादित है वह इसीलिए कि उनका राजभवन में चिरनिवास प्रार्थित है। ऐसी स्थिति में यदि वे त्रिदण्डधारण करके कुटीचकादि संन्यासी का अनुकरण करते हैं तो यज्ञोपवीत का त्याग नहीं होगा। ततश्च कुटीचकादि का यदि अनुकरण सम्भव है तो क्षत्रियाश्रम से विरुद्ध यज्ञोपवीत का त्याग करके परमहंस संन्यासी का अनुकरण अनुचित होगा। रावण के लिए भी ऐसा ही समझना चाहिये; क्योंकि उसने संन्यास नहीं लिया था, अपि तु उसका अनुकरण किया था। इस प्रकार उसके लिए यज्ञोपवीत का त्याग अनुचित ही होगा। इस प्रकार इतिहास में रावण और अर्जुन के लिए त्रिदण्डी होने का निर्देश कथमपि यह द्योतित नहीं कर सकता कि एकमात्र त्रिदण्डित्वविधा ही शास्त्रीय है, न कि एकदण्डित्व या दण्डशून्यत्व।

इतने ग्रन्थ से यह सिद्ध हुआ कि संन्यास में ब्राह्मणों का ही अधिकार है, न कि क्षत्रियादि का भी। ब्राह्मणों में भी पुरुषों का ही अधिकार है जो विशुद्ध चरित्रवाले हैं, न कि पतितों का और स्त्रियों का भी। संन्यास भी चार प्रकार का ही है कुटीचक आदि पूर्वोक्त भेदों से जिनमें कुटीचक और बहूदक शिखासूत्रों का त्याग नहीं करते तथा त्रिदण्डी होते हैं। हंस और परमहंस शिखासूत्रों का त्याग करके एकदण्डी होते हैं। कहीं पर ही ज्ञान का उत्कर्ष होने पर दण्डादि का त्याग कर देने वाले भी परमहंस होते हैं।

इन सारी शास्त्रीय मर्यादाओं का परित्याग करके जो अनधिकारी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी संन्यास ले लेते हैं तथा संन्यास लेकर भी दलविशेष में घुस जाते हैं, वे सभी वृथाप्रव्रजित कहे जाते हैं। उनके लिए प्रायश्चित्तमयूख में यह श्लोक देखा जाता है—

'वृथा प्रव्रजितो यश्च सेतुभेत्ता च सूचकः।
आश्रमात् पतितो यश्च सोऽग्निज्वालं प्रपद्यते'।।

अर्थात् जो व्यर्थ ही संन्यास लेता है तथा मर्यादा का भेदन करता हुआ चुगलखोरी करता है और अपने आश्रम-धर्म से पतित हो जाता है वह 'अग्निज्वाल' नामक नरक में जाता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि यदि संन्यास लेते हैं तो वे अपने धर्म का ही विध्वंस करके पतित हो जाते हैं।

स्थितादुत्तरम् अर्थात् पूर्वोक्त शास्त्रीय सिद्धान्त के दृढ होने पर भी कुछ अपेक्षित पश्चाद्भावी विचार किया जाता है—

त्रैवर्णिकों के लिए ब्रह्मचर्य (वेदाध्ययन) को परिसमाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना ही उचित है। इनमें ब्राह्मणों के लिए पश्चाद् ही कलि में संन्यास का विधान है अथवा उत्कट वैराग्य के होने पर सीधे ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद ही वह संन्यास ब्राह्मणों के लिए ही स्वीकृत है, इस सिद्धान्त के स्थाणु की तरह अचल विराजमान होने पर भी यदि क्षत्रियादि महानुभावों को योग्य कन्या की सम्प्राप्ति नहीं हो पाती तब वे क्या करें? ऐसी अपेक्षा होने पर ही 'तदा कण्ठीं गृहीत्वा स्यु र्यथारुचि' यह कहा गया है। इसका यही अभिप्राय है कि पत्नीलाभ न होने की स्थिति में क्षत्रियादि के लिए घोड़े के समान ही ब्रह्मचर्य का धारण ही नैष्ठिक के रूप में प्राप्त होता है। इसमें उनके लिए संन्यास का अभाव ही कारण है और कुछ भी नहीं। वैसा संकट उपस्थित होने पर परिवार के मध्य में उनका रहना भी बहुत से अनर्थों का मूल होगा, अतः वे यथाकथञ्चिद् विरक्तों के मार्ग को ही ग्रहण कर लें, ऐसी शास्त्रकारों की अभ्यनुज्ञा (अनुमति) दिखायी देती है। इससे यही सूचित होता है कि वे मठ में रह सकते हैं। बिना गेरुआ वस्त्र धारण किये मठ में प्रवेश भी सम्भव नहीं होगा तथा मठ में प्रवेश न होने पर भोजन-वस्त्रादि की बाधा उपस्थित हो जायेगी जिससे धर्म का ही नाश होने लगेगा। इसीलिए वे क्षत्रियादिगण शिखा-सूत्रों के साथ ही वैष्णवों के स्थान में पीताम्बर धारण करके निवास करें तथा वैष्णवातिरिक्त मठों में संन्यास के समान ही गेरुआ वस्त्र धारण करें, ऐसा निश्चित होता है। स्वप्न में भी वे दण्डधारण या त्रिदण्डधारण न करें।

इसी प्रसङ्ग में—

'ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽथ वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहाद्'।

यह जो कूर्मपुराण का वचन निर्णयसिन्धु में उदाहृत है, उसकी गति की कल्पना कर ली जाती है। ऐसी स्थिति में—

चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिचोदिताः।
क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेको वैश्यशूद्रयोः'।।

यह पूर्व उदाहृत वचन विष्णु के लिङ्ग (चिन्ह) के निवारण के लिए ही होगा। जैसा कि भगवान् बौधायन कहते हैं—

'ब्राह्मणों का ही यह धर्म है कि वे विष्णु का लिङ्ग धारण करें। क्षत्रिय और वैश्य कदापि विष्णुलिङ्ग को न स्वीकार करें, यह दत्तात्रेय मुनि का वचन है'। यदि ऐसी बात है तो काषाय वस्त्र के पात्र क्षत्रिय आदि नहीं हो पायेंगे तो फिर इनके लिए भी काषाय के धारण की अभ्यनुज्ञा है, यह आप का कथन कैसे सिद्ध होगा? इसका उत्तर मैंने दे ही दिया है कि भोजन आदि की बाधा के उपस्थित होने से जब प्राण जाने का संकट उपस्थित होगा तभी वे काषाय धारण करके मठों में निवास करें। यह सब क्षत्रिय और वैश्यों के लिए ही पत्नीलाभ न होने पर ग्राह्य है, इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिये। इससे शूद्रों के लिए भी श्रीस्वामिनारायण ने कैसे काषाय वस्त्र के धारण की अनुमति दे दी? सुधीजन थोड़ी आँख मूद कर विचार करें। मेरी दृष्टि में तो श्रीस्वामिनारायण जी का लोभ ही पुरःस्फूर्त हो रहा है। अपने सम्प्रदाय को अन्य सम्प्रदायों से विलक्षण दिखाना ही उनका लोभ है। लोभादि हेतु के विद्यमान होने पर आचार धर्म नहीं माना जाता, इस तथ्य को—

'अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्'।

इस सूत्र से भगवान् जैमिनि उजागर कर देते हैं। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये।

इस अधिकरण का प्रयोजन भी पूर्वोत्तरपक्षों से सुस्पष्ट है। सुधीगण यथायोग्य अनुसन्धान कर लें।

इति पातिपेटिकायां द्वादशं व्यवस्थया आश्रमधर्मस्वीकरणाधि-करणम् ।।१२।।

●

अथ त्रयोदशं परिगृहीतब्रह्मचर्यादिधर्माणामेव विदुषां संन्यासाधिकाराधिकरणम्

यह सिद्धान्त सुस्थिर हुआ कि संन्यासविधि ब्राह्मणों के लिए ही है। इसके बाद यह विचार किया जाता है कि क्या जो ब्रह्मचर्याश्रम को स्वीकार नहीं किये हैं तथा आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से परिपोषित हैं और प्रौढावस्था में सरजस्क पत्नी को स्वीकार किये हुए हैं एवम् जो अधिवक्ता, न्यायाधीश, अभियन्ता, चिकित्सक, क्लर्क और उन-उन पदों पर आसीन अधिकारी, सेवक आदि म्लेच्छवेश (पैंटादि) को धारण करने वाले, खड़े-खड़े मूत्र त्याग करने वाले, जिस किसी उपाय से धनार्जन में ही व्यग्र मन वाले, अत्यधिक कुतर्कों से आच्छादित चित्त वाले हैं वे भी अपने अर्जित वैभव से पारिवारिक जनों को परिपूर्ण करके सेवा से मुक्त होकर संन्यास ले सकते हैं या नहीं? क्या प्राप्त हुआ?

ये सभी के सभी भद्र पुरुष संन्यास ले सकते हैं? कैसे?

ब्राह्मणत्व से अविशिष्ट होने के कारण वृद्धावस्था में सारे कारणों के उपस्थित होने पर पूर्वोक्त आधुनिक महानुभावों के संन्यास का निवारण कौन कर सकता है? सेवाकाल में भी यदि सेवा से पर्याप्त धन मिल जाता हो तो पत्नी आदि का परित्याग करके संन्यास लिया जा सकता है। मठाध्यक्षपद से ही जो वैभव प्राप्त होगा उसी से परिवार की विभुता का संवर्धन हो जायेगा। संन्यासियों के चारों प्रकारों में पूर्वोक्त सारे जन ब्राह्मणत्व को आगे करके अपने परिपुष्ट प्रभाव से संन्यास लेते देखे जाते हैं और प्रतिष्ठा भी प्राप्त करते हैं। वे कपोलकल्पित आध्यात्मिक कथा भी करते हैं। इसीलिए वेद से बहिर्भूत ब्राह्मण भी हर प्रकार से परिवार को परिपूर्ण करके संन्यास लें, ऐसा प्रतीत होता है।।१-६।।

जन की वह अवस्था अवश्य आती है जिसमें शूद्र भी मान्य हो जाते हैं। कुलटा भी कौशेय (रेशमी) वस्त्र धारण करके विचित्र तिलक से सुशोभित होती हुई उस अवस्था में समादरणीय हो जाती हैं। यह वह लोक में प्रसिद्ध वृद्धावस्था ही सुशोभित है। उस अवस्था में पहुँच कर वह ब्राह्मण भी जिसने ब्रह्मचर्य-आश्रम को स्वीकार नहीं किया है या वेदोदित कृत्यों का सम्पादन नहीं किया है किं वा कहीं पर नीचता-भरा कर्म भी कर दिया है, क्यों नहीं भूलोक में माननीय होगा?

यदि वृद्धावस्था में संन्यासग्रहण के सारे कारण उपस्थित हो जा रहे हों। जैसे पत्नी से विक्षोभ, पुत्रादिकों के द्वारा पिटाई, संन्यास के कारण विशेष पूजा और मठादि का विस्तार आदि, तब काकतालीयन्याय से मुख्यमन्त्रिपद के लाभ के लिए सारे सांसदों एवम् उद्योगपतियों के समर्थन की तरह उन लोगों के संन्यास का निवारण कैसे किया जा सकता है? यदि पर्याप्त फल मिल रहा हो तो सेवाकाल में भी पत्नी आदि का परित्याग करके संन्यास को स्वीकार कर लेना ही मुझे उचित प्रतीत हो रहा है। इसीलिए कि संन्यास से ही दोनों फलों की प्राप्ति हो जायेगी। महन्तपद की प्रतिष्ठा आदि तथा उससे ही अर्जित वैभव से परिवार की पूर्णता कहाँ जाने वाली है? संन्यासियों के सारे भेदों में जजस्वामी, वकीलस्वामी तथा डाक्टरस्वामी आदि संज्ञा को प्राप्त हुए अपने अनुरूप ही सारे कामों को करने वाले भूयोभूयः दिखलायी देते हैं मठों में रहते हुए। वहाँ वैराग्य आदि संन्यासी के धर्म की क्या अपेक्षा की जा सकती है? अपने भक्तों के समुदाय में प्रवचनादि से उनकी हर तरह से प्रतिष्ठा बढ़ ही रही है वैसे ही जैसे कान्त के करतल के संस्पर्श से कान्ता के कुचकलशयुगल बढ़ जाते हैं। इस प्रकार वेदादिशास्त्रों के ज्ञान से शून्य पूर्वोक्त ब्राह्मण भी अपने परिवार को वैभव से तृप्त करके संन्यास का परिग्रहण करें, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर यह सिद्धान्त कहा जा रहा है—

सिद्धान्त

पूर्वोक्त प्रकारों वाले ब्राह्मणों के लिए भी संन्यासविधि नहीं है। कैसे? जिनको न करने से सर्वत्र शास्त्र में निन्दा दिखायी देती है तथा शपथों में भी वह पाप पुराणों में गृहीत होता है उस शास्त्राभ्यास का सम्पादन जिन्होंने गुरुकुल में नहीं किया है और न ही गृहस्थाश्रम में गृह्य कृत्य का सम्पादन किया है और जिनका मन भोगों से भूषित, भीषण एवम् निर्युक्तिक विचारों से आक्रान्त है तथा जो केवल भोगों का ही संचय करते हैं, ऐसे पुरुष यदि ब्राह्मणकुल में पैदा हो गये हों तो भी उनके लिए मोक्षफल में उन्मुख संन्यासधर्म कैसे सम्भव होगा? संन्यास तो प्रायः लोक में उन्हीं लोगों को शोभा देता है जो ब्रह्मचर्याश्रम में शास्त्रसम्पत्ति का अर्जन किये हैं तथा जिनमें कार्पण्यदोष शशशृङ्ग जैसा होता है और जो दानादि धर्मों का पुनः पुनः अनुष्ठान भी किये हैं। ऐसे ही महापुरुषों के गुणों का अनुकीर्तन मैं वसन्ततिलका छन्द में करने जा रहा हूँ; क्योंकि मेरे मन को उनके दिव्य गुण अपनी ओर खीच लिए हैं। जो लोग जन्म से ही श्रुतिपरम्परा से अपने चरित्र की रक्षा करते हैं तथा जो प्रतिदिन अपने चित्त, वाणी और मन में दुराचरण का भाव नहीं रखते ऐसे महापुरुषों को निरन्तर नमस्कार करता हूँ। इसके बाद तो बचता

ही क्या है? जिनकी वाणियों में, मानस में तथा शरीरों में अतीव रमणीय पदार्थसमुदाय वैसे ही विराजमान रहते हैं जैसे गुणियों में सद्गुणों की ही वासना रहती है, ऐसे पुरुष ही वास्तविक जीवन जीते हैं, न कि वे भी जो भोग में अन्धे हैं। जिनकी वाणी में अत्यधिक प्रतिष्ठित मधु विराजमान रहती है तथा कर्म में शुभ्र उदात्त मार्ग ही रहा करता है तथा जिनके शान्त मन में सारे संसार के लिए वैभव की कामना रहती है, वे ही पुरुष इस पृथिवी में पुण्यात्मा कहे जाते हैं। दौर्भाग्यरूपी कटुता से सम्पृक्त होने पर भी जो धर्ममार्ग पर चलते रहते हैं उन उदात्त चरितों से परिपूर्ण मन वाले महापुरुषों के चरणों में दासी के समान अतुल विभूति रहती है। जो सुधीजन होते हैं वे संसार की ही तेजोवृद्धि के लिए धन का त्याग कर देते हैं और उसी में ही अपनी विभुता एवम् भविष्य की दृष्टि रखते हैं तथा दृश्य जगत् को छिन्न-भिन्न मेघखण्ड की तरह देखते हैं। इस प्रकार से उनका प्रमाण भी विलक्षण ही होता है। जो लोग अपनी विशुद्ध कुलपरम्परा से समागत सन्ततियों के द्वारा सुप्रयुक्त गर्भाधानादि क्रिया से जन्मग्रहण करते हैं वे ही अपनी दुष्प्रवृत्तियों से जायमान विकारसमुदाय का तिरस्कार करके श्रौत विभा को भुवनों में विखेरते हैं।

इन सारे गुणों से विहीन, धर्म से ही विरक्त हो जाने वाले दुष्टों के सारे गुणों का भी कथन प्रसङ्गानुसार ही उसी छन्द में किया जाता है। धर्मज्ञों का उज्ज्वल समय वेदों के समान ही प्रमाण माना जाता है। उसको जो लोग खेल-खेल में त्याग देते हैं वे नर भौतिक चाकचिक्य में आदरबद्ध होकर क्या कोई तत्त्व प्राप्त करते हैं? जो लोग गोष्ठियों में अमृत के समान विष बोलते हैं तथा कुत्सित कलाओं से परिपूर्ण नीच कर्म करते हैं वे मन में आये हुए भी शास्त्रनिश्चय का त्याग करते हुए हाथियों के द्वारा भक्षित कपित्थ (कैथ) के समान ही होते हैं। वे निश्चय ही व्यर्थ में विरक्तवेश धारण कर लिए हैं तथा कुचोद्यविधा में प्रबल हैं एवम् उनके प्रति वटुकों का आकर्षण भी स्वार्थ को लेकर ही होता है जो सारी विद्याओं के पारगामी श्रेष्ठ ब्राह्मणों को भी उसी तरह झटक देते हैं जैसे बल्लेबाज अपने बल्ले से गेंद को झटक देता है। वे दुष्ट निश्चय ही अपने दीर्घोदर को परिपुष्ट करने के लिए ही अपने घर के किसी कोने में चार-पाँच वटुकों को रखते हैं जो सेठों से प्राप्त घी का पान करते हैं तथा उन वटुकों को मूर्ख बना कर त्याग देते हैं। वे नीच कङ्कण वाले बाघ के चरित्र का ही, जिसमें दुराचार ही भरा रहता है, अनुशीलन करते हैं। मैंने मरने का सङ्कल्प ले लिया है, ऐसा कहते हुए अपने श्रेष्ठ मित्रों का भी वे पापी तिरस्कार करते हैं। ऐसे शठोत्तम खल त्रिजातों को धिक्कार है। श्रीकृष्ण के आश्रम का सेवन करने वाले उन धूर्तराजों को भी धिक्कार है। पुनः

पुनः उन धूर्तों को धिक्कार है जो प्रबलों के आश्रित होकर दुःशासन आदि की भी हँसी उड़ाते हैं अर्थात् उनसे भी वे नीच हैं। जिनका प्रबोध जागरित है, ऐसे नीतिमान् महात्माओं के ग्रन्थरत्न को जो यहाँ तत्क्षण प्रदूषित करते हैं वे छद्म नाम देकर पृथ्वी पर गुह्यभाग से निकले मल का भक्षण अपने मुख से ही सूअरों की भाँति करते हैं। कानों में प्रिय लगने वाली वाणी सुचारु रूप से ये नीच बोलते हैं और बाद में तीक्ष्ण चरित वाले लोग प्रमुग्ध पुरुषों को डस लेते हैं। अपने कार्य को साधने में अन्धे चारों तरफ सञ्चरण करते हुए मच्छर और दुष्टपुरुष क्या निःश्रेयस के लिए भी हो सकते हैं? ये जैसे विकृत पदार्थों को खाते हैं वैसा ही शीघ्रातिशीघ्र त्याग कर देते हैं तथा समान मार्ग में भी बहुधा कुटिल चालें चलने वाले खल पुरुष केचुओं की तरह ही पृथ्वी पर दिखायी देते हैं। ये शठता के उत्तम प्रकारों से आच्छादित मन वाले जिनकी पापसागर की तरङ्गें दीर्घतया फैलती रहती हैं वे संन्यास आश्रम में भी विनय के प्रसङ्गों को ध्वस्त कर देने वाले विषयों के भौंरे अपने शरीर को मटकाते रहते हैं। इन दुर्बुद्धियों का निःश्रेयस से भला कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होने वाला है? अर्थात् इनकी रचना धर्मादि के अनुष्ठान के लिए होती ही नहीं है। इन धर्म से विदूर मानस वालों के लिए भोग ही परम सिद्धि है; क्योंकि इनका प्रेम विभवों में ही होता है। क्या गदहों के लिए घास से भी अच्छी कोई चीज हो सकती है?

इन दुरात्माओं के प्रवर्धमान दुर्वासनारूपी वृक्षों के बल से ही दीर्घ एषणा के परिपाक को समझा जा सकता है; क्योंकि ये धर्माधिकार को प्राप्त करके भी धर्म को ही प्रदूषित करने में प्रायः बढ़ चढ़कर लगे रहते हैं। पर्याप्त वैभव प्राप्त करके भी ये पापी धर्म के निमित्त एक कौड़ी भी व्यय नहीं करते। वही ये दुष्ट मदिरा, मांस और वेश्या आदि विलास की भूमिकाओं में सन्तुष्ट होकर पर्याप्त धनराशि चारों तरफ विखेर देते हैं। आश्चर्ययुक्त प्रभेदों के साथ नाना उपायों से श्री को प्राप्त करके पत्नी, पुत्र आदि में ही परम प्रीति रखने वाले स्वप्न में भी जब परोपकार का प्रयास भी नहीं करते तब वे उस धर्म का सेवन कैसे कर सकते हैं जिसका अभ्यास मुनिजन करते आ रहे हैं। विद्वानों के मध्य में भी बहुत से खल भरे पड़े हैं जो विद्या के बहाने पापों का गोपन (संरक्षण) करते हैं। उनके लिए वेद जिन जिन धर्मों का आदेश करते हैं उन उन धर्मों से वे विपरीत आचरण ही करते हैं। जो वेदों के अध्यापन में यहाँ नियुक्त हैं वे ही शिखा से विहीन होकर म्लेच्छादि के वेशों के रसिक हो गये हैं। ये वेदों के अध्यापक बार-बार उच्चारण करते हुए, अखिन्न मन वाले जो दुर्भोज्य पदार्थों का भक्षण करते हैं;

क्या वह सब अभ्युदय के लिए करते हैं? कुछ एक विद्वान् अपने माथे में भस्मपुण्ड्र धारण करके म्लेच्छ आदि के पुत्रों के अभिवादन के लिए चले जाते हैं। वहाँ से आदरसम्मान प्राप्त करके यहीं पर वृद्धि को प्राप्त हुए कुजात से प्रशस्त्रिपत्र प्राप्त करके वितर्क करते रहते हैं। अहो! यहाँ राष्ट्र की उन्नति कैसे सम्भव है? जब ये विचारशून्य विद्वान् विभवसम्पादन के लिए ही भुवन में भ्रमण करने लगे हैं। ये संसर्गी पतित समुद्र के लङ्घन में तत्पर होकर धर्मज्ञों के धर्म-मार्ग की निन्दा भी करने लगे हैं। दरिद्र बुद्धिपरम्परा से युक्त इन विद्वानों का परम लक्ष्य द्रव्य ही हो गया है जिसके लिए वे नीति के मार्ग की उपेक्षा करते हुए चाटुकारिता की सम्पूर्ति में ही लगकर अधमों की सेवा में जुट गये हैं। यद्यपि इन कृपणों में पूर्वोक्त मूर्ख खलों की तरह व्यर्थ का व्यय अपना स्थान नहीं ग्रहण कर सकता तथापि वे भी अपने पुत्रों को नौकरी दिलाने के लिए पर्याप्त घूस की राशि अधमों के हाथों में रख देते हैं। दैवयोग से यदि कभी ये नौकरी में पुरुषों को नियुक्त करने के लिए अधिकारों से सम्पन्न हो जाते हैं तब उत्तम गुण वाले अर्ह पुरुषों का तिरस्कार करते हैं तथा पर्याप्त घूस लेकर अत्यन्त मूढ अनर्ह पुरुषों को प्रतिष्ठित पदों पर नियुक्त कर देते हैं। जो कर्म मूढमनुष्यों के लिए भी अच्छा नहीं माना जाता उसको भी ये विद्वत्खल बड़े आराम से करते हैं। ये अपने प्रभावों के सूचक, व्यर्थ ही अन्य द्विजों के प्राप्तव्य अर्थसमुदाय को रुकवा देते हैं। मात्सर्यादि दुर्गुणों से जिनके हृदय में विकल्पों की भरमार हो गयी है, ऐसे अल्पप्राण, वटुकप्रधान ये विद्वान् प्रबलाश्रित होने के कारण माधवपरक होकर स्वरूपानन्द में भी अर्थात् आत्मा के प्रत्यक्स्वरूप में भी तीव्र विवाद खड़ा कर देते हैं। अत्यन्त रूखे स्वभाव वाले ये लोग अपनी इष्टसिद्धि के लिए रात-दिन यद्यपि मनोहर वाणी बोलते हैं; किन्तु वहीं पापों से परिपुष्ट कार्य करके शिष्ट जनों को भी ठगने के लिए दक्ष हो जाते हैं। इन अधम विद्वानों में ही कुछ मदमस्त जार (परस्त्रीगामी) नीच जाति की महिलाओं को रखकर स्वयं ही विद्वान् बन गये हैं। वे निश्चय ही विहिपादि दलों से मिलकर अनादिपरम्परासिद्ध वेदप्रतिपादित धर्म की धाराओं का छेदन कर रहे हैं। पैसों के माध्यम से दिशाओं में अपने दलालों को लगाने वाले, श्रौत (वैदिक) विद्या को विदीर्ण करने के लिए कटु कर्मों को करने वाले, सदाचार से भ्रष्ट कुछ अनधिकारी सिद्ध हो गये हैं जो विषयरूपी मांसों के उपभोग में अवरुद्ध गिद्ध ही हैं। दुरदृष्ट के प्रभाव से जिन की बुद्धि ही अपहृत हो गयी है, ऐसे पुरुषों की यदि इस प्रकार की दुष्ट मति और गति दोनों हो गयी हो तो भी ये संन्यास के अधिकारी हैं, ऐसा कहने वाला विचारमूढ़ व्यक्ति लज्जा के सागर में क्यों नहीं समा जाता? इस प्रकार के पुरुष विरक्तों के

मध्य भी हैं जिनका आत्मतत्त्व ही नष्ट हो गया है और मन भी वेदादि शास्त्ररत्नों को दूषित करने के लिए दुष्ट हो गया है। ऐसे लोग ही आचारसेतु को ध्वस्त करने के लिए बाहर बढ़े हुए, कुत्सित, महामूढ़ वटुकों को इधर-उधर दौड़ाते रहते हैं।।७-५१।।

संन्यास आश्रम में अधिकार को प्राप्त करने के लिए शास्त्रों का अतिक्रम न करते हुए ब्रह्मचर्य का परिग्रह नियत है। इसीलिए कि जिसने ब्रह्मचर्य का परिग्रह नहीं किया है, उसकी निन्दा पुराणों में सुनी जाती है। जैसा कि हेमाद्रि में ब्रह्माण्डपुराण का वचन है—'हे व्याध! जो द्विज होकर भी वेदभ्रष्ट हो जाता है तथा स्वाध्यायाध्ययन, सन्ध्या, सत्य और शुचिता से शून्य है एवम् जो अविक्रेय वस्तु का भी विक्रय करता है तथा जिनका यज्ञ नहीं कराना चाहिये उनका भी यज्ञ कराता है उसको जो पाप लगता है मैं उसी पाप से लिप्त हो जाऊँ यदि तुम्हारे पास न आऊँ। कृतघ्न, कदर्य, नास्तिक, वेदनिन्दक, चुगलखोर, कन्या को वेचने वाले, दूसरों पर दोषारोपण करने से सन्दुष्ट, हर प्रकार के धर्मों से बहिष्कृत, शूद्रा के पति और अपने माता-पिता के अपोषक जिस पाप से ग्रस्त होते हैं तथा श्राद्ध और तीर्थ-यात्रा न करने वालों में, बगुलाभक्तों में तथा धर्म में ही हेतु ढूढ़ने वालों में जो पातक लगता है वह सब मेरे लिए हो यदि मैं पुनः न आऊँ? महाशिवरात्रिव्रत की कथा में व्याध के प्रति मृगी के ये शपथवचन हैं। इसीप्रकार उसके पति मृग के भी शपथ वहीं दिखलायी देते हैं। तथा हि—जो विप्र प्रवास के ही स्वभाव वाले, क्रय-विक्रय करने वाले, सन्ध्या-स्नान से विहीन, वेदादिशास्त्रों के ज्ञान से शून्य, शराबी, स्त्रियों में आसक्त, दूसरों की निन्दा में निपुण तथा परस्त्रीसेवक, चुगलखोर, शूद्रों के अन्न को खाने वाले, रस के विक्रेता हो गये हैं उनको जो पाप लगता है उसी पाप से मैं लिप्त हो जाऊँ यदि आप के घर में पुनः न आऊँ। जो ब्राह्मणों के वचनों का परित्याग करके पाखण्ड में लग गये हैं तथा जो शूद्रों के अन्नों को खाने में लगे रहते हैं, शूद्रों के ही साथ रहते हैं, सन्ध्या आदि कर्मों से भ्रष्ट हो गये हैं तथा दान देने से रोकने वाले हैं उनको जो पाप लगता है मैं उसी पाप से लिप्त हो जाऊँ यदि आप के घर पुनः न आऊँ'। इन वचनों से वही निश्चित होता है जिसे सिद्धान्तयुक्तियों से सिद्ध किया जा चुका है।

न केवल मेरे द्वारा ही यह पक्ष निर्धारित नहीं है कि पूर्व में ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वाले, श्रुति-स्मृति-सदाचार-शिष्टात्मतुष्टि आदि से प्रसाधित धर्मों को करने वाले, उदारमानस, कृपणतादोषों से शून्य मन वाले, विरक्त महापुरुषों के

लिए ही अपवर्ग (मोक्ष) का प्रयोजक संन्यासमार्ग है, अपि तु हमारे आचार्यों ने भी इसी पक्ष को परिपुष्ट किया है। जैसा कि 'शास्त्रदीपिका' ग्रन्थ में श्रीपार्थसारथिमिश्र कहते हैं—

'मनुष्यों के ऊपर प्रतिदिन जन्म, मृत्यु, वार्धक्य, व्याधि और दुःख विना यत्न के ही हजारों रूपों से स्वयम् ही आते रहते हैं। विहित कर्मों के त्याग से तथा प्रतिषिद्ध कर्मों के सेवन से अधिक संख्या में पारलौकिक दुःख ही प्राप्त होता है। यदि इस संसार में यत्किञ्चित् थोड़ा सुख मिलता भी है तो विवेकियों को चाहिये कि वे उसका सुरापानजन्य सुख के समान ही परित्याग करें। इस प्रकार के संसार में भी सुख की तृष्णा से जो लोग अनुरक्त रहते हैं उनका मुक्तिशास्त्र में किसी भी तरह अधिकार सिद्ध नहीं होता। जो लोग संसार से भयभीत रहते हैं तथा संसार के उच्चावच लोगों का ज्ञान भी रखते हैं वे ही मुक्त होते हैं न कि प्राकृत जन भी। ऐसे विरक्त महात्माओं के लिए ही मोक्षनामक पुरुषार्थ शास्त्रों में कहा गया है'।

इस प्रतिपादन से पूर्वपक्षी के द्वारा संन्यास के लिए प्रस्तुत कारणसमुदाय को ध्वस्त समझना चाहिये। केवल पत्नीविक्षोभ आदि ही संन्यास के कारण नहीं हैं। तब कौन हैं? ब्रह्मचर्याश्रम में नियमपूर्वक अर्जित शास्त्रसम्पत्ति, गृहस्थाश्रम में नित्यनैमित्तिक आदि कर्मों के अनुष्ठान की समृद्धि और पूर्णतः वैराग्य ही संन्यास के कारण हैं। जिनके पास ये होते हैं वे ही विरक्ताश्रम अर्थात् संन्यासाश्रम में प्रवेश के योग्य हैं न कि कोई अन्य, जिनका मन संसार में ही रमा हुआ है। यदि आधुनिक शिक्षा से प्रभावित मन वाले, प्रौढ शिक्षित महिला से विवाह करने वाले कदाचारों में न लगें तो भी वे पुरुषार्थों में अधिकृत नहीं हो सकते। क्योंकि इनके लिए शास्त्रों में दोषों का स्मरण विद्यमान है। जैसा कि रजस्वला की अवस्था को प्राप्त हुई महिला के परिग्रह में भगवान् यम दोष का कथन करते हैं—

'जो ब्राह्मण मद से मोहित होकर प्राप्तरजोधर्म कन्या से विवाह करता है वह विप्र वृषलीपति होकर सम्भाषण और पङ्क्ति में भोजन के योग्य नहीं रह जाता'।

कामज वृत्ति से दूसरे पुरुष से संस्पृष्ट अथवा स्वयमेव कामासक्त होकर अन्य पुरुष से संगता कन्या कैसे विवाह के योग्य हो सकती है? यदि वह विवाहित हो भी जाती है तो धर्मसम्पत्कारिणी कैसे होगी? प्रौढ़शिक्षाकेन्द्रों में पुरुष और स्त्रियाँ पारस्परिक भेदों को भूल कर परस्पर की सहायता को प्राप्त करके जहाँ शिक्षा ग्रहण करते हैं और उनके वहाँ विलक्षण हास्य, विनोद आदि दिखायी देते हैं, यह सब संस्कारित मन वाले पुरुषों को अविदित नहीं है। देश के एक कोने से

देश के दूसरे कोने में युवतियाँ अपने पुरुष मित्रों के सम्बन्ध से परिपुष्ट सकल अङ्गों वाली जाती ही हैं। ये सभी धर्मानुरागी कुलीन पुरुषों के साथ विवाह के योग्य कैसे हो सकती हैं? इस तथ्य को विद्वान् अपनी आँखे दबाते हुए समझते रहें। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त प्रकारों वाले पुरुषों के लिए संन्यास है ही नहीं। किञ्च, संन्यास को स्वीकार करने पर भी भगवान् मनु जिस वेदाभ्यास की अवश्यकरणीयता का उपदेश कर रहे हैं उस वेदाभ्यास को वे पुरुष कैसे कर सकते हैं जो ब्रह्मचर्य को स्वीकार ही नहीं किये हैं? पूर्वपक्षी ने जो यह कहा है कि परिवार को वैभव से परिपूर्ण बनाकर संन्यास ले लेना चाहिये, इसके उत्तर में यही कहा जायेगा कि उसका वह कथन विप्रतिषिद्ध है। कैसे? इसीलिए कि यथाशास्त्र अर्जित सम्पत्ति के दान के बाद ही संन्यास का परिग्रह स्मृतियों में प्रतिपादित है जैसा कि योगी याज्ञवल्क्य का कहना है—

'सारी सम्पत्ति को ही दक्षिणा में देकर यज्ञ का सम्पादन करके उन अग्नियों को अपनी आत्मा में आरोपित करके वही पुरुष मोक्ष में अपना मन लगाये जो वेदाध्ययन किया हो और मन्त्र का जप करने वाला, अग्निकार्य से सम्पन्न यज्ञकर्ता भी हो। इन सारे कृत्यों को न करने वाला संन्यास न ले'।

पुनः कुचोद्य प्रस्तुत करने वाला कहता है—यथाशास्त्र न्यायार्जित सम्पत्ति का दान विहित है, इतने मात्र से अन्यायार्जित सम्पत्ति के द्वारा परिवार की वैभवपूर्णता का कोई विरोध नहीं है? यह कथन तथ्यपूर्ण नहीं है; क्योंकि वैसी सम्पत्ति नरक की प्रयोजिका होती है। इतने प्रतिपादन से पूर्वपक्षी का यह वचन छत से भूमि में गिरे कोहड़े की तरह खण्डित हो जाता है कि सेवा के मध्य में संन्यास ले लिया जाय और संन्यास के ही माध्यम से परिवार तथा मठ के वैभव का सम्वर्धन किया जाय। इसीलिए कि पारिवारिक वैभव का सम्पादन संन्यासियों का कार्य नहीं है। यदि प्रारब्धानुसार संन्यासी को वैभव की प्राप्ति हो जा रही हो तो वह वेदादिशास्त्रों के सम्वर्धन के लिए ही होना चाहिये न कि उसका उपयोग परिवार के उपभोग के लिए भी उचित है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि मठ के चारों ओर पारिवारिक जनों को लगा देना और उन्हीं में से किसी एक को संन्यासदीक्षा देकर महन्त बना देना न केवल संन्यासधर्म के विरुद्ध है, अपि तु यावत्कल्प नरकसंचय का हेतु भी है। अतः यतिप्रवरों को यही चाहिये कि वे इन सारे कुकृत्यों का सम्पादन न करें। अतः पूर्वोक्तों के लिए संन्यास नहीं है। इसीलिए तो संन्यासियों का क्या धर्म है? ऐसी अपेक्षा होने पर पराशर कहते हैं—

'संन्यासी निःस्पृह होकर अकेला ही रहे और किसी के साथ वार्तालाप न करे। यदि उससे कोई कुछ कहता भी है तो उत्तर में वह 'नारायण' ऐसा ही बोले'। संन्यासी किन-किन वस्तुओं को अपने पास रखें, इस विषय में अत्रि का कहना है—

'गुह्य को ढकने के लिए वस्त्र, शीतनिवारणार्थ कन्था (लेवा) तथा खड़ाऊ का ही संन्यासी संग्रह करें। इनसे अतिरिक्त द्रव्य का संग्रह वे कदापि न करें'।

यहाँ पर कुछ लोग इस प्रकार से कुचोद्य करते हैं—

अनादिकाल से ही संन्यासियों की दो प्रकार की परम्परा चली आ रही है। एक राजर्षिपरम्परा जिसमें इन्द्र की स्पर्धा करने वाले वैभव की व्यवस्था और चाँदी आदि के सिंहासन पर बैठने की व्यवस्था होती है। दूसरी अन्य ब्रह्मर्षियों की परम्परा है जिसमें सर्वस्व के त्याग वाली पूर्वोक्त व्यवस्था आती है। इस प्रकार इस अधिकरण में कहे गये जो ब्रह्मचर्य का ग्रहण नहीं किये हैं तथा आधुनिक शिक्षा से प्रभावित मन वाले हैं एवम् जिनकी बुद्धि वैभव में ही जकड़ गयी है और जो तीनों एषणाओं से सम्पृक्त हैं, वे सभी के सभी महानुभाव भी राजर्षिपरम्परा में विराजमान हो सकते हैं। अतः उन सभी के लिए संन्यास वैध ही होना चाहिये। ये सारी की सारी बातें अत्यन्तमूढ पुरुषों को भी सन्तुष्ट नहीं कर पायेंगी। जिनका चित्त विषयों में व्यग्र हो गया है और जो वेदादिशास्त्र, रामायण, महाभारत और पुराणादि के अनुशीलन से परिशून्य हैं तथा संसार में कदाचारों के व्यवस्थापन में लग गये हैं उन लोगों के विषयोपभोग के समर्थन के लिए ही कुतर्कों से सम्पृक्त ये सारी चीजें वाणी के छर्दन ही हैं। वैसे कुछ ही महापुरुष होते हैं जो यहाँ शास्त्रों का अतिक्रमण न करते हुए उपदेश करते हैं। वे स्वयम् आचरित शास्त्रविरुद्ध कर्मों के समर्थन के लिए उन सारे क्रियाकलापों को शास्त्रीयरूप से व्यवस्थापित नहीं करते। बहुसंख्यक वैसे ही पुरुष यहाँ भरे पड़े हैं जो प्रमाद से जायमान अपने स्खलन का समर्थन शास्त्रीयरूप से करते हैं। जैसे समुद्र का लङ्घन करने वाले और आरुढपतित लोग करते हैं। 'राज' शब्द क्षत्रियजाति में रूढ है, इस तथ्य का प्रतिपादन मीमांसा के द्वितीय अध्याय में अवेष्टि-अधिकरण में किया गया है। इतिहास-पुराणादि में उसी क्षत्रिय का राजर्षि के रूप में व्यवहार दृष्ट है जो सारे के सारे श्रुतिप्रतिपादित धर्मों में व्यासक्त है तथा यथाशास्त्र प्रजापालन में भी व्यवस्थित है। एवम् 'ब्रह्मर्षि' शब्द भी सारे धर्मों में संसक्त चित्त वाले ब्राह्मण में ही व्यवस्थित है। इस प्रकार संन्यासियों के प्रभेदों में पूर्वोक्त कुचोद्यी की व्यवस्था सिद्ध नहीं होगी, इसीलिए पूर्वोक्तों के लिए संन्यासधर्म में व्यवस्थापन का प्रयास

व्यर्थ ही है। यही बात सिद्ध हुई कि पहले जो ब्रह्मचर्याश्रम को स्वीकार किये हैं, ऐसे शास्त्रज्ञों के लिए ही संन्यास है।

इस अधिकरण का प्रयोजन पूर्वपक्ष में कल्पपर्यन्त नरकों का प्रयोजक वृथाप्रव्रजित दोष का अभाव तथा सिद्धान्त में उसकी विद्यमानता ही है।

इति पातित्यपेटिकायां त्रयोदशं परिगृहीतब्रह्मचर्यादिधर्माणामेव विदुषां संन्यासाधिकाराधिकरणम्।।१३।।

अथ चतुर्दशं त्रिजातपदार्थविवेचनाधिकरणम्

'धिक् तान् शठोत्तमखलानधमान् त्रिजातान्' इस श्लोक में खलवर्णन के प्रसङ्ग में आये 'त्रिजात' पद के अर्थ विवेचन के लिए इस अधिकरण की संरचना की जाती है। अरे! शब्दों के उन उन अर्थों के लोकतः सिद्ध होने के कारण यह अधिकरण व्यर्थ ही है, ऐसा कहूँ तो? नहीं। वैसा आप नहीं कह सकते। लोकसिद्ध होने पर भी किन्हीं शब्दों की वाच्यता विवादों से ग्रस्त होती है, अतः अधिकरण का आरम्भ सार्थक ही है। इसीलिए तो सम्परेत अर्थात् 'मृत' अर्थ में लोक में प्रयुज्यमान होने वाले 'व्यापन्न' शब्द के, जो 'व्यापन्नमप्सु प्रहरति' इस प्रकार से वेद में दृष्ट है, विवेचन में महर्षि जैमिनि की प्रवृत्ति भी उपपन्न होती है। आर्यम्लेच्छ-पिकनेम आदि अधिकरण इसी अभिप्राय से लब्धसत्ताक हुए हैं। यद्यपि व्याकरण से सन्देह की विषयता को प्राप्त हुए कुछ शब्दों का अर्थविशेष में निश्चय मीमांसा के न्यायों के आश्रय से हो जाता है। जैसे 'आदित्यः प्रायणीयश्चरु र्भवति' इस वेद में समागत 'आदित्य' शब्द का निश्चय मीमांसान्याय के माध्यम से ही होता है। 'आदित्यो देवता अस्य, अदिति र्देवता अस्य' अर्थात् जिस हवि की देवता आदित्य या अदिति होगी उस हवि को आदित्य कहेंगे। इस प्रकार व्याकरण से दोनों प्रकार से व्युत्पत्ति हो जाती है। प्रथम आदित्यपक्ष में 'हलो यमां यमि लोपः' से यकार के लोप का स्मरण भगवान् पाणिनि ने किया है अतः 'आदित्य' की व्युत्पत्ति में कोई बाधा नहीं होगी। प्रकरण में कौन देवता होगी? यह अपेक्षा होने पर 'सन्दिग्धे तु वाक्यशेषात्' इस न्याय के बल से 'अदितिमोदनेन' इस वाक्यशेष (अर्थवाद) के बल से अदिति ही देवता है, न कि आदित्य भी, ऐसा निश्चय होता है। इसी न्याय से वाक्यशेष के द्वारा ही पसाये गये, भीतरी ऊष्मा से पके हुए तण्डुलरूप भात से भिन्न रूप वाले विना पसाये, अन्तरुष्मा से पके तण्डुलरूप चरु का भी निश्चय होता है कि वह ओदन ही है न कि स्थाली (वटुलोई)। इस तथ्य का निर्णय मीमांसा के दशम अध्याय में किया गया है। इस प्रकार 'व्यापन्न' शब्द का किसी भी न्याय से अर्थविशेष निश्चित नहीं होता, अत एव भगवान् जैमिनि मीमांसा के षष्ठाध्याय के पञ्चमपाद के सोलहवें अधिकरण में—

'व्यापन्नस्याप्सु गतौ यदभोज्यमार्याणां तत् प्रतीयेत' इस सूत्र के द्वारा केश, कीट आदि ही 'व्यापन्न' पद का अर्थ है, ऐसा सिद्धवत् उपदेश करते हैं। इस विधि

के द्वारा आज्यादि हवि में विद्यमान तृणकेशादिरूप व्यापन्न का जल में प्रक्षेपरूप प्रायश्चित्त विहित है। लौकिक होम में भी इसका अतिदेश किया जा सकता है। 'त्रिजात' शब्द की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। अत एव उसके अर्थ के विचार के लिए इस अधिकरण का आरम्भ युक्त ही है। यहाँ पर कुछ लोग 'त्रिजात' शब्द को यौगिक मानकर अर्थविशेष की व्यवस्था स्वीकार करते हैं—'त्रिभिः पुरुषैः एकस्यामेव योषिति जातस्त्रिजात इति। अर्थात् जो एक ही स्त्री में तीन पुरुषों से पैदा हो वह त्रिजात है। यह पक्ष अतीव रुचिकर नहीं है; क्योंकि एक स्त्री का तीन पुरुषों से सम्बन्ध होने पर भी उसका गर्भ किसी एक पुरुष के ही बीज सम्भव है। इसीलिए कि अनेक बीजों का एक गर्भ में निमित्त होना आयुर्वेदादि में श्रुत नहीं है। अतः तीन पुरुषों से सम्बन्ध होने के कारण जिस स्त्री के गर्भ का कारण निश्चित न हो उस कारणविशेष से उत्पन्न त्रिजात होगा। यह पक्ष भी विद्वानों के मन को ठीक से आकृष्ट नहीं करता। गर्भ के निमित्त के अनिश्चित होने पर भी कदाचित् वह उसके पति का भी हो सकता है। स्त्री का अन्य पुरुषों से सम्बन्ध होने पर भी पति के द्वारा आहित बीज से समुत्थ गर्भ की अनादणीयता लोक में नहीं देखी जाती। क्योंकि स्त्री का अन्य पुरुषों से सम्बन्ध लोक में विगर्हणीय होता है, न कि अपने ही पति से जायमान सन्तति। एवञ्च, तीनों पुरुषों के मध्य में अपने पति से भिन्न पुरुष से जो पैदा होगा वही त्रिजात होगा, यह परिशेषतः लब्ध होता है। तथा च, 'त्रिजात' शब्द पङ्कज आदि शब्द के समान ही योगरुढ है, ऐसा प्रतीत होता है। इस पक्ष में भी नारीजाति का अपमान अवश्यम्भावी है, ऐसा मानकर न्यायतत्त्वों के ज्ञाता रूढि ही स्वीकार करते हैं। संस्कारों का अभाव, प्रतिषिद्ध तिथि नक्षत्रों में उत्पन्न होना तथा कुलादि के दोष आदि प्रयोजकों के विद्यमान होने पर जो कदाचार लोक में पुरुषों के द्वारा होता है उन पुरुषों की ही संज्ञा त्रिजात है, यह सिद्ध हुआ। इस विषय में परिकरश्लोक भी हैं—जो लोग दुर्दम्भ के बल से उग्र चरित के आश्रित होकर अधम और दुर्मुख हो गये हैं तथा साधारण मानवों को भी वैदिकमार्ग से च्युत कर देते हैं एवम् शास्त्र आदि में जिनको शठ कहा जाता है वे पाखण्डी, धर्म में हेतुदर्शी, विपरीत, हतवृत्ति और खलबुद्धि वाले सभी त्रिजात के रूप में स्मृत हैं॥१॥

पापों से परिपूर्ण मन वाले चुगलखोर जो लोग सत्पुरुषों को भी पीडित करते हैं तथा जो मिथ्या आरोप मढ़कर विचित्र प्रकार की कटुता से समुल्लसित कर्म करते हुए कुण्ठित हो गये हैं एवम् जो बाह्याडम्बर रूप विभुता से समता के साम्राज्य का विस्तार करते हैं वे सभी धूर्त धैर्य और धर्म का चोंगा धारण करने वाले त्रिजात ही हैं॥२॥

जिनका प्रयत्न अपने भयङ्कर, असीम और द्यूत के समान उदररूपी कन्दरा को भरने के लिए ही होता है और जिनके हलाहलविष से परिपूर्ण मुखोच्छ्वासों से विदीर्ण प्राण वाले होकर साधु पुरुष दहकते उद्दाम अग्नि में दग्ध हुए की तरह पीडित होते हैं वे सारे के सारे दुर्दान्त दलों में अनुरक्त बुद्धि वाले त्रिजात ही माने जाते हैं॥३॥

जो सत् शास्त्रों को प्रदूषित करने के लिए कपट से परिपूर्ण हास्यास्पद ग्रन्थाभासों की पर्याप्त रचना करते हैं और अपने नाम का भी गोपन करते हैं। इस प्रकार से दुराचार करते हुए भी जो जनता के सामने स्वयम् को शिष्टरूप में प्रस्तुत करते हैं वे सभी साँप के केचुल के समान हाथी की तरह स्थूल दृष्टि रखने वाले त्रिजात ही होते हैं॥४॥

अपने क्षुद्र स्वार्थ की वृद्धि के लिए जो पतितों के प्राङ्गण में भोजन भी कर लेते हैं तथा पातक कर्मों में निरत दुष्टों का भी अपने दल में चयन करते हैं और जो धर्मविचार में निपुण शिष्ट जनों को भी धिक्कारते हैं वे सभी वर्णाश्रमधर्म के प्रदूषक त्रिजात कहे जाते हैं॥५॥

जो धर्मसाम्राट् श्रीमत्करपात्रस्वामी जी की नीति की व्यर्थ ही चारों ओर बखान करते हैं तथा नित्य ही जो गङ्गातट के कौवे, धूर्त कुत्सित कर्म करते हैं एवम् जो सर्वतः त्याज्य अपने पतित पुत्रों के सङ्ग की इच्छा करते हैं वे सभी दम्भी और विद्वत्समुदाय में भेद पैदा कर देने में निपुण त्रिजात हैं, ऐसा शिष्ट त्रैवर्णिकों का स्मरण है॥६॥

जो मूढ़ बुद्धि वाले शूद्रों और स्त्रियों को भी गायत्रीजप आदि कर्मों में प्रेरित करते हुए चपल हो गये हैं तथा उन्हें यावत्कल्प अत्युग्र नरकों में ढकेल रहे हैं वे सभी नीच, नयी-नयी कल्पनाओं से कलुषित त्रिजात ही होते हैं॥७॥

जो लोग मर्यादाप्रधान भूमि के विदारण में दुष्ट चूहे हैं और जो सत्सम्पत्तिसमुदाय रूपी फसलों को जलाने के लिए ग्रीष्म के सूर्य हैं तथा जो पाखण्ड की उन्नत दीवार की संरचना में दुर्भग शिल्पी हैं वे सभी वार्ता करने में पटु, परिणाम में कटु त्रिजात ही हैं॥८॥

जो अपने पुत्र आदि को नौकरी दिलाने के लिए अपने ही इष्ट-मित्रों को तिरस्कृत करते हुए कौलाचारों से सम्पन्न, कलि के कुलपति के गुह्य में आदरपूर्वक प्रवेश कर जाते हैं और बाद में आशा के भग्न होने पर पुनः टेढी चाल चलते हुए कुण्ठावली से ग्रस्त हो जाते हैं वे सभी चञ्चा (धोस) के समान कान्ति वाले, [illegible] त्रिजात हैं॥९॥

जो लोग अपेक्षा में खरे न उतरने वाले, विचारों से शून्य जनों का हमेशा सत्कार करते हैं तथा जो कर्तव्यपरायण, आप्तपुरुषों की उपेक्षा में सिद्ध अन्त:करण वाले होते हैं वे सभी संस्कृतवाङ्मय के परिपोषण में ही लगे रहने वाले इस समय गदहों की पूजा करने वाले, आकाश मार्ग से चलने वाले त्रिजात ही कहे जाते हैं।।१०।।

इस प्रकार जो वेदप्रतिपादित श्रीपरम्परा से विमुख हो जाने के कारण सर्वथा विपरीत हो गये हैं तथा जो दम्भ के अङ्गारों में प्राप्त पापों से प्रखर खपरैले में पके हुए लावा हैं तथा भीरु होते हुए भी दुर्भ्रान्त एवम् कपटकला में प्रवीण हैं और जो व्यूहबद्ध होकर युद्ध करते हैं, ऐसे ही अन्य व्रात्यों से घिरे त्रिजातों को विद्वद्गण समझा करें।।११।।

इन त्रिजातों की कौन-सी गति होती है? आप ने त्रिजातों का प्रतिपादन किया है अत: इसका कोई विशेष प्रयोजन भी होना चाहिये? प्रयोजन है, ऐसा हम कहते हैं। है ही प्रयोजनविशेष। अन्यथा असम्बद्ध प्रलाप होने लगेगा। भूलोक में परिदृश्यमान नाना प्रकार की जो पशुपक्षी आदि तिर्यक् प्रजातियाँ हैं, उनकी सत्ता ही त्रिजातों का प्रयोजन है। उन प्रजातियों की सत्ता मनुष्यशरीर में सम्पादित विचित्र प्रकार के पापों के कारण ही केवल कर्मों के भोग के लिए होती है। इस प्रकार अनेक प्रभेदों से प्रभिन्न त्रिजात अपने ही उद्धार के लिए नहीं होते और न ही सामान्य धर्मों के अधिकारी होते हैं। ये तो स्वभाव से ही पतित होते हैं। तथा च, यहाँ भी एक परिकरश्लोक है—

नाना प्रकार के देशादि की अवस्थाओं से विविध विधाओं को धारण करने वाले वे त्रिजात अनन्त होते हैं जिनका जन्म ही स्थल, जल, आकाश और पवन के समुदायों में प्रभूत मात्रा में दिखायी देने वाले स्थूल-सूक्ष्म शरीरों को धारण करने वाले प्राणियों के उद्भव (उत्पत्ति) के लिए ही होता है। इस प्रकार ये त्रिजात धर्म से ही हीन और स्वभाव से ही कलुषित आचरण से पीन अर्थात् स्थूल होते हैं।।१३।।

इति पातित्यपेटिकायां चतुर्दशं त्रिजातपदार्थविवेचनाधिकरणम्।।१४।।

●

अथ पञ्चदशं विदुषामाचार्यपरम्पराग्राह्यत्वाधिकरणम्

इसके पश्चात् विद्वत्समुदाय को अभिलक्षित करके विचार किया जाता है कि क्या वे जैसा करते हैं वैसा ही करें अथवा आचार्यों की परम्परा को ग्रहण करें। अरे! यह तो सिद्ध ही हो गया है कि सभी को यथाशास्त्र ही आचरण करना चाहिये। सर्व के अन्तर्गत विद्वान् भी आते हैं अत: उनके लिए भी यह प्राप्त हुआ कि वे भी यथाशास्त्र ही आचरण करें। आचार्यों की परम्परा भी शास्त्रों से प्रतिकूल होती नहीं, अत: यह विचार का आरम्भ व्यर्थ ही है। व्यर्थ होता यदि—

'जिनके हृदय में ब्रह्मज्योति का आविर्भाव हो गया है, ऐसे ब्राह्मणों के जो कथन हैं उनमें संशय न हो; क्योंकि इनकी वाणी में कल्याणमयी लक्ष्मी निहित रहती है तथा ये निष्फल वाणी का प्रयोग नहीं करते'।

इस प्रकार के विद्वान् ब्राह्मणों के विषय में अधिकरण का आरम्भ होता। यदि ऐसी बात है तो विद्वान् कौन हैं? आप जिन्हें मानते हैं वे ही हैं, ऐसा मैं कहूँगा। मैं तो उन्हीं को मानता हूँ जो चौदहों विद्याओं में किसी एक के अध्यापन में इस काल के विद्यालयों में नियुक्त हैं। मैं वैसा नहीं मानता। विद्यासम्बन्ध से ही विद्वान् विद्वान् हुआ करते हैं। इस समय तो वैसे भी लोग महाभाष्यादि ग्रन्थों के अध्यापन में नियुक्त हैं जिनका विद्या से कोई सम्बन्ध है ही नहीं तथा जो पलाण्डु-लशुन आदि अमेध्य पदार्थों के विना भोजन भी स्वीकार नहीं करते और कदाचित् मद्यपान भी कर लेते हैं। वे विद्वान् कैसे हो सकते हैं? यदि ऐसी बात है तो वे अध्यापनकार्य में नियुक्त कैसे हो गये? इस समय विद्यमान प्रजातन्त्र के विलक्षण प्रभाव से, यही यहाँ समुचित उत्तर होगा। इनकी क्या गति होगी? इसका निरूपण पहले ही दो अधिकरणों से कर दिया गया है, अत: ये यहाँ विचार के विषय नहीं हैं। तब कौन हैं? सुनिये!

'जो शास्त्रों में श्रम करके भी सङ्कीर्ण आचारों वाले हैं वे सभी राष्ट्रधर्म से पराङ्मुख यहाँ विचार के विषय हैं'।

यहाँ पर शास्त्रज्ञान से परिपूर्ण, स्वविद्या के अध्यापन में कुशल और नित्य-नैमित्तिक कर्म करने वाले विद्वानों के भी लोभादि के कारण सङ्कीर्ण व्यवहार दिखलायी देते हैं। तथा हि—पङ्क्तिभेद, मूर्खों के प्रति पक्षपात, गृह के पोषण की

व्यग्रता, लोक में कहीं से भी धनसंग्रह, विद्यादान के लिए जैनवर्ग में प्रवेश, आचार्यपदों पर दुष्टों और अनर्हों का अभिषेक, दुर्नीति के प्रसङ्ग में नीति का त्याग करके आँखों का मूँद लेना, पतितों के प्रति अत्यधिक प्रेम, गुणियों की उपेक्षा, परिव्याप्त कदाचार का अविरोध, नेताओं का श्लोकादिरचना द्वारा सम्मान पदप्राप्ति की लिप्सा के कारण ही, विरक्तों के वैभव का सिद्धि के रूप में वर्णन, क्षत्रिय नेता को प्राप्त करके उसे राजर्षि-उपाधि का दान, यहीं पर वैदिक अमङ्गलाचरण करने वाली प्रौढ़ पाणिनिकन्याविद्यालय की कन्याओं का साभिलाष निरीक्षण, राज्यपाल-राष्ट्रपति या मुखमन्त्री के सम्मुख स्वयम् का हर प्रकार से कृतार्थ के रूप में उद्भावन, उनके करयुगल से पुरस्कार प्राप्त करने के लिए उनके निवासस्थान में गमन तथा आने पर शीघ्र ही प्रेसवार्ता, भूयः-सञ्चित धन का धर्मादि में व्ययाभाव तथा इसी प्रकार के अन्य भी सङ्कीर्ण व्यवहार जो शास्त्रदृष्टि से विगर्हित हैं, विद्वानों में देखे जाते हैं। अत एव यहाँ संशय उत्पन्न होता है। ततश्च उस संशय को दूर करने के लिए विचार भी आवश्यक और अवसर प्राप्त है ताकि शुद्धता का ज्ञान हो सके। इससे ही ऋद्धि और नीतिशाली पुरुषों की नीति की वृद्धि होगी।।१-१२।।

पङ्क्तिभेद गर्हित होता है, इसका कथन यम करते हैं—

'पङ्क्ति में न तो विषम देना चाहिये, न तो मागना चाहिये और न ही दिलाना चाहिये। विषम के याचक, दापक और दाता स्वर्ग में नहीं जाते। कृच्छ्र प्राजापत्य से ही ऐसे लोग अपने कर्म से मुक्त होते हैं।

शङ्ख का भी वैसा ही स्मरण है—

'एक पङ्क्ति में समासीन पुरुषों को जो विषम देता है और जो याचना करता है वह उसी प्रायश्चित्त को करे जिसे ब्रह्महत्या करने वाला करता है'।

विद्वान् पण्डितसभा में दाताओं को पङ्क्तिभेद के लिए प्रोत्साहित करते हैं, यह तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। जैसा कि वाराणसी में ही नलपुरक्षेत्र (नगवा) में गङ्गा के तटप्रान्त में महाराष्ट्र के महामण्डलेश्वर ने जिसकी बुद्धि को विद्वद्वृद्धों ने हर लिया था, विद्वानों का सम्मान विषमरूप से ही किया था। वहाँ किसी के हाथों में पाँच सौ, किसी के ग्यारह सौ और किसी के पाँच हजार गिरे थे। इसी तरह प्रायः अन्यत्र भी देखा जाता है। वहीं पर स्त्री-शूद्रादि के द्वारा होम भी हुआ था, इस प्रकार कदाचार का अविरोध भी सुस्पष्ट है। यह पङ्क्ति भेद उपलक्षण है। तथा हि—

अपने सामर्थ्य के बल से विद्वत्प्रदेय द्रव्य को अपने शिष्यों और अपने यानचालकों को दिलाना तथा घर आकर उसमें से आधा ले लेना मान्य विद्वानों का स्वभाव है। अगृहीत का ग्रहण कराना तथा गृहीत का ही विच्छेदन कर देना अच्छा नहीं है। विद्वानों के मूर्खों के प्रति पक्षपात का अनुमान उनके कृत्यों से ही किया जा सकता है। सर्वथा विद्या से ही वैराग्य ले लेने वाले जो लोग महनीय पदों पर अध्यापन के लिए विराजमान हैं वहाँ विद्या से सम्बन्ध रखने वाले ये विद्वान् ही निमित्त होते हैं। कुछ थोड़े ही अनैतिक धन की स्पृहा न करने वाले विद्वान् होते हैं जिनके प्रभाव से आज भी शास्त्रपरम्परा अविच्छिन्नरूप से विराजमान है। विद्वानों की गृहादि के पोषण की व्यग्रता भी तन्मात्रनिमित्तक कार्य करने से सहज ही अनुमेय हो जाती है। इसी प्रकार असत्प्रतिग्रह भी निषिद्ध है। जैसा कि मनु का कथन है—

'असत्पुरुषों से दान लेने वाले तथा जिनका यज्ञ नहीं कराना चाहिये उनका भी यज्ञ कराने वाले और नक्षत्रजीवी अन्धकार नामक नरक में प्रवेश करते हैं'।

इस प्रकार कहीं से भी किसी भी प्रकार से धनसंग्रह निन्दनीय ही माना जाता है। जिस जैनमन्दिर में प्रवेश से यमराज के स्थान की प्राप्ति भी श्रेष्ठ समझी जाती है वहाँ पर सर्वप्रकार से अनर्थभूत धन की इच्छा से प्रगमन कैसे नहीं निन्दनीय होगा? कहा ही गया है यह सब—

'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेद् जैनमन्दिरम्'।

अर्थात् हाथी के द्वारा मर जाना अच्छा है किन्तु जैनमन्दिर में जाना उचित नहीं है। यह बौद्धादि पाखण्डियों के वर्ग में प्रवेश का उपलक्षण है। धर्माचार्य के पदों पर पूर्वोक्त न्याय से चतुर्दशविद्याओं के विलासी विद्वान्, निःस्पृह और सदाचार से परिपूत महापुरुष ही योग्य हैं, न कि विवाद पैदा करने वाले दुष्ट भी। दुष्टों का यही दुष्टत्व है कि वे अनवसर में ही विवाद खड़ा कर देते हैं। तथा हि—

श्रीमद्भवत्पाद आद्यशङ्कराचार्य ने इस भारतराष्ट्र को अखिण्डित धर्म से सम्पन्न बनाने के लिए चार पीठों की स्थापना की थी। इस समय भी उन पीठों पर परम्पराप्राप्त तीन शङ्कराचार्य विराजमान हैं। उनमें शृङ्गेरीपीठ पर श्रीभारतीर्थजी अविवादित ही हैं। द्वारिकापीठ में श्रीमत्स्वरूपानन्दसरस्वतीपाद सुशोभित ही हैं जो पहले ज्योतिष्पीठ में यथाविधानं आचार्यों के सन्निधान में अभिषिक्त थे। इस समय भी उस पीठ पर तब तक उन्हीं का अधिकार अक्षुण्ण है जब तक उनके करप्रवालों के द्वारा कोई और अभिषिक्त नहीं हो जाता। यही न्याय से अनपेत मार्ग है। इसी

तरह गोवर्धनपीठ पर श्रीमद्निश्चलानन्द-सरस्वतीपाद विराजमान हैं जो स्वाध्याय और तपस्या में निमग्न होते हुए परम्परा से ही प्राप्त हैं। ये सभी 'वेदों वा प्रायदर्शनात्' इस अधिकरण में प्रतिपादित असञ्जातविरोधित्वन्याय से प्राबल्यप्रभा से विभासित हैं अर्थात् सभी से प्रबल हैं। इन तीनों महापुरुषों से अतिरिक्त कोई भी शङ्कराचार्यपद की प्रतिष्ठा के योग्य नहीं हैं। परम्परा से शून्य होने के कारण ही आचार्यपदों पर अभिषेक में पूर्वोक्त चारों पीठों के शङ्कराचार्यों में से किसी एक की भी उपस्थिति अनिवार्य होती है। उनकी उपस्थिति के अभाव में केवल पण्डितसभा से शङ्कराचार्यत्व ही असिद्ध है। ऐसा होने पर भी जो विवाद पैदा करने वाले हैं और जिनका प्रयोजन विभुता-सम्पादन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, वे विवेकशून्य दण्डधारी बेचारे स्वयम्भू शङ्कराचार्य हैं। वस्तुतः वे ही दुष्ट और अनर्ह हैं! ऐसे लोगों की सभा की शोभा बढ़ाने वाले भी विद्वान् होते हैं। यह न्यायसङ्गत नहीं है। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये। नीति के अभाव के कारण ही राष्ट्र की दुर्गति होती है। इस कारण शासकवर्ग के स्वार्थपरायण हो जाने पर भारत की बहुत बड़ी क्षति हो रही है। इसके मूल की गवेषणा विद्वान् नहीं कर रहे हैं। यदि कोई विचारक यथार्थपक्ष का निर्देश करता भी है तो ये आँखें मूद कर पड़े रहते हैं। एक-एक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ के विरोध में धर्मनिरपेक्षतत्त्वों के अनेकों ग्रन्थाभास पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। धर्म के ही विप्लावक निर्द्वन्द्व अपना अभीष्ट सिद्ध कर रहे हैं तथा ये विद्वान् मौनव्रत धारण करके कुछ नहीं करते और करने वालों की हँसी उड़ाते हैं। क्या यह सब उन विद्वानों के कार्यक्षेत्र में आता है? इसी प्रकार पतितों की शोभा को बढ़ाना कैसे नहीं पतितों की उत्साहवृद्धि में पर्याप्त होगा? धर्मज्ञसमयों के भेदक पतित होकर पतित ही रहते हैं। ऐसे पतित लोगों का सम्मान करते हुए विद्वानों के द्वारा गुणियों की उपेक्षा किसी भी प्रकार से गौरवशालिनी परम्परा का निर्वाह नहीं करती। एवमेव श्लोकादिरचना के द्वारा किया जाने वाला सम्मान विद्याओं से उद्भासित शरीर वाले ब्राह्मणों के लिए या श्रीमद्भगवद्गुणानुकीर्तन में रस लेने वाले विरक्त धर्माचार्यों के लिए ही शोभाधायक होता है, न कि स्वार्थलम्पट और शिष्टपरम्परा से बहिर्भूत किन्हीं नेताओं के लिए भी। यदि ये नेता विद्वानों के द्वारा ही उस प्रकार से अनेकों गुलाब की मालाओं से शताब्दीभवनादि में सम्मानित होने लगेंगे तब ये स्वयं को श्रेष्ठ शिष्ट मानते हुए राष्ट्र को अवश्य ही विक्षुब्ध कर देंगे। तथा च, विरक्तों के लिए विरक्तधर्म का निर्वाह ही परमसिद्धि है, न कि सर्वोच्च धन की विभुता। यदि वह विभुता भी तपस्या आदि के प्रभाव से उनके करतलों में आ जाती है तब उसका उपयोग अधिक लोगों के सम्पोषण और क्षेम के लिए होता है या सद्विद्या

की वृद्धि के लिए, न कि ईंटों से व्यूहरचना के लिए अथवा गजराजों के शूड़ों से गृहीत घण्टा के वादन से चमत्कारोत्पादन के लिए। इस कलियुग में कोई राजर्षि की छाया तक भी नहीं पहुँच सकता। यदि ऐसी बात है तब किसी क्षत्रिय नेता के लिए जो अपने ही धर्म से विमुख हो गया हो, राजर्षित्व का सम्पादन कैसे विगर्हणीय नहीं होगा? 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य:' इस विधि के अनुरोध से अधीतवेद, सारे नियमों और व्रतों से युक्त द्विजोत्तम ब्राह्मण के मुख से ही विनिर्गत वेद माङ्गल्य के उद्भावन में समर्थ हो सकते हैं। वैसे ही नियमों से सम्पृक्त, अधीतवेद क्षत्रिय और वैश्य के मुख से निकले वेद उनकी धर्मक्रिया के सम्पादन के लिए ही हो सकते हैं। यदि ऐसा शास्त्रीय नियम है तो जिनका वेदों में न तो अधिकार सुना जाता है और न ही स्मृतियों में स्मृत है तथा शिष्टों की परम्परा में भी दिखलायी नहीं देता, उन स्त्रीजाति के मुखोदर से निकलते हुए भी वे वेद ही नहीं कहे जा सकते। तो वे क्या कहे जायेंगे? स्त्रियों के विलासों ने जिनके मन पर अपना कब्जा जमा लिया है उन विलासी पुरुषों के लिए ही सन्तोषकारक वे लबेद ही कहे जायेंगे। तथा च, उन लबेदों से कथमपि मङ्गलाचरणत्व सिद्ध नहीं होता। प्रत्युत वह तो अमङ्गलाचरण ही होगा; क्योंकि अनधिकृत के द्वारा वह सम्पादित है। वहाँ पर विद्वानों की साभिलाष दृष्टि शिष्टजनों के चित्त में विक्षोभ ही पैदा करती है। इसी प्रकार कारिका में उक्त अन्य आचारों को भी समझना चाहिये।

यहाँ पर संशय उत्पन्न होगा ही। कैसे? उन सङ्कीर्ण व्यवहारों के विद्वत्सम्पादित होने के कारण ही। विद्वान् भी जिन कार्यों को सादर स्वीकार करते हैं निश्चय ही वह प्रेय और श्रेय के लिए होगा, ऐसा विचित्र स्वभाव वाले पुरुषों के मन में आयेगा ही। तथा च, शास्त्रदृष्टि से विगर्हित होने के कारण अकार्यता की भी सम्भावना होगी। इस प्रकार संशय के पुर:स्फूर्त होने के कारण निर्णयार्थ विचार आवश्यक है। यदि ऐसा ही है तो क्या प्राप्त हुआ? विद्वद्धौरेयों को उन सारे कर्मों को करना ही चाहिये। कैसे?

पाणिग्रहणसंस्कार से पत्नी का लाभ हो जाने पर विद्वानों की भी उसमें पर्याप्त प्रेम होगा ही। तत श्च, कालक्रम से बहुत से पुत्र उत्पन्न होंगे। उनकी सम्यग् व्यवस्था धर्म के द्वारा सिद्ध नहीं होगी। अत: अपने कुटुम्ब के पोषण के लिए विद्वद्गण धर्म का अतिक्रमण करके भी पूर्वोक्त पङ्क्तिभेदादि कर्मों को करें। परिवारादि के पोषण के लिए कभी-कभी शास्त्र भी धर्मव्यतिक्रम की अनुमति देता है। वैसे ही जैसे ऋतुकाल के विना भी भार्या में यथेच्छ प्रवृत्ति की अनुमति देता है। अथवा माहिष-शिलाजत्वादिगुटिकारूप वृष्य भोज्य पदार्थों का भक्षण करने वालों के लिए

सम्भोग हो जाने पर भी पुनः पुनः सम्भोग की अनुमति जैसे देता है वैसे ही यहाँ समझना चाहिये। यहाँ आज नेता ही शासक होते हैं। इस प्रजातन्त्र में ऐसी विवशता है। उनके हाथों में ही आज शासन का तन्त्रजाल प्रवृत्त है। अतः विद्वानों के मान-सम्मान, पद प्रतिष्ठा-आदि में नेताओं की पर्याप्त प्रसन्नता निश्चय ही उपकारक होगी। आज नेता के ही कृपाकटाक्ष से दुष्ट, भोगलिप्सु और दुरात्माओं की महनीय पदों पर नियुक्ति भी देखी जाती है। इसी प्रकार अपना स्वार्थ साधने में तत्पर विद्वान् भी शासकों की पूजा करके विभुता को प्राप्त करें। कदाचारों का विरोध करके नीति के मार्ग में चलने पर यदि संसार में दुर्गति होती हो तो भला कौन विद्वान् नीतिमार्ग को स्वीकार करेगा? अपने परिवार को परिपुष्ट करने के लिए हर तरह से दोषशून्य होने के कारण पङ्क्तिभेदादि कर्मों की विद्वद्ग्राह्यता सिद्ध होती है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है—

सिद्धान्त

आप जैसा कह रहे हैं वैसा न कहें! इस प्रकार के कदाचारों का अनुशीलन विद्वानों के व्यवहारों के द्वारा प्रजाओं में बुद्धिभेद पैदा कर देगा। जिनकी आचारसम्पत्ति संसार की मर्यादाओं का निर्माण करती है; क्योंकि वह वेदशास्त्रों का अनुगमन करती है, ऐसा मन्वादि स्मृतिकारों ने कहा है, वे ही जब पत्नी-पुत्र आदि के मोह में पड़कर विकर्मस्थ हो जायेंगे तो वह वैदिकी मर्यादा कैसे सुदृढ़ होगी? संसार के राग में परिव्याप्त चित्त वाले मूर्खों के लिए ही परिवार तक ही सीमित व्यापार अच्छा लगता है। संसार में बुद्धिमान् विद्वानों का आविर्भाव और प्रभाव दोनों ही धर्म के लिए या दिव्यता की प्राप्ति के लिए ही होता है, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। विद्वानों के पत्नी-पुत्रादि सभी पारिवारिक जन शास्त्रीय सिद्धान्तों की व्यवस्था में वैसे ही पात्र होकर सुशोभित होते हैं जैसे नाटकों में नट। इतिहास-पुराणादि ग्रन्थों में ऐसे धार्मिकभूषण, स्वार्थसंसाधनों के विषय में अपरिचित देखे जाते हैं जो अपनी पत्नी और पुत्रों को क्लेश के सागरों में पहुँचा करके भी सत्य और दानादि धर्मों में तत्पर रहते हैं। साक्षात् सिंह श्रीमान् गोविन्दसिंह जी यहाँ पर दृष्टान्त हैं। विद्वानों के पुत्रादिगणों को धर्म के कारण क्लेश मत हो तथापि अधर्म के मार्ग से उनका धनादि का भोग उचित नहीं है। पङ्क्तिभेदादि पूर्वोक्त सारे दोष नरक-निवास के ही कारण होते हैं, अतः विद्वानों के लिए उनका समुल्लास शोभा नहीं देता। जो विद्वान् पादप्रक्षालनादि के द्वारा त्रिदेवों के लिए भी वन्दनीय होते हैं वे ही स्वार्थ के लिए नेता की पूजा करें, यह कथमपि प्रशस्त कार्य नहीं हो सकता। जिस स्थान की प्राप्ति सर्वदा यदि रथ से ही सुलभ हो

तो उसे गदहे से जड़ भी नहीं प्राप्त करना चाहेंगे। अपनी इष्टसिद्धि चाहने वाले नेता यदि माला आदि प्रसाधनों के विना अप्रसन्न भी हो जाते हैं तो इससे विद्वानों की क्या हानि हो सकती है? अव्यवस्थित चित्त वालों की प्रसन्नता भी भयङ्कर होती है, इस नीतिवचन को हमें नहीं भूलना चाहिये। कदाचार का विरोध करते हुए नीतिमार्ग के अनुगामियों की दुर्गति दिखायी देती है, अतः नीतिमार्ग का त्याग करना चाहिये, यह पूर्वपक्षी की उक्ति निरर्थक है। नीतिमार्गानुगामियों की दुर्गति के साथ व्याप्ति का ग्रहण शक्य नहीं है; क्योंकि नीतिमार्ग का अनुगमन करने पर सम्पत्ति का भी दर्शन होता है। एवम् तद्विपरीत ही शास्त्रादि में व्याप्ति सिद्ध है—यत्र यत्र नीतिमार्गानुगामित्वं तत्र तत्र सम्पत्तिः। इसीलिए तो धार्मिक लोग यावज्जीवन नीति के रक्षण में तत्पर रहते हैं। यदि कहीं पर सत्यादि में लगे हुए पुरुषों की दुर्गति दिखायी भी देती है तो वह सत्य की परीक्षा के लिए ही कीर्ति को बढ़ाने वाली होती है। कुमार्गगामी, दुरात्माओं की जो सम्पत्ति की वृद्धि होती भी है वह थोड़े समय तक रह कर उसको निर्मूल कर देती है। महाभाग युधिष्ठिर नीति के बल से ही अन्त में पूरे पृथ्वी का उपभोग किये; क्योंकि वे सद्गुणों के आकर (खान) थे। वहीं असत्यमार्ग से चलने वाला दुर्योधन थोड़ा सुख प्राप्त करके अपने बान्धवों के साथ ही नष्ट हो गया। नीति के मार्ग का त्याग करने वाला राजा मानसिंह यवन को अपनी बहन समर्पित करके थोड़ा तात्कालिक सुख प्राप्त किया। वहीं नीति के रक्षक बुद्धिमान् राणाप्रताप तृण-पत्ते आदि खाकर क्षत्रियधर्म का निर्वाह किये। आज भी स्मरणीय महामनस्वी उस राजा के असीमित गुणों का गान प्रजा अपने आसुओं को बहाती हुई लोक गीतों में करती है। वह दुर्बुद्धि मानसिंह हेयदृष्टि से ही देखा जाता है। मूर्ख भी आज उसका नाम लेना नहीं चाहते। धर्मनीति से कीर्ति होती है। जिसकी कीर्ति होती है वस्तुतः वही जीवित रहता है। इसीलिए सर्वस्वनाश होने पर भी विद्वानों को चाहिये कि वे नीति को ही स्वीकार करें। आज तो भारत में प्रजातन्त्र खुजली के समान बढ़ रहा है जिसमें राजाओं की दुर्नीति ही कारण के रूप में दिखायी देती है। इस संकट के काल में अपहृत राज्य वाले राजा धर्मकार्य त्याग कर मुख्यधारा में आ गये हैं। वे प्रजातन्त्र का सेवन करते हुए मन्त्री भी हो जा रहे हैं। उन्हीं के भावों में मस्त हुए कुछ ब्राह्मण भी वैसे ही हो गये हैं। वे ब्राह्मण और अपने स्वाभिमान का ही परित्याग कर देने वाले वे राजा मन्त्री आदि के पदों में प्रेमपरायण होकर राष्ट्र के प्राणविदारक हो गये हैं। इनके इन घोर कृत्यों से यह भारत राष्ट्र प्रतिदिन पुक्का फाड़ के रोता हुआ ही मुझे प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार के पापियों के और अन्य दुरात्मा नेताओं के पूजन से यदि स्वर्ग भी मिल रहा हो तो वह नरक के समान है। अहो! महाकष्ट

की बात है कि विद्वद्वृद्ध श्लोकों के द्वारा तथा अनेकों मालाओं के द्वारा उन नेताओं की आराधना कर रहे हैं। मेरी दृष्टि में इससे बड़ा कोई कष्ट नहीं हो सकता। विध्युद्देश अर्थात् वैदिक लिङादि प्रत्ययों के पहले जो लौकिक प्रमाणों से इसीलिए अज्ञात रहता है; क्योंकि वह वैदिक लिङादि से ही गम्य होता है, ऐसा ही अपूर्वनामक कार्य होता है। वही शुद्धरूप से श्रेयस्कर यागादि धर्मों में नियोजित करने के कारण नीतिगामियों के द्वारा नियोग कहा जाता है। विद्वानों का वही अपूर्वाख्य नियोग ही कार्य होना चाहिये। आज उनमें गृहदारादि का सम्वर्धन रूप जो कार्य दिखायी दे रहा है वह गौण कार्य ही है। गौण और मुख्य कार्यों में मुख्य कार्य की बलवत्ता न्यायत: सिद्ध होती है अत: मुख्य का लोप नहीं करना चाहिये। यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि पङ्क्तिभेदादि कर्मों में अभ्यनुज्ञा अर्थात् शास्त्रों की अनुमति है; क्योंकि वे पत्नीपुत्रादि के पोषण के लिए हैं, तो उसका भी समाधान कर देना आवश्यक होगा। अभ्यनुज्ञा तो दोषाभाव का बोध कराती हुई कहीं पर ही निषिद्ध विषय में प्रवृत्ति कराने से प्रयोजन से सम्पृक्त होती है। जैसे कन्याविवाहादि में असत्यभाषण के विषय में श्रुत अभ्यनुज्ञा सत्य को नहीं बाधती किन्तु हित का सम्पादन करती है।

'सत्यस्य वचनं श्रेय: सत्यादपि हितं वदेत्'।

इत्यादि वचन यहाँ अभ्यनुज्ञा के मूल में विद्यमान हैं। रजोदर्शन के पूर्व ही कन्या दान के लिए प्रशस्त होती है। यदि सत्य भी वहाँ विघ्न बनता है तो वह अन्यथा हो जाता है। वेदादिशास्त्रों का प्रमेय वस्तुत: हित ही होता है। अत एव सत्य का भी तात्पर्य हित में ही होता है। मारने के लिए यदि कोई क्रूर पुरुष किसी को खोज रहा हो तो असत्यमार्ग से उसकी रक्षा सत्य से भी विशिष्ट हो जाती है। वहाँ पर सत्य महापापपङ्क का मूल ही कहा जाता है। कुछ ऐसे ही स्थानों में अभ्यनुज्ञा प्रतिष्ठित होती है। यह जो ऋतुभिन्न काल में भार्यागमन की बात आती है उसमें भी सप्तपदी के समय में प्रयुक्त शास्त्र का ही अनुरोध है जहाँ पति के द्वारा पत्नी को वर प्राप्त है। वृष्य भोज्यपदार्थों को खाने वालों का पुन: पुन: सम्भोग करने की बुद्धि रखनी चाहिये, यह जो बात आती है उसका कारण भी तुम सुन लो! वे दिव्य औषधियों के गुणों के ही प्रभाव हैं जिनके बल से पुरुषों का बार-बार सम्भोग करना दोषाधायक नहीं होता, इत्यादि प्रकार की जो भी अभ्यनुज्ञा है वह निश्चय ही औषधियों की प्रशंसा में ही अपना तात्पर्य प्रकट करती हुई विराजमान है। तात्पर्य यही है कि इस प्रकार की अनुमति जहाँ कहीं पर भी है वहाँ औषधि के गुणों की प्रशंसा में ही तात्पर्य है न कि बारम्बार

सम्भोग में। इतने मात्र से स्त्रियों में पुरुषों का पुनः पुनः गमन किं वा वृद्धावस्था में भी अनुराग से अभ्यञ्जन अर्थात् सम्भोग सिद्ध नहीं होता। अन्य शास्त्रों से विरोध होने के कारण ही। यदि ऐसी बात है तब वे लोग मूर्ख हैं जो वृद्धावस्था में भी प्रयत्नपूर्वक मिश्रजी की तरह तरुणी में बार-बार प्रवृत्त होते हैं। पहले विद्वद्गण घाम-वर्षा आदि से बचने के लिए गृहस्थाश्रम में होने पर भी केवल कुटी का निर्माण करके कृतकृत्य हो जाते थे कि छाया की व्यवस्था हो गयी। आज के विद्वान् धनधान्य से पूर्ण तथा भवनादि से सम्पन्न होने पर भी यदि पङ्क्तिभेद आदि कुत्सित कर्मों में लग जा रहे हैं तो इनमें उनके लिए शास्त्रों की अभ्यनुज्ञा सिद्ध नहीं होगी। यहाँ पर तो अनर्थ पैदा करने वाली वह अपनी सत्ता को भी कायम नहीं रख पायेगी। क्या कभी नपुंसक में भी सम्भोगविषयक स्पृहा हो सकती है? इन सभी कारणों से यही निश्चित होता है कि पङ्क्तिभेदादि कर्मों के अनिष्टकारक, लौकिकमर्यादाओं के छेदक और शिष्टों के द्वारा विगर्हित होने के कारण विद्वानों को उनका त्याग करके राष्ट्रधर्मपरायण होते हुए शुद्ध सदाचारों से परिपूर्ण शिष्टों की परम्परा ही स्वीकार करनी चाहिये॥१-६७॥

नियमपूर्वक प्राप्त विद्या का जो प्रयोजन है उससे उसी का ही सम्पादन शक्य है, अन्य और कोई उसके द्वारा सम्पादनीय नहीं हो सकता। विद्वान् भी उसी का ही सम्पादन करते हैं जब उस विद्या से उस प्रयोजन को चाहते हैं। विद्या के द्वारा श्रेय और प्रेय दोनों का सम्पादन किया जा सकता है। प्रेय की कोटि में जैसे स्वर्ग आता है वैसे ही पत्नी, पुत्र, गृह, कोश में स्थित पर्याप्त धन, विचित्र वाहन और नेताओं तथा मन्त्रियों एवम् अधिकारियों के बीच में स्वसम्बन्धित अतिशयित प्रभाव आदि भी आते हैं। कामना के विषय होने से ये सभी काम कहे जाते हैं। काम्यन्ते ये ते कामाः। इन सारे प्रेय पदार्थों की प्राप्ति विद्या से सम्पन्न पुरुषों को और अन्यों को भी दो प्रकार से सम्भव है। धर्ममार्ग से और धर्मभिन्न मार्ग से। अरे! यह तो विप्रतिषिद्ध वस्तु का कथन आप कर रहे हैं कि विद्या से प्रेय की भी प्राप्ति होती है। 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' इत्यादि श्रुतियों से विद्या के केवल मोक्ष के साधनत्व का निर्णय है। अर्थात् विद्या से प्रेय नहीं, श्रेय प्राप्त होता है। आप सत्य कह रहे हैं। वेदान्तियों के मार्ग में प्रविष्ट सभी यही कहेंगे। 'विद्या' पद से यहाँ धर्मानुष्ठान में उपयोगी धर्म का ज्ञान कहा गया है। धर्मज्ञान धर्मानुष्ठान का केवल लिङ्ग प्रमाण से अङ्ग होता है, यह मीमांसा में प्रसाधित ही है। इस प्रकार धर्मानुष्ठानद्वारा विद्या प्रेय का भी अङ्ग हुई। यद्यपि विद्वानों के लिए काम नहीं हैं; क्योंकि उनका केवल श्रेय ही प्रयोजन हुआ करता है, जैसा कि कहा गया है—

'यह शरीर अविद्या के कारण स्वर्गादि की कामनाओं से प्रेरित होकर किये गये कर्मों से ही बना है, अतः प्रतिबुद्ध विद्वान् केवल एक शरीर में ही नहीं लगता। जो इस अपने शरीर में ही आसक्त नहीं है वह इस शरीर से उत्पादित पुत्रों या धन में ममता कैसे रख सकता है'? (श्रीमद्भागवत ४.२०.५.६)

तथापि—

'कौन अजितेन्द्रिय पुरुष गृहादि में आसक्त, प्रेमपाशों से जकड़े अपनी आत्मा को छुड़ाने में समर्थ हो सकता है? कौन ऐसा पुरुष है जो प्राणों से भी अधिक प्रिय धन की तृष्णा को त्यागने में समर्थ होगा? तस्कर, सेवक और बनिये अपने प्रिय प्राणों के बदले में धन खरीदते हैं'। (श्रीमद्भागवत ७.६.९.१०)

श्लोक में आये 'कोऽपि' का अर्थ है—वेदान्ती भी। अर्थात् वेदान्ती भी धन की तृष्णा को त्यागने में समर्थ नहीं हुआ करते।

यदि इस न्याय से ये काम विद्वानों के चित्त में समाते भी हैं तो धर्ममार्ग से ही उनकी प्राप्ति का औचित्य है, न कि धर्म से विपरीत, अत्यन्त विगर्हित पङ्क्तिभेदादिरूप अधर्ममार्ग से। इसीलिए कि धर्म के द्वारा ही यथाकाल सारे अभिलक्षित पदार्थों की सम्प्राप्ति सम्भव है।

अपि च, सागरों की मेखला वाली सम्पूर्ण पृथ्वी के प्रमाणभूत विद्वान् होते हैं जिनके आचरण के प्रभाव से वह पृथ्वी आचारों वाली हुई है। जैसा कि भगवान् वासुदेव ने कहा है—

'यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोक स्तदनुवर्तते'।।

ऐसा सब होने पर भी विद्वानों के धर्मव्यतिक्रम को देखकर यह सारा संसार ही उनका अनुसरण करता हुआ वैसा ही हो जायेगा। तत श्च, यह पूरी पृथ्वी ही मर्यादाशून्य हो जायेगी। इन सारे परिणामों पर विचार करके ही विद्वानों को किसी भी कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये।

वे विद्वान् ब्राह्मण अपने आचार से ही तीनों लोकों में सर्वापेक्षा से श्रेष्ठतया परिगणित हैं जैसा कि भगवान् ने ही कहा है—

'देवों और असुरों में वे इन्द्रप्रधान देव श्रेष्ठ हैं। उनमें भी ब्रह्मा के पुत्र दक्षप्रजापति आदि श्रेष्ठ हैं। अथवा देवासुरों की अपेक्षा इन्द्रप्रधान ब्रह्मा के पुत्र दक्षादि श्रेष्ठ हैं। उनमें भी भव अर्थात् शङ्करजी श्रेष्ठ हैं तथा उन से ऊपर उनके ही जनक

ब्रह्माजी प्रकृष्ट है। उनको भी प्रादुर्भूत करने वाला मैं उनसे भी श्रेष्ठ हूँ। ब्राह्मण तो मुझ वासुदेव के भी देव हैं। हे पुत्रों! ब्राह्मणों की तुलना में मुझे दूर तक इस संसार में कोई प्राणी नहीं दिखायी देता। इसके बाद मैं कह क्या सकता हूँ कि ब्राह्मणों के मुख में प्रक्षिप्त पदार्थों को मैं जैसे खाता हूँ वैसे अग्निहोत्र में भी नहीं खाता। (श्रीमद्भागवत ५.५.२२.२३)

इस प्रकार के भव्य प्रभाव वाले विद्वान् ब्राह्मण यदि नेता की या उन्हीं के समान अधिकारियों की अत्यल्प प्रयोजन के लिए श्लोकादि के द्वारा अथवा मालाचन्दनादि के द्वारा पूजा करते हैं तो यह पृथ्वी कैसे स्वस्थ रहेगी? इसीलिए विद्वानों को चाहिये कि वे अनादि पण्डित परम्परा से प्राप्त सदाचार के मार्गों का अनुशीलन करें, यह विनिर्णय पूर्णरूप से सिद्ध हुआ। यहाँ पर एक परिकरश्लोक भी है—

'जो निन्दित परम्परा शास्त्रों से तिरस्कृत है तथा धैर्यधन शिष्ट जिसकी निन्दा करते हैं एवम् संसार में सन्निपात के समान जो अत्यन्त अप्रिय फल देती है और जो वृद्धा नारियों के सम्भोगस्मरण के समान अनर्थ का सम्पादन करने वाली है, विद्वानों को चाहिये कि वे सदाचारसम्पत्ति के संवर्धन के लिए उसका परित्याग करें'।

इस अधिकरण का प्रयोजन पूर्वपक्ष में पातित्य का संक्रमण न होने से धर्म से अबाह्यता अर्थात् धर्मानुष्ठानों में अधिकार तथा सिद्धान्त में पातित्य के संक्रमण से धर्म से बाह्यता है जो पूर्वोत्तर पक्षों से सुस्पष्ट है।

इति पातित्यपेटिकायां पञ्चदशं विदुषामाचार्यपरम्पराग्राह्यत्वाधिकरणम्।।१५।।

●

अथ षोडशं यतीनामपि शास्त्रविरुद्धकृत्याननुष्ठेयत्वाधिकरणम्

इसके बाद चतुर्थ आश्रम में प्रविष्ट संन्यासियों को लेकर विचार किया जाता है कि वे विशेष प्रयोजनार्थ नेताओं और अधिकारियों का परिग्रह तथा उनका विशेष सम्मान एवम् पङ्क्तिभेदादि पूर्वाधिकरणोक्त कुत्सित कार्यों को करें कि नहीं। यहाँ संन्यासियों के विशेष सामर्थ्य से युक्त होने के कारण उनका धर्मव्यतिक्रम भी अकिञ्चित्कर ही होगा, यह 'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा' इस न्याय से सिद्ध ही है। तथा च, उनके व्यवहार में अन्य शास्त्रविरुद्ध प्रकार भी दिखायी देते हैं—

कथावाचन आदि कार्यों में आये हुए आमन्त्रित व्यास का त्याग और वहीं पर मोह के कारण अनामन्त्रित व्यास का परिग्रह। अपने गुरु की पुण्यतिथि में अपने आश्रम में ही विशेषरूप से गायक और गायिकाओं के द्वारा गानकर्म का प्रवर्तन। उन गायकों के हाथों में प्रभूत भोगसामग्री का समर्पण तथा वहीं पर विद्वानों के करतल में स्वल्प रूपयों का निपातन। जनता के बीचों-बीच ब्राह्मणों को दान और उसका कीर्तन तथा अल्प प्रदेय वस्तु का अधिक रूप में वर्णन। एक अल्पज्ञ के बल से वटुकों का परिग्रह तथा उन्हें मूर्ख बना कर ग्रामों की ओर विसर्जन। कुम्भादिपर्वों के आने पर अपनी विभुता का प्रदर्शन तथा धनिकों के लिए वहाँ कुटीरों का निर्माण। मन्दिर आदि के निर्माण में करोड़ों रूपयों का व्यय तथा वेदादिशास्त्रों की रक्षा में दूर से ही नेत्रनिमीलन। भारत में चार महीने तथा अन्य अमेरिकादि द्वीपों में आठों महीने निवास वह भी धर्मशिक्षादि के बहाने युक्तियों से परिपूर्ण। इत्यादि क्रियाकलापों में हम जैसे दिव्य महात्माओं का भीतरी प्रमोदोल्लास ही हेतु है, ऐसा ही प्राय सम्भाषण। जिनका चित्त गृहों में ही आसक्त है, ऐसे पुरुषों और स्त्रियों के बीच में वेदान्तविद्या का प्रचार और वहीं पर उनके साथ भोजन। बाम्बे में सेठों के घर में चातुर्मास्य तथा गङ्गादि तीर्थस्थानों में कभी कभार ही एक बार आगमन। वृद्ध विद्वानों का तिरस्कार करके अभ्यागत धनिकों से प्रपञ्चवार्ता करते हुए व्यर्थ ही अमूल्य समय का यापन। विहिपादिदलों से निर्गत दुर्नीति का समर्थन तथा उनके धर्मसंसदाभास में नेताओं के पास बैठना। अपने भक्तों की स्त्रियों की पङ्क्ति में भोज्य पदार्थों का ग्रहण तथा उनके लिए ही प्रसन्नतापूर्वक

महामन्त्रदीक्षा का सम्पादन। उन स्त्रियों को मण्डलेश्वर बनाने के लिए प्रयत्नपूर्वक इकट्ठा होकर उनके शरीर में मन्त्रपूर्वक चादर का समर्पण। इत्यादि प्रायः संन्यासियों को पतित बना देने वाले बहुत से लोभमूलक विगर्हित आचार इतस्ततः उनमें दिखायी देते हैं। उनके सामर्थ्यशाली होने के कारण दोषाभाव का अनुमान करके जनों की सदाचार के रूप में भ्रान्ति हो सकती है, अतः यहाँ पर उस भ्रान्ति का मूलतः छेदन करने के लिए विचार का उपक्रम किया गया जिससे लोक में शुद्ध सदाचार प्रतिष्ठित हो सके। निश्चय ही संन्यासमार्ग से ब्राह्मण यथाशास्त्र आचरण करता हुआ परम ब्रह्म साक्षात् नारायण ही हो जाता है। वही यदि शास्त्र का परित्याग करके मायाजाल का प्रवर्तन करता है तो श्रेयोमार्ग को प्रदूषित करने के कारण शीघ्र ही रसातल में पहुँच जाता है। मन्त्रदीक्षादि संस्कारों के द्वारा देव की आराधना से पुरुष तद्रूप हो जाते हैं, ऐसा कहने वाले ही यदि अपने सत्य धर्म से च्युत होते हैं तो यही समझना चाहिये कि उनका जीवन मिथ्याचारों से ग्रस्त, भोग सामग्री के सम्पादन में व्यस्त कुत्सितप्राय हो गया है। कुत्सित कामनाओं से परिपूर्ण संन्यासियों का भी जीवन संसार में प्रशस्त नहीं हो सकता वैसे ही जैसे नारियों के बीच में बैठकर की जाने वाली पूजा। विदुषियों की सभा के बहाने प्रौढ और असंस्कृत महिलाओं का अपने पीठ में आह्वान किसी दीक्षित को सुशोभित नहीं कर सकता। जो स्त्रियाँ संसार में कुख्यात हैं तथा सारे कर्मों में स्वतन्त्र हो गयी हैं क्या वे रेशमी वस्त्र धारण करके केवल तिलक लगा लेने से साध्वी हो जायेंगी? इस प्रकार की स्त्रियों के पर्याप्त धन से शीघ्र ही निर्मित संन्यासियों का पीठ नरक के लिए ही होगा। संन्यास को स्वीकार करके केवल मठ का विस्तार शोभा नहीं देता। दोनों सन्ध्याकालों में केवल घण्टा बजाने से राष्ट्र की भव्यता सिद्ध नहीं होती। वहाँ तो त्याग को ही स्वीकार करके वेदादि शास्त्रों का परिपोषण करते हुए भारत के अस्तित्व की रक्षा के लिए दिव्यनीति ही अच्छी लगती है। अनेकों करोड़ रूपयों से निर्मित भवनों से क्या लाभ जब वहाँ सेठों की केवल भव्य सेवा ही बार-बार होती हो? अरबों रूपयों से मन्दिर का निर्माणकार्य हो। कोई इसमें बाधा नहीं है, किन्तु वहाँ, आंशिक रूप में ही सही, शास्त्रों की रक्षा भी होनी चाहिये। मठों में शिक्षण का वह अद्‌भुत संस्थान मत हो जो सेठों के सन्तुष्ट होने पर केवल धन का साधन बनता हो। उस मठ की भव्यता को धिक्कार है जहाँ अल्पज्ञ के बल से व्यर्थ ही बहुत से बालक केवल धन कमाने के लिए रखे जाते हैं। अहो! बहुत कष्ट की बात है कि काशी में गङ्गा के घाट पर स्थित किसी मठ में मैंने म्लेच्छों की पङ्क्ति में बैठकर किसी विद्यालय के महामद प्राचार्य को [illegible] में खाते हुए देखा उस मठ में विद्यमान

सारे वटु केवल भोजन से ही प्रसन्न रहते हैं तथा क्रीतदास के समान मात्र मठ का कार्य करते हैं। वहाँ के महन्त उन बालकों को सेठों के सामने ले आते हैं और उन्हें प्रदर्शित करते हुए अपने भव्य कार्य की प्रशंसा करते हैं। सेठ लोग भी महन्त के उस कार्य को देखकर आनन्दमग्न हो जाते हैं तथा अपार धनराशि से उनकी इष्टसिद्धि करते हैं। अहो! सम्पत्ति के लोभ से कोई महन्त स्त्री के साथ एक ही आसन पर बैठकर मूढबुद्धि गङ्गा में नौकाविहार करता है। इस भारतवर्ष में विरक्तों की तथा उनके ब्रह्मचारियों की एवम् विद्यालयों में विद्यमान बालकों की मूर्खता महाविपत्ति ही है। आज संसार में त्रयीमार्ग से परिभ्रष्ट विकर्मस्थों की भूयसी संख्या है जिसमें मूर्खता ही कारण है। इस भारतराष्ट्र की पराधीनता में मूर्खता को ही कारण स्वीकार किया जाता है। इस संसार में धर्म को बाधित करके मनुष्यों के द्वारा जो केवल धनसंग्रह ही दिखायी दे रहा है उसमें भी मूर्खता ही कारण है। राजाओं के हाथों से निकल कर हतप्रभ यह भारत राष्ट्र मूर्खता के ही कारण खलतन्त्रता को धारण कर रहा है। इस समय इस प्रकार के प्रजातन्त्र में राजाओं की उत्साहभागिता तथा अपनी प्रतिष्ठा को बरकरार रखने के लिए संन्यासियों का नेताओं के प्रति अनुराग एवम् भोगदृष्टि को स्वीकार करके यहाँ के ब्राह्मणों का अत्याधुनिक विद्या के माध्यम से म्लेच्छदेशों में गमन और क्षत्रियों की सुरा-शस्त्र आदि के व्यापार में प्रीति तथा शूद्रादिकों का छद्मपूर्वक वेदों में प्रवर्तन अथवा ज्यादा क्या कहा जाय? अधिक बोलने से शिष्टों को क्षोभ होगा, शासन में जो कुछ भी दिखायी दे रहा है उसमें मूर्खता ही कारण है। इस प्रकार के कृत्यों में जहाँ से प्रकाश की ईप्सा है वहीं संन्यासियों के स्थानों में मूर्खता की उत्पत्ति विशाल आपदा क्यों नहीं होगी? इसीलिए तो विरक्तों के आश्रमों में ब्रह्मचारियों की विद्यावृद्धि शास्त्रज्ञों को सुस्थापित करके अभिलषित होती है। वे वैष्णवाचार्य धन्य हैं जो सदाचारपूर्वक प्रधानरूप से सद्विद्या का विस्तार करते हैं। करोड़ों रूपये व्यय करके मठारामों का जो विस्तार करते हैं तथा ऐसे शिक्षकों को रखना चाहते हैं जो पौरोहित्य के माध्यम से या भिक्षावृत्ति से उनके यहाँ रहें, वे संन्यासी पापों से आच्छादित होकर नरक में ही जाते हैं जो अबोध से तिरस्कृत बालकों को मूर्खता के सागर में झोंक देते हैं। प्राच्यविद्या की प्रतिष्ठा के प्रचार में शासन के द्वारा जो पाठशालायें स्थापित हैं उनमें हमारे प्राध्यापक बन्धु शास्त्रसंवर्धक व्यापार को त्याग कर सभी कुछ करते हैं। कुछ तो द्रव्यादि के लोभ में आकर व्यास हुए सुशोभित हैं तथा कुछ धूर्तोत्तम दिशाओं में पौरोहित्य का विस्तार कर रहे हैं। इसी तरह अन्य प्राध्यापक राजनीति में रस लेने के कारण दुष्टों की सभाओं को पसन्द करने लगे हैं। सर्वथा वे शास्त्रों में श्रम नहीं करते इसीलिए वैशाखनन्दन

अर्थात् गदहे हो गये हैं। उनके प्रभाव से हमारे छात्रबन्धु भी महामूर्ख हो रहे हैं। जिस राष्ट्र में महामूर्खों की अधिक संख्या विराजमान रहती है उस राष्ट्र के दौर्भाग्य का अनुमान पामर लोग भी बड़ी ही आसानी से कर सकते हैं। जो विद्या वेदों के आश्रय से सिद्ध मानी जाती है तथा तत्त्वगामी मुनियों ने और विद्वानों ने भी जिसका तत्त्वपोषण के लिए विस्तार किया है उस विद्या की परीक्षा आज मूर्ख लोग भी कैसे दे रहे हैं? इन सारे तथ्यों को जान करके संन्यासी भी मोहित होकर यदि मिथ्या प्रपञ्चों का ही विस्तार करेंगे तो इस राष्ट्र की क्या दशा होगी? इन्हीं सभी कारणों से संन्यासियों को चाहिये कि वे मठादि के विस्तार का परित्याग करके सदैव परम्पराप्राप्त आचारों को स्वीकार करें। अन्यथा वे अन्धतामिस्र नरक में ही गिरेंगे, यह सुनिश्चित है। इसी प्रकार ही वह भारत की पुरानी धर्मशास्त्रानुगामिनी विभूति बारम्बार वृद्धि को प्राप्त होगी। यतिगण मल के समान ही नेता आदि को पीछे करके तथा अपनी शुद्धि का भी सम्पादन करके अपने धर्म का परिपालन करें।

इस अधिकरण का भी प्रयोजन पूर्वाधिकरणोक्त ही है जो अधिकरण के प्रतिपादन से ही सुस्पष्ट है।

।। इति पात्यिपेटिकायां षोडशं यतीनामपि शास्त्रविरुद्धकृत्याननुष्ठेयत्वाधिकरणम्।।१६।।

अथ सप्तदशं पतितानामपत्यैः साकं विवाहादिव्यवहाराणामकर्तव्यत्वाधिकरणम्

अपेक्षित विचार करके अब पतितों की सन्ततियों को लेकर विचार किया जाता है कि उनकी सन्ततियों से शिष्टगण विवाहादि व्यवहार करें या न करें? किसी की भी सन्तति व्यवहार के योग्य दो प्रकार की होती है—स्त्रीसन्तति और पुरुषसन्तति। यदि कोई पुरुष सन्तानोत्पादन के बाद पतित होता है तथा अपने ज्ञातियों से परित्यक्त होकर अपनी सन्ततियों के द्वारा भी परित्यक्त हो जाता है तब उसके सन्तानों में दोषों का संक्रमण न होने के कारण उनकी विवाहादिव्यवहारों में शिष्टग्राह्यता सिद्ध हो जाती है, अतः उनको लेकर यह विचार नहीं होगा। जो पुरुष पहले ही पतित होकर बाद में अपनी पत्नी में सन्तानोत्पादन करता है अथवा पहले से ही उत्पन्न सन्तानों से परित्यक्त न होकर सादर स्वीकृत होता है तब उसके सन्तानों को लेकर यह विचार अवसरप्राप्त है। यहाँ पर 'पतित' पद से पहले ही गिनाये गये वे गृहीत होते हैं जो प्रायश्चित्त के बाद भी त्याज्य हैं। वे मनु के द्वारा कहे गये चार तथा कलियुग में समुद्रलङ्घी और उनके संसर्गी भी हैं। संसर्गी भी महापातकियों के ही अन्तर्गत आते हैं, ऐसा भगवान् मनु का स्मरण है—

'ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः।
ऐते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत्'।।

अर्थात् ब्राह्मणों की हत्या करने वाले, मदिरापान करने वाले, ब्राह्मणों के धन को चुराने वाले और गुरुपत्नीगमन करने वाले तथा इनके साथ संसर्ग करने वाले सभी महापातकी होते हैं। इनसे अतिरिक्त जो उपपातकादि से ग्रस्त होते हैं वे प्रायश्चित्तादि के द्वारा शुद्ध होकर अपने जातियों से स्वीकार कर लिये जाते हैं, ऐसा प्रतीत हो रहा है। शिष्टगण अवकीर्णी आदि उपपातकियों का भी परित्याग कर देते हैं, ऐसा ब्रह्मसूत्रकार वादरायण एवम् तद्भाष्यकार श्रीमद्भगवत्पाद आदि का कहना है। संशय भी यहाँ पर संसर्गिविषयक शिष्टव्यवहार के दर्शन से होता है। न्यायतः कौन-सा मार्ग उचित है? इसके निर्णय के लिए विचार आवश्यक है। यहाँ कौन-सा पक्ष प्राप्त हुआ? पतितों के दोनों प्रकार की सन्तानों के साथ शिष्टों को विवाहादि व्यवहार करना ही चाहिये। वह कैसे? श्रूयताम्!

अपने क्रियाकलापों से ही पुरुषों में पातित्य की प्रसक्ति होती है तथा वह दोष उनके सन्तानों में भी प्रसक्त होता है, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। ऐसा होने पर भी करुणामयी दृष्टि अपनाकर शिष्टों को चाहिये कि वे पतितों की सन्ततियों की प्रायश्चित्तादि के द्वारा शुद्धि करके उनके साथ विवाहादिव्यवहार करें। न्यायत: यही पक्ष सुदृढतया प्रतीत होता है। इस समय शिष्टजन भी पतितों को स्वीकार कर ले रहे हैं, इसमें उनका लोभ ही कारण है, अत: उनका वह आचरण धर्म्य नहीं हो सकता। पतितों के पुत्र अपने पतित पिता का त्याग यदि नहीं करते तो उसमें उनका लोभ कारण नहीं है। 'पितृदेवो भव' इत्यादि वैदिक अनुशासन में आदरसम्पन्न पुत्र कैसे अपने पिता के त्याग के विषय में सोच भी सकता है जो पिता उसका देव हैं। जमदग्नि के पुत्र महामुनि परशुराम पितृभक्ति के बल से ही अत्यद्भुत प्रभाव से सम्पन्न होकर पूरी पृथ्वी पर विख्यात हो गये। इसी प्रकार ययाति के पुत्र बुद्धिमान् पुरु ने भी स्त्रीसम्पर्कजनित सुख से सर्वथा नि:स्पृह होते हुए भक्तिपूर्वक अपने विषयी पिता की वृद्धावस्था को ही अपना यौवन देकर ले लिया। संसार में कौन ऐसा पुरुष होगा जो अपने यौवन का ही दान करके सम्भोग से जायमान महासुख के इस प्रकार त्याग करने के विषय में सोचेगा? जिस सुख के लिए ही वेदों में परमपवित्र अश्वमेध आदि मख और अहीन-सत्र जैसे महायाग विस्तार से उपदिष्ट हैं, अप्सराओं के माध्यम से वही सम्भोगसुख ही कहा गया है। अप्सराओं के साथ सम्भोग से जायमान वही सुख वेदशास्त्रों में यहाँ स्वर्ग के नाम से गाया जाता है। पितृभक्तिपरायण, बुद्धिमान् वे महात्मा पुरु धन्य हैं जिन्होंने उस महासुख का भी त्याग कर दिया जिसका त्याग देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। इसी क्रम में आठों वसुओं में एक, विद्वान्, साक्षात् गङ्गा के पुत्र भीष्म अपने पिता के सुख के कारण कन्याओं के प्रति ही नि:स्पृह हो गये जिन्हें तीनों लोक चाहता है। वे अपने गुरु भार्गवोत्तंस भगवान् परशुराम के आदेश को तिरस्कृत कर दिये किन्तु कन्याओं में अपना मन नहीं लगाये। सुवर्ण के समान दहकती हुई कन्याओं को देखकर संन्यासी भी मोहित होकर अपने मठों में बैठे हुए अपनी दृष्टि तिरछी करने लगते हैं। कुछ संन्यासी तो अज्ञान से दूषित होकर उन कन्याओं को गेरुआ पहनाकर हमेशा के लिए अपने मठों में ही प्रेम से रख लेते हैं। इसी प्रकार ये स्त्रियाँ पीठाचार्यों के मठों में भी दिखायी देती हैं। कुछ तो अशुद्ध भावना से ग्रस्त होकर उन मठाधीशों का छाया की तरह अनुगमन करती हैं। जहाँ संसार में महिलाओं को लेकर ऐसी स्थिति बनी हुई है वहाँ अपार पराक्रम से सम्पन्न, शान्तनुनन्दन, गङ्गा के तनय भीष्म अपने पिता का प्रिय चाहते हुए सदैव ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी ही रहे। भयङ्कर प्रतिज्ञा करने वाले,

अमिततेज उस भीष्म को नमस्कार है जिन्होंने अपने हृदय से ही चञ्चल नेत्रों वाली कामिनियों को दूर कर दिया था। इसी प्रकार सारे संसार के दैवत, मर्यादापुरुषोत्तम, साक्षात् परमब्रह्म, भगवान् दाशरथि रामचन्द्र भी अपनी स्त्री के वश में हुए पिता की आज्ञा को स्वीकार किये थे। वे भी अपने बान्धव लक्ष्मणजी के साथ सपत्नीक तापस होकर ही वनों में तपस्वियों के साथ चौदह वर्ष व्यतीत किये थे। चौदह वर्षों के बाद ही सत्पुरुषों से आदर प्राप्त करते हुए पूरी पृथ्वी का पालन किये थे। इसी प्रकार यदि कोई पितृभक्त पुत्र त्याज्य पिता की सेवा करता है तो वह शिष्टों के द्वारा व्यवहार्य कैसे नहीं होगा? जिस तरह बलात्कार से प्रदुष्ट माता का त्याग कलियुग में पुत्र के द्वारा सम्मत नहीं है क्योंकि कलिवर्जप्रकरण में वैसा निर्देश है, उसी तरह ही पतित पिता का सेवापरायण पुत्र मनीषियों के द्वारा विवाहादि में व्यवहार्य होना चाहिये। जिस तरह पतित की कन्या का शिष्टों के द्वारा परिग्रहण कहीं पर स्मृत है वैसे ही उसके पुत्र का भी ग्रहण होता है तो कोई दोष नहीं है। सुवर्णादिचोर, सुरापायी, ब्राह्मणघातक और गुरुपत्नीगामी आदि महापातकी पिता के कुपुत्र का ग्रहण सत्पुरुषों के द्वारा मत हो! समुद्रलङ्घी पिता को न त्यागने वाले पुत्रों को तो शिष्ट विवाह और याजन में ग्रहण कर सकते हैं। ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्णादि की चोरी और गुरुपत्नीगमन-रूप कर्मों में महादोष प्रत्यक्ष दिखायी देता है अतः ये सारे कर्म महापातक हो सकते हैं। ब्राह्मण का वध हो जाने पर उसका कुटुम्ब विपत्तियों से ग्रस्त हो जाता है। एवञ्च, ब्राह्मणकुटुम्ब की विपत्ति में निमित्त बनने वाला महापातकी हो सकता है। सुरापान में भी यहाँ उसी विपन्नता का शीघ्र ही अनुमान हो जाता है। सुवर्णादि को चुराने से भी वही विपन्नता पुनः पुनः देखी जाती है। गुरुपत्नीगमन में भी विग्रह (लड़ाई-झगड़ा) का अपलाप नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इन चारों कृत्यों में दोष प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों से दृष्ट हैं अतः वे महापातक हो सकते हैं। समुद्रलङ्घन में तो ऐसा कोई दोष नहीं दिखायी देता, अतः वह महापातक कैसे हो सकता है? निश्चय ही समुद्र के पार जो जो देश व्यवस्थित हैं वे सारे के सारे त्रयीभ्रष्ट पुरुषों से भरे पड़े हैं तथा वहाँ श्रौताचार का भी कहीं दर्शन नहीं होता। उन देशों में जो पुरुष होते हैं वे प्रायः परस्त्रीलम्पट और गोमांस के भक्षक भी होते हैं। प्रायः वहाँ समुद्रादि के तटों पर विहार करने की इच्छा से पुरुष और स्त्रियाँ नग्न दिखायी देती हैं। उन दृश्यों को देखने को आतुर निश्चय ही यहाँ के संन्यासी सत्-शिक्षा देने के बहाने समुद्र के पार म्लेच्छादि देशों में जाते हैं। इस प्रकार से देखा जाय तो समुद्र के लङ्घन में भी प्रत्यक्ष दोष दिखायी देते हैं तथापि यहीं से गंगाजल और विशिष्ट अन्नादि भोज्य पदार्थों को लेकर यदि कोई महापुरुष अपनी इन्द्रियों

को काबू में करके जाता है तो वह किसी भी प्रकार से दोषी नहीं ठहरता। इस पर भी यदि आप जैसे लकीर के फकीर यह कहते हैं कि समुद्रपार म्लेच्छादिदेशों में अधर्म की अधिकता के कारण वायु भी प्रदुष्ट हो गये है तो उसका भी उपाय आप सुन लो! विशेष प्रयोजन की इच्छा से यहाँ से वायु भी लेकर पुरुषों को वहाँ जाना चाहिये। इस प्रकार किसी भी तरह से दोषों की प्रसक्ति नहीं होगी। इसीलिए तो पाङ्क्तेय ब्राह्मण तथा हमारे वैष्णवाचार्य और यतिगण भी भगवान् नारायण का अपने हृदयदेश में ध्यान करके सारी सामग्रियों को लेकर प्रयोजनविशेष के लिए जाते ही हैं। वहाँ पर पहुँच कर वे वहाँ के अन्नजलादि का प्रयत्नपूर्वक वारण भी करते हैं। अर्थात् भारत की ही शुद्ध सामग्री का वे उपयोग करते हैं। पुनः जब वे इस भारतवर्ष में आते हैं तब उनकी मुखकान्ति जरा भी धूमिल नहीं होती; क्योंकि वे म्लेच्छदेशों में विद्यमान दोषों का स्पर्श भी नहीं करते। इसी प्रकार जिनके पिता अपने परम्पराप्राप्त सदाचारों का लोप न करते हुए समुद्रलङ्घन करके तथा अपनी इष्टसिद्धि का विधान करके सुप्रसन्न होते हुए यहाँ आ गये हैं उनके साथ आदर पूर्वक शिष्टों को विवाहादिव्यवहार करना ही चाहिये, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है—

सिद्धान्त

अहो! पतितों के पुत्रों की भावना को वेदमूलक बता कर आप ने जोरदार तथ्य का आविष्कार कर दिया है। अरे भाई! आप नीतिज्ञ जो हैं। आप ने पुत्रों के द्वारा पतित पिता के अत्याग में शास्त्रमूलत्व का जो आपादन किया है वह दूसरे शास्त्र से विरुद्ध हो रहा है। अर्थात् आप उस वस्तु को शास्त्रीय सिद्ध करने में तुल गये हैं जो शास्त्रों से ही विरुद्ध है। अपने पिता को लेकर जो सारे महापुरुष यहाँ अविस्मरणीय कार्य किये हैं, वे पृथ्वी पर अपने उन्हीं कर्मों से सदैव माननीय रहेंगे। इसके बाद भी आप शास्त्रसम्पत्ति की गुरुता पर ध्यान दें! शास्त्रार्थों के अतिक्रमण से भयभीत हुए शान्तनुनन्दन भीष्म अपने अत्यन्त इष्टदेवता के समान प्रिय उस महात्मा पिता के हाथ में जानते हुए भी पिण्डदान नहीं किये; क्योंकि शास्त्रों के अनुसार पिण्डदान कुश पर ही किया जाता है। वही माता माता होती है तथा वहीं पिता पिता होता है एवम् वे ही बान्धव बान्धव होते हैं जो सर्वदा शास्त्रीय आर्यमर्यादाओं का पालन करते हैं। ये सभी माता, पिता, बान्धव आदि सम्बन्धी शास्त्रीय आर्यमर्यादा का त्याग कर देने मात्र से निःसम्बन्ध अर्थात् सम्बन्धों से शून्य हो जाते हैं तथा आचार ही जिनका बान्धव हुआ करता है, ऐसे अपने शिष्ट ज्ञातियों से त्याग दिये जाते हैं। कैकेयी ने

शास्त्रीय आर्यमर्यादा से विरुद्ध गर्हित कर्म किया और उसी के शिष्ट पुत्र भरत जी ने उसका त्याग कर दिया। इसी तरह हिरण्यकशिपु का त्याग उसके ही पुत्र प्रह्लाद ने किया। एवमेव जिसका पराक्रम और पाण्डित्य तीनों लोकों में विश्रुत था ऐसे अपने बड़े भाई रावण का त्याग बुद्धिमान् विभीषण ने किया। इतना सब करने पर भी वे सभी मर्यादा के पोषक, शास्त्रों में शुभ दृष्टि रखने वाले कहीं से भी धर्मतः अवरुद्ध नहीं हुए। इस प्रकार आकलन करने पर पतितों के त्याग का ही पक्ष परिपुष्ट होता प्रतीत हो रहा है। ततश्च, अपने पतित पिता का त्याग न करने वाले पुत्र व्यवहार के योग्य कैसे हो सकते हैं? शब्द जो कहता है वही हमारे लिए प्रमाणतया अभीष्ट है। कहते ही हैं भाष्यकार—'यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्'। शब्द से यहाँ वेदादि शास्त्रों का ग्रहण होता है। वह शब्द कलियुग में माता के त्याग की बात नहीं करता, अतः पुत्रों के द्वारा माता का त्याग कैसे हो सकता है? इस प्रकार का कोई भी शब्द पिता के पक्ष में उपलब्ध नहीं होता अतः उसका त्याग करना ही उचित है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अपने पतित पिता की सेवा करने वाले अर्थात् उनका त्याग न करने वाले पुत्रों को शिष्ट जन अपनी कन्या न दें। कन्या पिता का धन नहीं होती। मनीषी उसे अन्य की धरोहर के रूप में स्वीकार करते हैं। इसीलिए पिता कन्या के विवाहपर्यन्त उनकी रक्षा करते हैं। हमारे शास्त्र शिष्टों के लिए भी पतितों की कन्याओं को ग्रहण करने की अनुमति दे रहे हैं। इसी कारण मनीषी शिष्टजन पतितों की कन्याओं का परिग्रह करते हैं। याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ और वृद्धहारीत भी पतितों की कन्याओं से विवाह करने की अनुमति कहीं दे रहे हैं। इस प्रकार पतितों की कन्याओं का दृष्टान्त देकर उनके पुत्रों को भी कन्या देकर जो उन्हें स्वीकार करते हैं उनका बहुत बड़ा अनिष्ट होता है। इस उपपादनप्रकार से यही निश्चित होता है कि पतित से उत्पन्न पुत्र तथा बाद में पतित हुए अपने पिता का त्याग न करने वाले पुत्र शिष्टों के द्वारा विवाहादि व्यवहारों में ग्राह्य नहीं हो सकते। इसके बाद भी पतितों की समृद्धि से प्रभावित होकर जो लोग उनका सादर परिग्रह करते हैं वे भी शिष्टों के द्वारा त्याज्य हैं॥१-६०॥

वही सम्बन्ध लोक में श्रेष्ठ माना जाता है जिसके मूल में शास्त्रीय मर्यादा रहती है। मर्यादा का त्याग कर देने पर पुरुष विच्छिन्न सम्बन्ध वाले हो जाते हैं। अत एव मर्यादा के पालन में मनुष्यमात्र का व्यसन होना चाहिये। मर्यादा का यदि त्याग भी होता हो तो शास्त्र जैसा निर्देश देते हैं वैसा परिपालन करना आवश्यक होता है। शास्त्र ही पतित पिता की उस कन्या को स्वीकार करने की अनुमति देता है जो अकिञ्चन हो अर्थात् पिता की एक कौड़ी उसके हाथ न लगे। इसीलिए वह

शिष्टों के लिए यथाशास्त्र ग्राह्य होती है, न कि उनके पुत्र भी। इसीलिए कि पतितों के पुत्रों को स्वीकार करने के लिए कोई शास्त्र अर्थात् शास्त्रीय वचन नहीं है।

कन्याओं के परिग्रह के विषय में वशिष्ठ कहते हैं—

'पतित से उत्पन्न पतित होता है, स्त्री जाति को छोड़कर। क्योंकि वह अन्य के पास जाती है। पतित की कन्या का ग्रहण विना धन के ही होना चाहिये।।१३-२०-२१।।

महर्षि याज्ञवल्क्य भी कुछ ऐसा ही कहते हैं—

'पतितों की कन्याओं को उपवास करा कर पिता के धन से शून्य ही उनसे विवाह करना चाहिये।।३-२६१।।

यहाँ सोपवासां का अर्थ है—विवाह के पहले दिन उपवास करने वाली/ अकिञ्चनाम् का अर्थ है—पिता के वस्त्रालङ्कार को जो स्वीकार न की हो। (प्रायश्चित्तमयूख)

तथा च, वृद्धहारीत का भी वचन आकलनीय है—

'पतित की कुमारी का परिग्रह तीर्थ में या अपने घर में करना चाहिये, न कि उसके पिता के घर में। विवाह के पूर्व वह विगतवस्त्र होकर उपवास करे तथा दूसरे दिन प्रातः शुक्ल और अच्छिन्न वस्त्र धारण करे एवम् शिष्टों के सामने बोले कि मैं इन पतितों की नहीं हूँ और न ये मेरे हैं'। इन वचनों से यही निश्चित होता है कि पतितों का अर्जित धन पतितों के ही उपभोग के योग्य होता है वैसे ही जैसे नेता का उत्तराधिकार उसके कुल में उत्पन्न के लिए ही होता है। पतितों की कन्याओं के लिए पूर्वोक्त प्रायश्चित्त भी इसीलिए होता है कि पतितों के अन्नादि के सेवन से प्राप्त हुए पापों का शमन हो सके। प्रायश्चित्त से शुद्ध वह अपने ही पिता से विच्छिन्न सम्बन्धों वाली होकर तीर्थ में या वर के ही घर में विवाहित होती हैं, न कि पिता के घर में।

यदि ऐसी बात है तो पतितों के पुत्रों को भी प्रायश्चित्तादि के द्वारा सुवर्ण की आभा जैसे शुद्ध बनाकर पिता के धन से बहिर्भूत करके अकिञ्चन बना दिया जाय और कन्या प्रदान करके उसके ऊपर अनुग्रह किया जाय। ऐसा मत कहो! इस तरह का सारा कुचोद्य उन नैयायिकों को ही सुशोभित कर सकता है जो धर्माधर्म में हेतु ढूढ़ते हैं। न्यायों के अनुशीलन से जिनका अन्तःकरण परिशुद्ध हो गया है उन मीमांसकों के हृदय में ऐसा कुचोद्य अपना स्थान नहीं बना सकता। 'यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' ऐसा शास्त्रकार कहते हैं। शब्द तो पतित की

पूर्वोक्त प्रकारों वाली कन्या को ही स्वीकार करने के लिए कह रहा है, न कि तथाप्रकार उनके पुत्रों को भी। तथा च, उनकी अग्राह्यता वैसे ही सिद्ध हो जा रही है जैसे प्रजातन्त्रविधि में सत्पुरुषों की अग्राह्यता अयत्नतः सिद्ध होती है। ऐसा होने पर भी जो लोग पतितों की समृद्धि और उनके अत्यद्भुत प्रभावों वाली प्रभा से प्रभावित मन वाले हो जाते हैं वे भी शिष्टों के लिए त्याज्य होते हैं, यह बात सिद्ध हुई। इस प्रतिपादनप्रकार से पूर्वपक्षी के 'तत्सुतस्यापि ग्रहणं नैव दोषभाक्' इस वचन का पूर्णतः समाधान हो जाता है। यह जो पूर्वपक्षी ने कुचोद्य प्रस्तुत किया है कि ब्राह्मणहत्या करने वालों में तथा सुरापायियों, सुवर्णचोरों और गुरुपत्नीगामियों में महापातक की प्रसक्ति इसीलिए होगी कि बाद में महादोषों के दर्शन होते हैं। समुद्रलङ्घी में वैसे दोषों का दर्शन नहीं होता अतः वे महापातकी नहीं होंगे। तथा च, ब्रहहादि के पुत्रों का परिग्रह न होने पर भी समुद्रलङ्घियों के पुत्रों को स्वीकार कर लेने में कोई दोष नहीं है। इस कुचोद्य का समाधान भी इस तरह होगा—

यदि धर्म का धर्मत्व दृष्ट गुणों से होता तथा दृष्ट दोषों के सामर्थ्य से ही अधर्मत्व का विनिर्णय होता तब आप के सारे वचन शिष्टसम्मत होते। धर्म और अधर्म दोनों का ही निश्चय वेदों से ही होगा, ऐसा जब सिद्ध किया जा चुका है तब निश्चय ही आप के सारे कथन मूसलघात से पिसी हुई मिसिरी के चूर्ण जैसे ही होंगे जो मूर्खों के मन में ही अपनी जगह बना कर अच्छे लग सकते हैं। अपने वाग्जालों में ही रमण करने वाले कुछ मूढमानस नैयायिक ही अल्पबुद्धिता के कारण ऐसा बोलते हैं। इस तरह की अनर्गल वार्ता तत्त्वचिन्तक नहीं करते। ब्राह्मणवध आदि कर्मों को उनके कुटुम्ब की विपत्ति देखकर महापातक मानना उचित नहीं है; क्योंकि इसके विपरीत सम्पत्ति का आगमन भी सम्भव है। कुटुम्बपालक ब्राह्मण का वध हो जाने पर भी किसी अन्य प्रसुप्त कुटुम्बी के पुरुषार्थ के उदय होने पर समृद्धि भी लोक में देखी जाती है। सुरा का पान करने पर भी सुरापायी के कदाचार के आलम्बन से लोक में अन्य पुरुषों के लिए घातक पर्याप्त समृद्धि का दर्शन होता है। स्वर्णनाश से विपन्नता को प्राप्त हुआ ब्राह्मण दैवयोग से प्रतिग्रह आदि के माध्यम से अकुप्य रत्नों का पात्र भी हो सकता है। इसी प्रकार यदि कोई अपने नपुंसक उदारचित्त गुरु की पत्नी के साथ गमन कर लेता है तो क्या वहाँ स्वान्तजन्मा काम की तरह विग्रहरूपी ग्रह सम्भव है? इस प्रकार तो आप को ब्राह्मणवध आदि कर्मों के धर्मत्व का अनुमान करना चाहिये तथा सर्वस्वदान आदि धर्मों के अनुष्ठान से आयी दाता की विपन्नता को देखकर आप जैसे विद्वानों

को उन दानादि धर्मों में अधर्मत्व का भी अनुमान करना चाहिये। यदि ऐसा आप जैसे महानुभाव करने लगेंगे तो अनल्प निन्दाओं में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित भी होने लगेंगे। इस प्रकार दोषों की प्रत्यक्षता के माध्यम से अधर्मत्व का निश्चय तथा गुणों की प्रत्यक्षता से धर्मत्व का निश्चय आप करेंगे तो नाना प्रकार के दोष उपस्थित होंगे, अत: न चाहते हुए भी आप को धर्म और अधर्म दोनों की केवल शास्त्रप्रमाणगम्यता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। ऐसा स्वीकार न करने पर अव्यवस्था फैलेगी। जिस तरह लोक में ब्राह्मणहनन आदि महापातक कर्मों को करने वाले प्रायश्चित्त के बाद भी त्याज्य होते हैं वैसे ही समुद्रलङ्घी भी त्याज्य होते हैं, यह तथ्य धर्मज्ञसमय से सिद्ध है। तथा च, समुद्र का लङ्घन त्रैवर्णिकों के लिए महापातक है, ऐसा शास्त्र के पण्डितों का कथन पूर्णत: यथार्थ रूप से मान्य होगा। समुद्रलङ्घन की महापातकता भी दृष्ट दोषों के विना ही धर्मज्ञ-समय से ही कलियुग में सिद्ध होती है, ऐसा मनीषियों को स्वीकार करना चाहिये। इसी प्रकार के युक्तिरत्न पूर्णत: शास्त्रों में सद्विद्याओं के पोषक विद्वानों को सतत दिखायी देते हैं। यद्यपि समुद्र के पार म्लेच्छों की ही बहुलता होने से वहाँ धर्माधर्म का विवेक शशशृङ्ग जैसा ही हो गया है। इतना सब होने पर भी वहाँ अत्यन्त अनादि काल से रूढ़ कुछ सत्यादि धर्म व्यवस्थित हैं जिनका अपलाप वैदिक भी नहीं कर सकते। म्लेच्छ भी अपनी कन्या अन्यपुरुष को देते हैं। वे भी वैदिकों के ही समान दयादाक्षिण्य वाले देखे जाते हैं। वे भी अपनी पत्नी के प्रति प्रगाढ़ अनुराग वाले होते हैं तथा अपने शील की रक्षा भी करते हैं। चोरी आदि विगर्हणीय कृत्यों से वे भी दूर रहते हैं। उन सारे म्लेच्छों में कुछ ही शौचादि से शून्य, अन्य की स्त्रियों के प्रति लम्पट होते हैं और स्त्रियाँ भी धर्म से शून्य होने के कारण निर्लज्ज होकर नग्नप्राय समुद्रादि के तटों पर सुरत अर्थात् सम्भोग की इच्छा से विहार करती हैं। इतने मात्र से उतना दोष म्लेच्छदेशों में नहीं आ जाता कि वहाँ के वायु-अन्न-जलादि का सेवन ही न हो सके; क्योंकि भारत में भी प्राय: वैसे कदाचारों के दर्शन होते हैं। यहाँ भी कहीं पर स्त्रियाँ निर्लज्ज दिखायी देती हैं। क्या भारत में परस्त्रीलम्पट पुरुष नहीं हैं? अहो! कष्ट है कि यहाँ के चिकित्सक अपने महिलाकर्मचारियों के यौनषोषण में लग गये हैं तथा साधु अर्थात् काषायादिवेशधारी भी स्त्रियों के सम्भोग की इच्छा करने लगे हैं। अरे शास्त्री जी! आप क्या अनर्गल प्रलाप करने लगे? गृहस्थाश्रम से मुक्त हुए काषायादिवस्त्रधारियों में कई ऐसे महात्मा इस भारतभूमि को अलङ्कृत कर रहे हैं जिनकी नारायण के अतिरिक्त बाह्य विषयों में जरा भी आसक्ति नहीं है तथा जिन महाशयों की ऊषर हुई मनोभूमि में सुन्दर भौंहों वाली कामिनियों के पास में विराजमान होने पर भी काम का अङ्कुर सम्भव नहीं है।

वे सारे महापुरुष यथाविधान धर्मकार्य भी करते हैं। उनके लिए अपवर्ग (मोक्ष) के अतिरिक्त कोई भी पुरुषार्थ नहीं रह गया है। ऐसे लोग क्या भला उलाहना के पात्र हो सकते हैं? ये कभी भी उलाहना के विषय नहीं हो सकते। यदि ऐसी ही बात है भगवन्! तो वहाँ भी म्लेच्छों में ऐसे महात्मा हैं जिनके संयम का विच्छेद नहीं हुआ है और जो विशुद्ध समता आदि गुणों से सम्पन्न भी हैं। इसी तरह गृहस्थों में भी कुछ ऐसे म्लेच्छ हैं जो अपने चारित्र्य की रक्षा में तत्पर रहते हैं तथा किन्हीं महापुरुषों से सम्पृक्त हैं। इस पर भी यदि आप कहें कि भौतिकतारूपी मगरमच्छों से ग्रस्त होकर बहुत से म्लेच्छजन भौगैकमानस होकर परस्त्रीगमनादि कुकर्मों को करने लग गये हैं तो यहाँ भारत में भी वैसे ही हीनसत्त्व बहुत से दुष्ट हैं जो अनार्य जैसे हो गये हैं। क्या वे सब आप की दृष्टि में नहीं आते? अहो! बहुत बड़े कष्ट की बात है कि यहाँ विधि-विधानों का निर्माण करने वाले नेता वोट पाने की लालसा में अपने ही लोगों को गाँव का मुर्गा, मद्य और स्त्री आदि का समर्पण करके अन्धतामिस्र नरकों में ढकेल रहे हैं तथा स्वयम् भी उनमें गिर रहे हैं। म्लेच्छ भी इस तरह के महापापों को इस समय नहीं करते। इस प्रकार के ये महापापी दुष्ट पर्याप्त द्रव्य संन्यासियों के चरणों में अर्पित करके उनके प्रियजन हो गये हैं तथा उनसे दीक्षित भी हैं। अहो! बड़ी ही शर्म की बात है कि यहाँ पर परिव्राजक (संन्यासी) नेताओं की वृद्धि की कामना करते हुए बार-बार उनके चण्डीपाठादि कर्मों का सम्पादन कराते हैं। ऐसा सब यहाँ होने पर भी वे शठविग्रह महाशठ ही कहे जायेंगे जो वायु-अन्न-जल आदि सामग्रियों के साथ ही समुद्र का लङ्घन करते हैं।

यदि नाना प्रकार के कुकर्मों में तत्पर, दुष्टसत्त्व, महानीच और विमूढ़ लोग इस भारत में ही पशुओं की तरह उछलते कूदते हैं तब वायु, जल, फल आदि लेकर समुद्र का लङ्घन करने वाले धृष्ट धूर्तोत्तम ही हैं।

इस प्रकार यही निश्चित होता है कि श्रौतपरम्परा में प्रेम रखने वाले त्रैवर्णिक उस महान् समयबन्ध को मानें जो धर्मज्ञों के द्वारा प्रसारित है। उसी धर्मज्ञों के समयबन्ध से कलियुग में यहाँ पर समुद्रलङ्घी का त्याग भी सिद्ध है तथा उनके पुत्रों के साथ विवाहादि व्यवहार का अभाव भी न्यायों से अनुप्राणित अर्थात् जीवित है।

ऐसे सिद्धान्त के सुदृढ़ होने पर भी जो हतबुद्धि मूर्ख लोग दुर्नीति में ही आदरसम्पन्न होकर मूर्खों के बीच यह कहते हैं कि हिन्दुओं में पातित्य कहाँ है? अर्थात् हिन्दू पतित होते ही नहीं, वे निश्चय ही धर्म के विदूषक हैं। धर्म को ही अपने कुकृत्यों से प्रदूषित करते हुए वे समुद्ररशना इस पूरी पृथ्वी को ही

सन्मार्गों से शून्य कर देना चाहते हैं वह भी अपने क्षुद्र स्वार्थों की सिद्धि के लिए। इसके बाद एक शार्दूलविक्रीडित छन्द से इस अधिकरण का पूर्वपक्ष और सिद्धान्त का क्या प्रयोजन होगा, यह प्रतिपादित किया जाता है। इस अधिकरण में पूर्वपक्ष में यही प्रयोजन होगा कि महापातकादि कुकर्मों से भ्रष्ट हुए पिता के पुत्र का सभा में शिष्टों के समान ही सम्मान होगा; क्योंकि उनमें पातित्य की प्रसक्ति न होने के कारण स्वच्छता के प्रकारों का विच्छेद नहीं होगा। इसी प्रकार सिद्धान्तपक्ष में यही प्रयोजन होगा कि उस पतित पिता के पुत्र का सभा में सम्मान नहीं होगा; क्योंकि पिता के पातित्य का दोष उसमें भी समाक्रान्त होगा। एवमेव दोषसंक्रान्ति के कारण उसमें दुर्ब्राह्मणत्व का व्यवहार होगा और वह उग्रदेवता वाले कर्मों में ही अपनी सहभागिता का निर्वाह करेगा। जैसे क्षेत्रपालादि की बलि को लेकर वही क्षेत्र में जायेगा। इसी प्रकार अन्य प्रयोजनों की भी गवेषणा विद्वानों को कर लेनी चाहिये।

।। इति पातित्यपेटिकायां सप्तदशं पतितानामपत्यैः साकं विवाहादिव्यवहाराणामकर्तव्यत्वाधिकरणम्।।१७।।

●

अथाष्टादशं स्वकुटुम्बपरिपोषणमात्रदृष्टिपुत्राणां शिष्टैरग्राह्यत्वाधिकरणम्

पूर्व के अधिकरण में पतितों की कन्यायें शिष्टों के द्वारा यथाशास्त्र ग्राह्य होती हैं तथा उनके पुत्र ग्राह्य नहीं होते, यह सिद्धान्त कहा गया। अन्य भी पातक, उपपातक, अतिपातक आदि कर्म होते हैं जो पुरुषों को पतित बना देते हैं तब जब नानाप्रकार के स्वभाव वाले पुरुष उन कर्मों को करके प्रायश्चित्त से शुद्ध नहीं होते। कुछ ऐसे भी पापकर्म होते हैं जो करने वाले के वंश को ही समाप्त कर देते हैं तथा सामान्यजन उन्हें पाप के रूप में समझ भी नहीं सकते; क्योंकि उनका मन गृहकार्यों में ही लगा रहता है। पुन: यहाँ यह विचार अवशिष्ट ही रह जाता है कि उस प्रकार के पापों से सम्पृक्त पुरुषों के अन्न, जल और कुत्सित संस्कारों से परिपुष्ट पुत्रों का ग्रहण शिष्टजन अपनी कन्या देकर करें या नहीं? अरे! यह तो विपरीत बात हुई कि वंश के मूलत: उच्छेदक होने पर भी इन पापों को समझा नहीं जा सकता। प्राय: शिष्टों के द्वारा आचरित पापों में भी पुरुषों का मन जाता है। कैसे उनको नहीं समझा जा सकता जब कि मूर्ख भी उस प्रकार के पापों के जानकार होते हैं? कहा जाता है—

स्थूल, सूक्ष्म आदि के भेद से शास्त्रों में पापों की असंख्यता देखी जाती है जिनमें कुछ पापों को केवल विद्वान् ही समझते हैं। सम्भोग, आहार और निद्रा में मनुष्य और पशु समान ही होते हैं। पशुओं से मनुष्यों को धर्म ही अलग करता है। इसीलिए धर्मकार्य से विहीन मानवों की भी गणना पशुओं में ही होती है। इसमें बहुत सी सूक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। जो लोग मोहग्रस्त होकर केवल कुटुम्ब के ही कार्य में लगे रहते हैं तथा मैकाले की शिक्षा रूप कुमार्ग के अनुरागी और दुष्ट आशय वाले भी होते हैं। वे दु:खरूपी भँवर में डूबे हुए अभाव के जीवन को जीने वाले पुरुषों की उपेक्षा करते हुए अपने शिशुओं का परिपालन पर्याप्त द्रव्यों से करते हैं तथा बार-बार उन्हें पढ़ाते हुए अपने घरों में ही अत्यधिक भोज्य पदार्थों को खाते खिलाते हैं और गङ्गा आदि पुण्य तीर्थों से दूर भागते हुए दानादिधर्मों से अपना मुँह चुरा लेते हैं एवम् सदैव अपनी बुद्धि को वेदान्त की चर्चा में लगाये रहते हैं। यद्यपि वे एक वृत्ति से असन्तुष्ट होकर दूसरी अन्य वृत्ति भी स्वीकार कर लिए हैं तथापि घूस के मार्ग से धनसंग्रह में तत्पर रहते हैं।

वे प्रातःकाल उठकर अपने पुत्रों को म्लेच्छभाषा का पाठ पढ़ाने लगते हैं तथा भोजन करके तुरन्त कार्यालय में चले जाते हैं और वहाँ से लौट कर पुनः आदरपूर्वक प्रातःकाल वाला ही कार्य करने लगते हैं। खाकर एवम् दूध पीकर अतिशय आनन्दित हुए रात में सो जाते हैं। इसी प्रकार वे अपना समय विताते हुए अपने पुत्रों की उच्च शिक्षा में निर्धनों की उपेक्षा करते हुए ही दश लाख से अधिक धन शीघ्र ही व्यय कर देते हैं। इन सारे कामों में वे धर्म को विघ्न कहते हैं। शास्त्रीय संस्कारों से पूर्ण भ्रष्ट होकर उनके पुत्र जब महाभृत्य (बड़ी सेवा) के पद पर आरुढ होकर धन कमाने लगते हैं तब उनकी उस तपस्या को पूर्ण देखकर अन्य पुरुष आश्चर्यसागर में मग्न हुए हर जगह चर्चा करने लगते हैं। अपने पुत्रों के विवाह के लिए कन्यापक्ष से आये पुरुषों के साथ वे द्रव्य की लालसा रखने वाले लोभी एकान्त में सपत्नीक वार्ता करते हैं। वे दुर्बुद्धि बहुतों को तिरस्कृत करके पर्याप्त धन के द्वारा ही किसी धनाढ्य पर ही अनुग्रह करते हैं। अपनी कन्याओं के सुख को चाहने वाले वे दीन पिता अपने अन्यायार्जित धन को पुनः बढ़ाने लगते हैं। अपने पुत्रों की प्रेरणा से ही वे मूढ जन विवाह के पूर्व ही अँगूठी पहनाने के बहाने कुसंस्कार का विस्तार करते हैं। अहो! कष्ट की बात है कि संसार में ये क्लर्क विवाह के पूर्व ही कन्या और वर का मिलन करा देते हैं जिसमें अत्यधिक अनर्थों की ही सम्भावना होती है। विवाह में पुरुषों के साथ ही कुबुद्धि महिलायें भी पुंश्चली (वेश्या) की तरह जाने लगी हैं। इससे अधिक कष्ट क्या हो सकता है? अपने परिवार के भोजन के लिए यदि एक दिन के लिए थोड़ा ही धन लिया जाता है तो वह पात्रता की अपेक्षा करता है। जिस दान की पात्रता को प्राप्त करने के लिए केवल ब्राह्मण पुरुष ही नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान निरन्तर करते हैं वह पात्रता क्या है? इस पर कहा गया है कि—कुलीनता, यथासमय संस्कारों की व्यवस्था, स्वाध्याय के अभ्यास के द्वारा धर्मानुष्ठान का स्वभाव, अपने ज्ञाति, बान्धव, आश्रित तथा अन्य निर्धनों के लिए भी द्रव्य का प्रसन्नता से अर्पण, निन्दित कर्मों का परित्याग, अल्पव्यय से परिवार का पालन, शुभ दृष्टि का विस्तार एवम् न्यायप्रियता आदि पदार्थों का जो पिण्ड (समुदाय) है वही द्विजाति की पात्रता शास्त्रों में कही गयी है। जो लोग सत्पात्रतागुणों से सम्पन्न होते हैं वे कन्या के पिता के द्वारा अपनी इच्छा से ही प्रदत्त धन को इसीलिए नहीं लेते क्योंकि लेने से तपस्या का क्षय होता है। कष्ट है कि जो लोग भोगों से परिपूर्ण, भ्रष्ट और भ्रष्टक्रिया से युक्त हैं वे बद्धमुष्टि सर्वस्व ही ले लेना चाहते हैं। ये पापी निश्चय ही यही चाहते हैं कि इनकी सहायता तीनों लोक अपना प्राण देकर भी करे किन्तु अपने सम्बन्धीजन का भी छोटा-

सा भी यदि काम पड़ जाय तो ये पामर थोड़ी भी सहायता करना नहीं चाहते। अहो, इस लोक में मूढ पशु भी अपनी उपयोगिता सिद्ध करके ही यथासमय अपना शरीर त्यागते हैं। ये नराधम तो केवल अपने स्वार्थ को साधने में तत्पर रहते हुए लोक को बाधित करके भोगों से ही भुक्त होकर अपना शरीर छोड़ते हैं। इस प्रकार इनकी तुलना जो लोग पशुओं से करते हैं वे उन वराक (बिचारे) पशुओं का अपमान ही करते हैं। इनसे तो बहुत अच्छे वे महापातकी ही होते हैं जो प्रायश्चित्तादि के द्वारा अपनी शुभ दृष्टि का चयन करते हैं। शास्त्रों में सारे पातकों का प्रायश्चित्त विहित है, किन्तु इनके लिए कोई भी प्रायश्चित्त नहीं है। 'महापातकी तीन वर्षों तक अपनी शुद्धि के लिए कृच्छ्र प्रायश्चित्त करे अथवा अपने बराबर सुवर्ण का दान करे, जिससे विप्रों को सन्तोष हो। सुवर्णदान, गोदान, भूमिदान इत्यादि महादान महापातकों से जायमान पापों को नष्ट कर देते हैं'। (५.८.६)

इस प्रकार से महापातकियों के प्रायश्चित्त प्रकार को कश्यप और गाधिपुत्र विश्वामित्र ये दोनों महामुनि कहते हैं।

'ये महापातकी अश्वमेध यज्ञ से शुद्ध होते हैं अथवा पृथिवी के सारे तीर्थों की पैदल यात्रा से भी इनकी शुद्धि हो जाती है'। (विश्वामित्रस्मृति ३५.६)

इसी तरह महामुनि शङ्ख भी महापातकियों के पापों को दूर करने का उपाय बतलाते हैं—

'नित्य तीनों कालों में स्नान करते हुए वन में पर्णकुटी बनाकर जटाधारण, कन्द-मूल-फलों का भक्षण तथा नीचे जमीन पर शयन करें। इस प्रकार एक समय ही भोजन करते हुए भिक्षा के लिए ही गाँवों में प्रवेश करें तथा अपने पापों का कीर्तन भी करें। एवञ्च बारह वर्षों के बीतने पर इस व्रत से सुवर्णों के चोर, सुरापानकर्ता, ब्राह्मणों की हत्या करने वाले तथा गुरुपत्नीगामी महापातकी शुद्ध होते हैं'। (श. १६.१.३)

अरे भगवन्! ये सारी पातकियों की प्रायश्चित्तक्रिया की विधियाँ यहाँ अपने ही परिवार में पचने वाले दुर्बुद्धियों की शुद्धि के लिए क्यों नहीं होंगी? विष्णु की माया से गृहीत होने के कारण अन्धकारमय कन्दराओं में स्थित ये दुष्ट यदि शठता में आ भी जाते हैं तब इनका दोष कैसे माना जायेगा?

ऐसा कुचोद्य तुम मत करो! क्योंकि धर्मदृष्टि से मुख फेरे ये खल श्रुत्यादि प्रमाणों से नित्य के रूप में व्यवस्थित एकादशी आदि व्रतों में स्वास्थ्य के कारणों का दर्शन करते हैं अर्थात् ये कहते हैं कि ये व्रत स्वास्थ्य के लिए हैं; क्योंकि

महीने में दो दिन भोजन न करने से स्वास्थ्य ठीक रहता है। इसीलिए तो ये जब रोगों से आक्रान्त होते हैं तो सादर वहीं जाते हैं जहाँ मूर्खों को ठगने के लिए योगाभास का विस्तार होता है। संसाररूपी व्याधि से भयभीत, भोगों से अपने मन को दूर रखने वाले धार्मिकों के लिए ही मुनि ने जिस शास्त्र का निर्माण किया है उस योगशास्त्र को आधार बना कर आज नराधम भी भोगदुष्टों को अपने पास बुलाकर कुमार्ग की ही शिक्षा देते हैं। जो पापी शुक्राकर्षण (बज्रौली) क्रिया के बहाने सुन्दरियों का भी सेवन करते हैं वे खल योगशास्त्र के वास्तविक रहस्य को कैसे समझ सकते हैं? वे ही मूर्खों से यह कहते हैं कि यहाँ योग और भोग दोनों ही हाथों में लड्डू की तरह रहते हैं जो लोग इस प्रकार से योग करते हैं।

ठीक है यह आप का कथन कि कुत्सित योगियों की योगसेवा तत्त्व की दृष्टि से नहीं होती। मत हो उनकी योगसेवा उस प्रकार की। यदि स्वास्थ्यलाभ फल के लिए भी होती है तो योग का उपयोग कर लेने में क्या दोष है? ऐसा तुम मत बोलो! क्योंकि शिबिर में योग का शिक्षक धर्मशास्त्र का अतिक्रमण करके ऐसी वाणी बोलता है जिससे पदे-पदे अनर्थ होता है।

'जो वर्णों के आश्रित होकर ही रहते हैं वे धर्म वस्तुतः धर्म ही नहीं होते। हे भक्तगण! वर्णाश्रित धर्मों को नष्ट करने के लिए आप वर्णों का ही छेदन करें! न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। वेदों के आदि में प्रणव (ओङ्कार) होता है तथा वेदों में गायत्री की चोदना (उपदेश) है। वह गायत्री प्राणायामों में विराजमान रहती है तथा योग भी उन प्राणायामों से ही विभूषित होता है। वह योग भी सारे वर्णों में ही समाविष्ट दिखायी देता है इसीलिए भक्तों! पृथिवी पर वेद सार्ववर्णिक अर्थात् सारे वर्णों के लिए ही होता है। ऐसा सब होने पर भी जो लोग शूद्रों को वेदों से बहिष्कृत कर रखे है वे ब्राह्मण और ऋषि भी धूर्त ही हैं'। इस प्रकार की वाणी का प्रयोग शिबिरों में हिरण्यादि धन के भूखे, मूर्ख, कुत्सित योगी बोलते हैं। एवञ्च, निरीहों की उपेक्षा करते हुए अपने पुत्रों में ही अत्यधिक व्यय के स्वभाव वाले तथा पुत्रों के विवाह में अधिक से अधिक धन लेने वाले जो अपूर्णभोग उन कुत्सित योगियों के पास जाते है तो वहाँ उन्हें उनका अत्यन्त पाप ही पहुँचा देता है, जिससे कि ये पूर्णतः भ्रष्ट होकर अपवित्र नरकों में धड़ाम से गिरते हैं। रोग आकर सञ्चित पापों का पाक अर्थात् क्षय क़रते हैं। तात्पर्य यही है कि रोगों से प्राणियों के पाप कटते हैं। ऐसे पापों को पचाने वाले रोगों से प्राणों का परित्याग कर देना श्रेष्ठ है। स्वास्थ्य के लाभ के लिए दुष्ट योगियों का संगम किसी भी तरह से अच्छा नहीं है। उस स्वास्थ्यलाभ से भला कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा

जो संस्कारों का ही नाश कर दे तथा उस जीवन से भी क्या लाभ है जहाँ भोगों की ही प्रधानता होती है।

अब मैं उन वर्णप्रदूषकों से पूछता हूँ जो व्यायाम को ही योग कहते हुए अपने स्वार्थ को साध रहे हैं। हमारे महामुनि पतञ्जलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँचों को यम कहा है तथा शौच, तप, स्वाध्यायाभ्यास, सन्तोष और ईश्वरप्रणिधान, इन पाँचों को नियम कहा है'। इन पाँचों यमों और पाँचों नियमों का जो सेवन करते हैं उनका ही आगे के आसन आदि योगाङ्गों में अधिकार है किं वा इन यम-नियमों से जो विरक्त हो गये हैं उनका अधिकार हैं? यहाँ पर दूसरा यह पक्ष उचित नहीं है कि यमनियमों से विरक्तों का उत्तराङ्गों में अधिकार है। इसीलिए कि यमनियमों से शून्य भोगियों का अधिकार मानने लगेंगे तो योगशास्त्र में महामुनि, तत्त्वगामी, भगवान् पतञ्जलि का यमनियमोपदेश व्यर्थ होने लगेगा। यम-नियमों के अनुशीलन के बाद ही योग के उत्तराङ्गों में अधिकार है, इस प्रथम पक्ष को यदि स्वीकार करोगे तो मर्यादाओं के उच्छेदक आप और भोग पदार्थों के संग्रह में ही सदा तत्पर आप के भक्तों के योग में अधिकार का विच्छेद दूध में छाछ की तरह प्रसक्त हो जायेगा। हे योगिराज! आप स्वयम् यमनियमों से कोसों दूर हैं। तुममें अहिंसा हो नहीं सकती; क्योंकि तुम अशास्त्रीय कार्यों से महापुरुषों को पीड़ित करते हो। एवमेव धर्मशास्त्रों का तिरस्कार करने से तुममें सत्य की सम्भावना भी कहाँ होगी? जो पुरुष ब्राह्मणशरीर में विद्वत्परम्परा के द्वारा ही शास्त्रों का अध्ययन करके तथ्यपूर्ण प्रवचन करे वह सत्य बोल सकता है। जो अधिकार के विना भी अन्यथा शास्त्र बोलता है अर्थात् विपरीत अर्थ का प्रवचन करता है मात्र लोगों के ठगने के लिए वह सत्य को कैसे स्वीकार कर सकता है? तुम प्रवचन रूप ब्राह्मण की वृत्ति का अपहरण किये हो अतः चोर हुए। इस प्रकार अस्तेय भी तुममें नहीं है। तुम शूद्र हो अतः ब्रह्मचर्य भी कहाँ सम्भव होगा? क्योंकि ब्रह्मचर्य—वेदाध्ययन त्रैवर्णिक के लिए ही विहित है। करोड़ों मुद्रा लेकर भी यदि कोई अपरिग्रही (द्रव्यसंग्रह न करने वाला) बनता है तो निश्चय ही व्याघ्र भी मांस छोड़कर फलाहारी होगा। नियमों की यमों से व्याप्ति है अर्थात् जहाँ यम होंगे वहीं नियमों की सम्भावना भी होगी। आप मे् योगीजी! यदि यम ही प्रतिष्ठित नहीं हैं तो नियम कहाँ से होंगे? इस प्रकार आप में यम, नियम दोनों की शून्यता है, अतः आगे के योगाङ्गों से भी आप जाते रहे। एवञ्च, आप की वह धूर्तता भी सिद्ध हो जा रही है जो संसार को ठगने के लिए है। अहो! आज धूर्तों को भी योगमार्ग का शिक्षक अर्थात् योगगुरु कहा जा रहा है। अष्टाङ्ग योग वर्णाश्रमधर्मों की उपेक्षा करके प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, इसीलिए जो नीच वर्णाश्रम धर्मों को प्रदूषित करता है

वह भोगियों को व्यायाम सिखाता हुआ द्रव्य का लोभी उस योग को भी प्रदूषित करता है जिसके नाम से द्रव्य कमाना चाहता है।

अरे! आप यह कैसे कह रहे हैं कि योग अपनी सत्ता के लिए क्रम से वर्णाश्रमधर्मों की अपेक्षा करता है? सुनो! मूर्खाधिराज! पाँचों यमों में जो ब्रह्मचर्य परिगणित है शास्त्रों में उसी का वेदाध्ययन के नाम से व्यवहार होता है। इस प्रकार इस वेदाध्ययन रूप ब्रह्मचर्य में तीनों वर्ण द्विजाति ही नियुक्त होते हैं; क्योंकि वेदों में उन्हीं का अधिकार माना जाता है जो उपनयन-संस्कार से संस्कृत होते हैं। शूद्रों के लिए उपनयनविधि के अभाव के कारण ही उपनयनसंस्कार का अभाव माना जाता है। एवमेव नियमों में मनीषियों ने जिस स्वाध्याय को गिना है वह यहाँ पर अधीत वेद का अभ्यास ही कहा जाता है। यह अधीतवेदाभ्यासरूप स्वाध्याय संन्यास में भी आवश्यक है, अन्यथा सारे संन्यासी पतित हो जायेंगे, ऐसा पहले ही कह दिया गया है। इस प्रकार शूद्रजातियों के लिए अपने धर्म का परिशीलन ही योग है, ऐसा प्राज्ञ कहते हैं। तथा च, अपने धर्म से यदि शूद्र भ्रष्ट होंगे तो उनका अध:पात निश्चित है। ततश्च, जो अधम पुरुष कुसंस्कारों से व्यामोहग्रस्त होकर मूर्खता से परिपूर्ण, भोगियों को व्यायाम की शिक्षा देने वालों का सेवन करते हैं उन बगुलाभक्त, उपकारों से शून्य मन वाले, संवेदना से विहीन लोगों के प्रपुष्ट पाप उनके कुल का ही नाश कर देते हैं; क्योंकि उनकी अधर्म में ही धर्मबुद्धि होती है तथा उनके पापसमूहों का क्षय भी नहीं होता। इस बात को केवल विज्ञपुरुष ही समझ सकते हैं। इन सारे गृहादिव्यापारों में संसक्त, कूपमण्डूक जैसे पुरुषों को देखकर भूयिष्ठकल्प लोगों की बुद्धि शुद्ध ही देखी जाती है।

'अहो! अपने पुत्रादि की उन्नति का ही कार्य करते इन पुरुषों के सौभाग्य के विषय में कुछ कहा ही नहीं जा सकता जिनकी तपस्या के ही प्रभाव से इनके सारे पुत्र व्यवस्थित हो गये हैं। यदि वे अपनी कन्याओं के विवाह में मुक्तहस्त होकर व्यय करते हैं तो इनके पुत्रों के विवाह में दस लाख देना भी कोई मायने नहीं रखता। तीस लाख लेकर भी यदि ये महापुरुष हमलोगों की कन्याओं को अपने पुत्रों के लिए स्वीकार कर लेते हैं तो कन्यासौभाग्यसम्पत्ति के आगे वह तीस लाख कुछ भी नहीं है। ये महात्मा अपने पुत्रों की वृद्धि के लिए क्या कुछ नहीं किये। संसार से अपनी सारी दृष्टि हटाकर अपने जीवन को ही तृण बना दिये। इनके वे पुत्र और पुत्रियाँ धन्य हैं जिनके पिता अपनी सत्ता को ही तिनके जैसा बना कर उनकी समृद्धि के लिए प्रवृत्त हैं। इस प्रकार की कल्पनाओं में मूढ शिष्ट भी कदाचित् उनके पुत्रों को अपनी कन्या देनें में तत्पर हो सकते हैं अत:

उनकी प्रवृत्ति के निराकरण के लिए या कन्याओं के उद्धार के लिए मैंने इस विचार का आरम्भ किया है। इस समय यथार्थपक्ष को समझ कर शिष्टगण सन्तुष्ट हों! जिन कुटुम्बमात्रदृष्टि, हीनों की उपेक्षा करने वाले पुरुषों के शरीरत्याग करने पर उनके उद्यमी पुत्र कबूतरों के निवास के लिए संन्यासियों के भवनों का निर्माण करके उनमें अपने पिता का नाम लिखवाकर स्वस्थ होते हैं और वहाँ जरा भी दृष्टि नहीं डालते जहाँ दु:खीजन रहते हैं तथा काम भी वही करते हैं जैसा उनके पिता पहले कर चुके हैं। ऐसे अमोघपापी पुरुषों के पुत्रों के हाथों में कन्यादान निश्चय ही मगरमच्छ के मुँह में खरगोश देने के समान है। वह कन्या अप्रदत्त ही रहे या किसी दरिद्र को दे दी जाय, किन्तु उन दुष्टों के पुत्रों को न दी जाय। जिन लोगों के पुत्र संस्कारवान् और अपने चरित्र की रक्षा में तत्पर रहते हैं तथा नित्य-नैमित्तिकादि कर्मों में लगे हुए दीन-हीनों का उपकार भी करते हैं उन्हीं के पुत्रों को दी गयी कन्या यहाँ पर धर्म और प्रजा के विस्तार के योग्य होती है अन्यों के नहीं। ठीक है, तथापि संस्कारविहीनों के पुत्रों को वैसे ही लोगों की कन्या यदि दी जाय तो कोई दोष दिखायी नहीं देता? हे ब्रह्मन्! ऐसी आप की बात मैं स्वीकार करता हूँ। कृपया आप चिन्ताकुल न हों। आप जो कुछ भी निर्भीक होकर कह रहे हैं वह सब न्यायत: प्राप्त हो रहा है। यहाँ वैसे पुरुष और वैसे ही कन्यापिता समानतया सम्बन्ध करना चाहते भी हैं; क्योंकि वे सभी हतभाग्य हैं। ऐसा होने पर भी कोई धार्मिक कृपा करके यथाविधान उनकी कन्या को अकिञ्चन बनाकर सत्पुत्रों को दे दे। कन्याओं का यह स्वभाव ही होता है कि वह आश्रय पाकर ही व्यवस्थित होता है। उनका वह स्वभाव दुष्ट के आश्रय में दुष्ट हो जाता है और शिष्टों के आश्रय में शिष्ट होता है।

'जैसे गुण वाले पति से यथाविधान स्त्री सम्बन्धित होती है वह वैसे गुण वाली हो जाती है जैसे समुद्र से मिलकर नदी'।

यह बात वे ऋषिश्रेष्ठ, महामुनि वशिष्ठ भी कह रहे हैं। इसीलिए कन्या को उन्हें ही समर्पित करना चाहिये जो उत्कृष्ट गुणों से सम्पन्न हों।

इस अधिकरण का प्रयोजन पूर्वाधिकरण में उक्त प्रयोजन ही होगा।

इति पातित्यपेटिकायामष्टादशमपेक्षितजनोपेक्षापूर्वकस्वकुटुम्बपरिपोषणमात्र-दृष्टिपुत्राणामपि शिष्टैः कन्याप्रदानेनाग्राह्यत्वाधिकरणम्।।१८।।

●

अथैकोनविंशं वैष्णवेष्वारूढपतितानां कृते सम्प्रदायव्यवस्थापनाधिकरणम्

वैष्णव समाज में आकर भी विकर्मव्यासक्त होकर पतित हुए आरूढपतित कहे जाते हैं। ये आरूढपतित वैष्णवशिष्टों के द्वारा विगर्हित होकर त्याग दिये जाते हैं, ऐसा पहले ही कह दिया गया है। इनका अवस्थान कहाँ हो? यह विचार अवशिष्ट ही रह गया है। क्या ये यहाँ तिरस्कृत होकर पुन: त्रयीविरुद्ध पाखण्डप्रधान मार्ग में ही प्रवेश करें या यहाँ कोई और मार्ग है जहाँ ये प्रतिष्ठा का जीवन जीयें? यहाँ कौन सा पक्ष प्राप्त हुआ? त्रयीविरुद्ध पाखण्डप्रधान मार्ग में ही ये प्रवेश करें। कैसे?

यदि इस संसार में दूसरा और कोई सन्मार्गप्रधान सम्प्रदाय नहीं है तो ये हतभाग्य, भ्रष्ट वैष्णव शिष्टों से तिरस्कृत होकर कहीं पृथिवी पर अपना अवस्थान चाहते हुए बुद्धादि के मन से कल्पित गहनान्धकारमार्ग में क्यों नहीं जाना चाहेंगे? जहां पर प्रकाशित मनोरथ वाले बौद्धादि इन्हें अपने करतल में अभीष्ट वस्तु की तरह रखने को तत्पर रहते हैं।।१।।

जिन मार्गों में बौद्धादिगण अपने विवेवशून्य मन से विगर्हित और विकृतप्राय कर्मों को धर्मबुद्धि से करते हैं उन्हीं मार्गों में श्रुतिनिष्ठ, साधु मति वाले पुरुषों के द्वारा भगाये गये दुर्जन सम्यक्प्रकार से गमन करें, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर यह सिद्धान्त कहा जाता है—

सिद्धान्त

आपके द्वारा यह कहा गया सभी कुछ तथ्य ही होता यदि भारत में बवासीररोगग्रस्त पुरुष में विकलता के समान कोई सन्मार्ग नहीं ही होता। यहाँ पर भगवान् की भक्ति की प्रधानता हो जिनमें, ऐसे प्रतीत होने वाले मार्ग हैं जहाँ समान सत्कार प्राप्त करने वाला भ्रष्ट भी सुशोभित होता है।।३।।

निश्चय ही वहाँ भोजनादि की व्यवस्था शिष्टों जैसी नहीं होती तथा वैसी शिष्ट वार्ता का भी अभाव एवं शरीर की पवित्रता का बिन्दु भी दिखायी नहीं देता। उन सम्प्रदायों में विद्यमान पुरुषों के उदर में मालपूआ आदि समृद्ध भोज्य पदार्थों

का ही प्रवेश होता है जहाँ प्यास, लहसुन से उद्दीप्त, कटु व्यञ्जन भी सुशोभित रहता है।।४।।

वहीं पर धूम पान में मस्त, दीर्घ दाढ़ी-मूछों वाले, रक्ताक्ष, कटुभाषी होते हुए भी दयावान् दिगम्बर भी रहते हैं। इस प्रकार के होते हुए भी वे विष्णु की आराधना के आशय से पूरी पृथ्वी पर वैसे ही विचरण करते हैं जैसे व्याकरण में विकल्पधारी सूत्र बहुतायत में होते हैं।।५।।

उन महात्माओं के मन में सन्तोष और पुष्टि प्रदान करने के लिए ही बड़े-बड़े सत्सङ्गमञ्च बनाये जाते हैं जहाँ पर अपहृत जैसी मूढ जनता आती है। वहीं पर ये प्रियभाषी भगवान् की चर्चा के बहाने अपने उत्कर्ष को वैसे ही प्रस्तुत करते हैं जैसे मानों हँसी की चटनी चटा रहे हों।।६।।

पहले सन्त होते हैं तथा बाद में ही भूलोक में भगवान् की स्थिति आभासित होती है। इसीलिए कि घर-द्वार से वैराग्य में रसिक हम सन्तगण आदरपूर्वक भगवान् की सत्ता को विभावित करते हैं। इसीलिए आप भक्तगण! सदैव हम अतुलनीय सन्तों का सेवन करें। उन मञ्चों पर वे ऐसी ही व्याख्या करते हैं।।७।।

इस प्रकार वे अत्यन्त पवित्र गृहस्थ लोगों को पीछे बैठाकर प्रसन्नता से चाटुकारितापूर्ण वाणी सुनाते हुए जोर से हँसते हैं और हास्यकणिका का भी प्रसार करते हैं तथा शास्त्रों की व्याख्या भी स्वेच्छाचारपरम्परापरक करते हैं और गाना भी गाते हैं।।८।।

उनके विशाल आश्रमों में प्राय दुष्टबुद्धि, कुतर्की और नाना प्रकार के पुष्टिकारक भोज्य पदार्थों से पूरिपुष्ट एवं मस्तक झटकारने वाले होते ही हैं। वहाँ कही पर दयनीय और खिन्न मन वाले सत्साधु भी रहते हैं जिनकी सुप्रभा से धूर्तगणों का भी अपराध क्षमा कर दिया जाता है।।९।।

श्रीमद्भक्ति के प्रकारों में आदरवान् होते हुए भी वे यद्यपि जनप्रिय, नानालोकों की कथाओं से परिपूर्ण वाणी का वितान करते हैं तथापि धनसंग्रह का व्यसन होने के कारण शिष्ट विद्वानों की कल्याणपरक धार्मिक वार्ता सुन ये कृपण वैसे ही भयग्रस्त होते हैं जैसे सूर्य से उल्लू।।१०।।

इनके चारों ओर निर्बुद्धि, निरस्त आदर वाले वे ही सदैव सुशोभित रहते हैं जो चाटुकारिता में सिद्धमानस होते हैं। इसके बाद भी ये त्रयी के शुभ मार्गों में रत मनुष्यों के द्वेषी बौद्धादि पाखण्डियों की अपेक्षा श्रेष्ठता की सूची में ही समाविष्ट होते हैं; क्योंकि इनका मन भगवान् की भक्ति में लगा रहता है।।११।।

इनमें बहुत से ऐसे भी होते हैं जो हमारे भारत राष्ट्र में ही विस्तृत तीर्थों में अन्तरात्मा की प्रसन्नता के लिए विचरण करते रहते हैं; क्योंकि वे धर्मभीरु होते हैं। कुछ तो नदियों के तटों पर विचरण करते हुए शुष्क तप करते हैं। यह सब देखकर मूढ मनुष्य उन्हें पर्याप्त धन भी देते हैं।।१२।।

इनके निकृष्ट मत में कपटता से परिपूर्ण, वक्र स्वभाव वाले भी केवल काषायवस्त्र धारण-रूप गुण का सेवन करने से शीघ्र ही सन्त हो जाते हैं तथा सन्तहृदय विद्वान् भी गृहस्थाश्रम-रूप दोष से सन्त नहीं होते। एवञ्च, इनकी दृष्टि में उनकी भी भक्तों में गणना होती है जिनका गर्वानल धनमद से प्रवृद्ध होता है।।१३।।

इन सज्जनों के मन में बेचारा करुणा का बिन्दु भय से आता ही नहीं है; क्योंकि ये गम्भीर विषय में भी उद्धत होकर हँसते है। इसीलिए तो प्रभु की कथा में वैसे ही व्यासों का चयन करते हैं जो होली के अवसर पर मदमस्त हुए पुरुषों की भाँति हास्य में पूर्ण कुशल होते हैं।।१४।।

इस प्रकार के महापुरुष जहाँ पवन की तरह चपल एवं अपूर्ण होकर घूमते हैं तथा हिलती हुई लम्बी जटा धारण करके स्वच्छधूर्त जहाँ आप्त शिष्टों का उपहास करते हैं और जहाँ लम्बी पङ्क्ति में बैठ कर हर प्रकार के पदार्थों का भक्षण करते हैं उसी सम्प्रदाय में पुनः पतित हुए वे पुरुष स्वेच्छा से ही प्रवेश करें।।१५।।

इस अधिकरण का प्रयोजन पूर्वपक्ष में त्रयीमार्गद्वेषियों की शाश्वत सत्ता और सिद्धान्त में उसका अभाव है।

।।इति पातित्यपेटिकायामेकोनविंशं वैष्णवेष्वारूढपतितानां कृते सम्प्रदायव्यवस्थापनाधिकरणम्।।१९।।

प्रतिष्ठा को संप्राप्त हुए, शास्त्रज्ञान से सम्पन्न पूज्यपाद श्रीमद्गुरुजनों की सम्यक् सेवा में सन्तुष्ट वह कमलाकान्तत्रिपाठी धर्मज्ञों के शुभविधिप्रदायक समय को और मीमांसा के न्यायतत्त्वों के आकलन के आनन्द को प्राप्त करके ही पातित्यपेटिका का निर्माण करके विद्वानों की सपर्या (पूजा) ही करता है।

इति श्रीमद्भार्गवगोत्रोत्पन्न, श्रीशिवगोविन्दत्रिपाठिपौत्र, श्रीउमाशङ्करत्रिपाठितनय तथा पण्डितप्रवरश्रीपट्टाभिरामशास्त्री से लब्धमीमांसाशास्त्र आचार्यपण्डितकमलाकान्त-त्रिपाठी के द्वारा प्रणीत यह पातित्यपेटिका समाप्त हुई।। इति।।